नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १४—अंक १

संपादक

श्यामसुंदरदास

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वैशाख संवत् १९९०] [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

विषय-सूची

नवीन पुस्तकों की सूचना

(१) द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १४—संवत् १९९०

संपादक

श्यामसुंदरदास

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

लेख-सूची

विषय पृ० सं०

विषय पृ० सं०

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

चौदहवाँ भाग

(१) सीता का शील-संदर्भ

[लेखक—श्री लक्ष्मीनारायण सिंह बी० ए०, काशी]

भारतीय साहित्य में आर्य ललनाओं के जो चारु चरित्र वर्णित हैं वे विश्व-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सती-साध्वी स्त्रियों की लीला-भूमि होने के कारण आज भी भारतवर्ष के कण कण पवित्र हो रहे हैं। सीता, सावित्री, दमयंती आदि पतिव्रता स्त्रियों की ज्योतिर्मयी कथाओं से स्वदेश का विशाल हृदय अनंत काल तक आलोकमय रहेगा। देश की इस पराधीन अवस्था में भी परंपरा की आर्य संस्कृति के समुज्ज्वल प्रमाण दृष्टिगत होते ही रहते हैं।

सती-शिरोमणि सीता का पावन चरित्र सती-साहित्य में अग्रगण्य है। साध्वी सीता की उदाहरणीय लोक-लीला का विशिष्ट वर्णन कर वाल्मीकि, तुलसी, कालिदास और भवभूति ने अक्षय कीर्त्ति प्राप्त की है। अभी हम देवी सीता के लोक-पावन चरित्र को लिखने नहीं बैठे हैं। हमारा तात्पर्य्य उनके शील और चरित्र की आलोचना करना है। महारानी सीता के चरित्र की विधिवत् आलोचना करने

के लिये निश्चय ही हमारे पास विद्या-बुद्धि का अभाव है, परंतु वैदेही के वंदनीय चरित्र की चर्चा कर अपनी लेखनी को पवित्र करने के लोभ का संवरण भी हम किसी प्रकार नहीं कर सकते।

हमारे पौराणिक साहित्य में देवत्व की छाया में ही मनुष्यत्व का विधान हुआ है। मनुष्यत्व की पूर्ण अभिव्यंजना देवत्व से कम नहीं। मानवता के विकास के लिये देवत्व के आदर्श को सम्मुख रखना एक विचित्र विडंबना है। मनुष्य का आदर्श मनुष्य ही हो सकता है। आदर्श के लिये देवत्व का महत्त्व कल्पना-जगत् की वस्तु के समान है। यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है कि मानव जीवन उसी श्रेणी के आदर्श को प्राप्त करता है जिस श्रेणी तक वह इस प्राकृतिक नियम की समानता को स्वीकृत करता है। अतएव मानव तर्क इस एकरूपता को प्राप्त करने का साधन है।* जिसको प्रकृति का कोई बंधन नहीं है, जो सांसारिक माया-मोह से एकांत परे है, वह किसी प्रकार भी इहलौकिक आदर्श हो सकता है—यह सर्वथा संदिग्ध बात है। जनक-नंदिनी सीता को हम देवी की तरह पूजते हैं, उनके प्रति असीम श्रद्धा रखते हैं, जीवन के विपत्ति-काल में उनके चरित्र का स्मरण कर धैर्य्य रखते हैं; यह इसलिये नहीं, कि वे एक देवी थीं; बल्कि इसलिये कि वे एक मानवी थीं और अपने अनुपम चरित्र-बल से उन्होंने मानवता की पूर्ण अभिव्यंजना की है।

आदिकवि वाल्मीकि ने जगज्जननी जानकी का चरित्र-चित्रण मानवीय दृष्टि-बिंदु से किया है। परंतु कवि के हृदय में चरित्र-

* Human life attains the ideal in the degree to which it conforms to this uniformity of natural law. Human reason, therefore, is the means of securing this uniformity.

—Development of Social Theory. pp. 59.

नायिका के प्रति अत्यंत आदर होने के कारण कहीं कहीं सीता अलौकिक सी जान पड़ती हैं। इस अलौकिकता के संबंध में हम कुछ कहना नहीं चाहते; क्योंकि यह तो मनुष्यत्व का उत्कर्ष है। मनुष्यत्व में बलपूर्वक देवत्व की प्राण-प्रतिष्ठा करना, हम मानवता का अपमान समझते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने जानकी को मानवी की तरह चित्रित करने की कोशिश की है; परंतु उनकी यह कोशिश उनके ही लायक है। देवी सीता को वह साधारण नायिका की भाँति नहीं देखना चाहते थे। यही कारण है कि जानकी के लौकिक चरित्र में पग पग पर हमें अलौकिकता के निदर्शन मिलते हैं। चरित्र-चित्रण में, यदि हम इसे दोष मानें, तो इसके दोषी महाकवि तुलसीदास नहीं, बल्कि उनकी भक्ति का आधिक्य है। रसिक-शिरोमणि कालिदास ने महादेवी सीता को निष्क्रिय रखकर रामचंद्र के साथ अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से बड़ी ऊँची कल्पनाएँ की हैं। भावुक कवि भवभूति ने परित्यक्ता जानकी को मातृ-भाव से अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाए हैं, परंतु सीता की मातृवत् पूजा कभी नहीं हुई। 'उत्तर-रामचरित' में आदि से अंत तक साध्वी सीता एक असहाया, विह्वला और पतिप्राणा पत्नी के रूप में ही देख पड़ती हैं। मातृत्व का सौभाग्य उन्हें मिला तो था, परंतु वनवास की अवधि में। इसी से उनके परिवार में मातृत्व की पूजा नहीं हुई और हमें भी आज वह रामचंद्र की साध्वी पत्नी के रूप में ही दिखाई पड़ती हैं।

प्रत्येक कवि की सीता के चरित्र का सम्यक् विश्लेषण करने से स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि आदिकवि वाल्मीकि की सीता में अपूर्व तेज और गर्व है। कवि स्वयं मर्यादा के पोषक हैं। कवि-कुल-दीपक तुलसीदास की सीता में एकनिष्ठ पत्नीत्व है और गौण रूप से सर्वत्र जगज्जननीत्व का संकेत है। कवि भक्ति के स्तंभ बने हैं। कवि-कुल-तिलक कालिदास की सीता रसिक पति की अनुरक्त प्रणयिनी हैं।

कवि रसिकता का पक्षपाती है। काव्याकाश के उज्ज्वल नक्षत्र महाकवि भवभूति की सीता पवित्र, राममयी और स्वार्थचिंता-शून्य हैं। कवि बड़े भावुक हैं।

अब महादेवी सीता के पुण्यमय चरित्र के मुख्य मुख्य अंशों की आलोचना करना है। समवाय रूप से, प्रत्येक कवि ने सीता के महत् चरित्र को जिस दृष्टिकोण से चित्रित किया है, वह पहले दिखाया जा चुका है। जानकी के समस्त जीवन का विशद वर्णन केवल वाल्मीकि और तुलसी ने ही किया है। सबके मूलाधार आदिकवि वाल्मीकि हैं और सीता के समसामयिक होने से कवि के ग्रंथ की प्रामाणिकता भी विशेष रूप से बढ़ जाती है। सीता जनक की औरस संतान नहीं थीं। वे अयोनिजा कन्या थीं। स्वयं विदेह जनक ने परिचय देने के समय कहा है—

क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा॥

—वाल्मीकीय रामायण, बालकांड।

—सीता (हल की नोक) से मैं खेत बना रहा था, उससे एक सीता नाम की कन्या उत्पन्न हुई, जो मेरी पुत्री होकर बड़ी हुई है।

मानवीय बुद्धि के लिये इस कथन की सत्यता अगम्य है। सीता का 'सीता' नाम ही इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करता है। देवी सीता इस लोक की रही हों अथवा परलोक की, हमें इससे अधिक लड़ना-झगड़ना नहीं। हम तो उनके चरित्र को विराट् नहीं, महत् देखना चाहते हैं। मर्त्यलोक की नारी में जितने गुण होने चाहिएँ, हम सीता में इससे अधिक देखने की इच्छा नहीं रखते। स्वाभाविक चरित्र ही लौकिक हो सकता है। अलौकिकता तो केवल आश्चर्य की वृद्धि करती है। सीता को हम एक विविध-गुण-संपन्न मानवी समझते हैं, अथवा कम से कम उन्हें हम

मर्त्यलोक में अवतीर्ण नारी ही समझते हैं, देवी नहीं। देवी का चरित्र हमारी आलोचना का विषय नहीं हो सकता, वह हमारे कौतुक का विषय हो सकता है। सीता को हम देवी का गौरवपूर्ण पद देते हैं, लेकिन अलौकिकता के लिये नहीं। मानवी नारी भी विशिष्ट गुण के कारण देवी कहलाती हैं। साध्वी सीता एक ऐसी ही देवी हैं। देवत्व मानवता का पूर्ण व्यंजक नहीं हो सकता। मानवता स्वयं ही महत् है। इसमें देवत्व की प्रतिष्ठा करने से इसका सर्वनाश ही हो जाता है। सीता यदि मानवी होकर देवी का दिव्य पद प्राप्त करती हैं तो उनके लिये हमारे हृदय में पर्याप्त श्रद्धा और भक्ति है; लेकिन यदि सीता देवी ही हैं तो वे हमसे बहुत दूर जाकर एक विचित्र विडंबना की वस्तु बन जाती हैं। उनके सुख-दुःख के संभव को देखकर हमारे हृदय में जो भावनाएँ उत्पन्न होंगी, वे निराधार सी प्रतीत होंगी। एक अतुल शक्ति-संपन्न देवी को कोई भी साधारण मनुष्य सहायता नहीं दे सकता। यह मानते हैं कि मानवी सीता को भी हम किसी प्रकार की स्थूल सहायता नहीं दे सकते; परंतु उनकी करुणा-पूर्ण स्थिति में हमारी अनुकंपा भावनात्मक सहायता का रूप ग्रहण करती है। गौतम-न्याय-सूत्र के भाष्यकार आनंदगिरि के अनुसार जब हमारे हृदय में कारुण्य-वृत्ति जागरित होती है और हमको उससे दुःख होता है, तब उस दुःख को दूर करने के लिये हम अन्य लोगों पर दया और उपकार किया करते हैं। पुण्यात्मा सीता के प्रति हमारे उपकार का यही स्वरूप है। जब हमें अपनेपन का स्वार्थ रहता है तभी करुणा भी आती है, अन्यथा नहीं। इसमें संदेह नहीं कि इस अपनेपन का विश्व विराट् है, संकुचित नहीं।

सीता का प्रथम दर्शन जनकपुर में ही, उनके स्वयंवर के समय, होता है। सीता के शील का वर्णन तो हम आगे करेंगे, अभी

उनके सौंदर्य का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में निम्नांकित है—

जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगट देखाई॥
सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई॥

गोस्वामीजी ने सीता देवी की सुंदरता का वर्णन कई स्थानों पर किया है, परंतु मुख्य स्थल जनकपुर ही है। प्रथम साक्षात्कार के समय ललना-सौंदर्य्य में एक दिव्य ज्योति जगमग करती है। जानकी के लावण्यमय मुख-मंडल की शोभा छवि-गृह की दीप-शिखा के समान है—यह कवि की अत्युक्ति नहीं, यथार्थ कथन हो सकता है। सीता के गौर वर्ण के वर्णन में तो कवि ने अद्भुत सादृश्य मिलाया है।

चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाय।
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हलाय॥

सीता जब अपने गले में चंपा की माला पहनती हैं, तब उस माला का रंग और उनकी देह का वर्ण एक से ही होने के कारण यह भी मालूम नहीं पड़ता कि वैदेही के गले में 'चंपक-हरवा' है। समयांतर में माला के मलिन हो जाने पर ही वह दिखाई पड़ती है। सीता की देह का वर्ण तो सदा दीप्तिमय है, उसमें मलिनता कहाँ! सीता के सौंदर्य्य के लिये कवि की इतनी पंक्तियाँ ही विशेष हैं।

इस निबंध में हम गोस्वामी तुलसीदास की रामायण के ही अधिक अवतरण उद्धृत करेंगे। वाल्मीकीय रामायण की अपेक्षा यह अधिक जनप्रिय है। गम्भीर विषय की चर्चा के समय रसिक-शिरोमणि कालिदास भी छोड़ दिए जायँगे। भावुक भवभूति की चर्चा तो इस निबंध के उत्तरार्द्ध में होगी। सीता के चरित्र को निष्कलंक रखने के लिये सबसे अधिक गोस्वामी तुलसीदास ही सतर्क हैं। अपनी सहेलियों के साथ जानकी गौरी-पूजा के लिये वाटिका में जाती हैं और मंदिर में गौरी की मूर्ति के सम्मुख

खड़ी होकर सुयोग्य वर की कामना करती हैं। अपनी गुँथी हुई माला को उमा के गले में पहनाते समय सहसा उन्हें अपने कुमारी-व्रत की याद आती है। पार्वतीजी शिवजी में अर्द्धांगिनी रूप से हैं; दोनों के स्वरूप अभिन्न हैं। गौरी के गले में माला डालना शिवजी से दूर रहना नहीं है। ऐसी अवस्था में जानकी संकोच में आकर ठिठक जाती हैं।

अपने व्रत से स्खलित होने का इतना सा भय भी सीता के ही योग्य है। अन्य स्त्रियाँ तो शिव को देवता मानकर उनके गले में निस्संकोच माला डाल देतीं, परंतु भगवती सीता को अपने व्रत के सम्मुख देवत्व का यह सम्मान भी मान्य नहीं है। वर की कामना करते समय अर्द्धांग शिव के गले में माला डालना अपने व्रत को तोड़ना है। देवी सीता अपनी इस स्थिति से पूर्ण परिचित थीं और विवाह की नई उमंग ने उनकी चेतना-शक्ति को लुप्त नहीं कर दिया था।

आँखों की मौन भाषा से ही रामचंद्र और जानकी के प्रणय का भाव-विनिमय वाटिका में ही हो गया। रामचंद्र ने अपने भाव-परिवर्त्तन के लिये रघुवंश की मर्यादा का गान किया है। सीता की शालीनता में दोष तो क्या, उसका चिह्न भी नहीं है। जितनी बातें हैं, सब मर्यादा के भीतर ही हुई हैं। थोड़ी सी चपलता है, वह तो प्रत्येक ललना के जीवित रहने का चिह्न है। विस्मय और आनंद ही तो जीवन के स्तंभ हैं। संसार की नवीनता से, कौतुक से, आश्चर्य से, थोड़ा सा अल्हड़पन भी है, पर वह गंभीरता के आवरण में छिपा हुआ है।

धनुष-यज्ञ में मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र को बार बार निहारकर जानकी ईश्वर से बड़ी प्रार्थना करती हैं, जिससे धनुष सहज में ही टूट जाय; अन्यथा उनके मनोनीत पति के वरण में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। जानकी एक बार श्यामसुंदर राम के कोमल शरीर

को देखती हैं और दूसरी बार शिवजी के कठिन धनुष को। धनुष-भंग की प्रतिज्ञा के लिये वे अपने पिता जनक को भी कोसती हैं—

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु-पन सुमिरि बहुरि मन छोभा॥
अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध-समाज बड़ अनुचित होई॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ श्यामल मृदुगात किसोरा॥

सीता की इस आत्म-चिंतना में जनक का अपमान नहीं है। सीता के हृदय में प्रेम-जन्य क्षोभ हो गया है। परीक्षा-काल में सबके हृदय में ऐसी भावनाएँ द्वंद्व करती हैं। जिस पुरुष के साथ सीता का ग्रंथि-बंधन होने जा रहा है उसके प्रति यदि सीता के हृदय में इतनी शुभ-चिंतना भी न हो तो ऐसा हृदय ही किस काम का! अंत में रामचंद्र ने धनुष तोड़ ही दिया।

अब सीताजी के विवाह में वय-निरूपण का जटिल प्रश्न सम्मुख आता है। इस स्थल पर आदिकवि वाल्मीकि की शरण ही जाना पड़ेगा; क्योंकि गोस्वामीजी को रामचंद्र की किशोरावस्था ही अच्छी मालूम पड़ती है और सीताजी को भी 'बधू लरकिनी' के रूप में ही देखना वे अच्छा समझते हैं। इस रुचि-वैचित्र्य से सत्य की हत्या होती है और बाल-विवाह का प्रतिपादन हो जाता है। कविवर तुलसीदास को छोड़कर आदिकवि वाल्मीकि ने भी अवस्था-क्रम में कई स्थानों पर फेर-फार कर दिया है। कहीं रामचंद्र युवक हैं, तो कहीं किशोर ही। इस प्रकार के वर्णन बहुत हैं। हम सत्य के साथ इसका कोई संबंध नहीं मानते। काव्य के उत्कर्ष के लिये यौवन को छोड़कर कविगण प्रायः कैशोरावस्था का ही वर्णन करते हैं। प्रमाण के लिये कुछ उद्धृत करना अनावश्यक रीति से निबंध को बढ़ाना ही होगा, अतः इस ओर अधिक ध्यान न देकर हम रामचंद्र और सीता के वैवाहिक वय-निरूपण पर ही प्रकाश डालेंगे।

रामायणीय आधार पर ही कहा जाता है कि विवाह-काल में रामचंद्र की अवस्था १५ वर्ष की और जानकी की अवस्था ६ वर्ष की थी। यदि यह बात सत्य प्रमाणित हो जाय, तो फिर यह बाल-विवाह ही सिद्ध हो जाता है। पौराणिक वर्ष-गणना में हम अधिक विश्वास नहीं रखते। वर्ष-गणना का प्रवेश यदि किसी काव्य में हो गया तो उसकी जटिलता दूनी बढ़ जाती है। यही जटिलता यहाँ भी है। विवाह के बाद अयोध्या जाने पर महाराजा दशरथ के मुँह से गोस्वामी तुलसीदास ने कहलवाया है—

बधू लरकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन-पलक की नाईं॥

× × ×

सुंदरि बधुन सास लै सोईं। फणिपति जिमि सिर मणि उर गोईं॥

महाराज के कहने पर कौशल्या आदि रानियों ने अपनी अपनी पुत्र-बधू को बड़े स्नेह से साथ ही सुलाया। कहने का तात्पर्य्य यह है कि विवाह-काल में सीता आदि पुत्र-बधुएँ इतनी बड़ी नहीं थीं कि वे सब अपने अपने पति के साथ सोवें। इसी लिये महात्मा तुलसीदास ने उन्हें सासुओं के संग ही सुलाया। गोस्वामीजी की कई चौपाइयों से कहीं कहीं रामचंद्र की युवावस्था की गंध आती है, परंतु कविवर ने बलपूर्वक किशोरावस्था की कांति से ही अपने हृदय को संतुष्ट रखा। इस स्थान पर यदि रामचंद्र और सीता एक ही साथ सोते, तो दो बातों का प्रतिपादन होता। एक तो रामचंद्र और सीता के यौवन-काल का निश्चय होता; दूसरे बालक-बालिका होने पर कामुकता का दोषारोपण होता। इसलिये गोस्वामीजी दोनों ओर से बचकर बीच ही बीच पार हो गए हैं।

आदिकवि वाल्मीकि ने इसके विपरीत लिखा है—

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन्।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा॥

रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः।
कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥
—वाल्मीकीय रामायण, बालकांड।

उन राजकन्याओं ने शीघ्रता-पूर्वक सब देव-स्थानों की पूजा की तथा पूजनीयों को प्रणाम किया। फिर वे सब अपने अपने पति के साथ प्रसन्नता-पूर्वक रहने लगीं। विवाह होने के बाद अस्त्र-निपुण, धनवान् वे राजकुमार भी प्रसन्न रहने लगे।

उपर्युक्त कथन से उन लोगों की युवावस्था का कुछ पता अवश्य मिलता है। सच तो यह है कि यदि सीता केवल ६ वर्ष की दुधमुँही बच्ची थीं, तो जनक को उनके स्वयंवर की इतनी चिंता क्यों थी ? दुष्ट-तोष न्याय से थोड़ी देर के लिये यह बात मान लेने पर भी दूसरा जटिल प्रश्न सामने आता है। सीता अपनी सब बहिनों से बड़ी थीं। कुशध्वज की कन्याएँ भी छोटी थीं। बड़ी की अवस्था केवल ६ वर्ष की है, अतएव छोटी बहिनों की अवस्थाएँ न्यूनतर होंगी। इस प्रकार सबसे छोटी श्रुतकीर्त्ति की अवस्था १-२ वर्ष से अधिक किसी प्रकार नहीं हो सकती। इतनी छोटी बच्ची अपनी माँ को छोड़कर सुसराल में कैसे रह सकती है, यह तनिक विचारने की बात है।

विवाह के पहले मुनिवर वशिष्ठ तथा विश्वामित्र ने चारों भाइयों की युवावस्था का परिचय दिया है। समान वय न होने पर भी चारों युवक हो सकते हैं; क्योंकि यौवन की एक निश्चित तिथि नहीं है। इतनी बात अवश्य मान लेनी होगी कि चारों भाइयों के विवाह २५ वर्ष की अवस्था में नहीं हुए। हमें यहाँ केवल सीता की वैवाहिक अवस्था का निरूपण करना है। वनवास की अवधि में जब रावण परिव्राजक के वेश में साध्वी सीता के निकट आया है, तब उसके पूछने पर सीतादेवी ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामस्य महिषी प्रिया॥
उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी॥
तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः॥

× × ×

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः।
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥

× × ×

अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम्।
कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच द्रुतं वचः॥

वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकांड।

—मिथिला देश के राजा महात्मा जनक की मैं कन्या हूँ। मेरा नाम सीता है और मैं रामचंद्र की प्रिय महारानी हूँ। मैं बारह वर्षों तक इक्ष्वाकुओं के घर में रही। वहाँ मनुष्यों को प्राप्त होनेवाले सब सुख-भोग मैंने किए, मेरे सब मनोरथ पूरे हुए। तेरहवें वर्ष के प्रारंभ में राजमंत्रियों से सलाह कर राजा ने रामचंद्र का अभिषेक करना निश्चित किया।

× × ×

मेरे महातेजस्वी पति की अवस्था २५ वर्ष की, और मैं १८ वर्ष की थी।

× × ×

जब रामचंद्रजी अपने पिता के यहाँ अभिषेक के लिये आए, तब कैकेयी ने शीघ्रता-पूर्वक मेरे पति से यह बात कही।

उल्लिखित अवतरणों से भी सत्य का यथार्थ दर्शन नहीं हो सकता। एक समालोचक महाशय ने तो खींच-तानकर अपना मतलब निकाल लिया है, परंतु सच्चा वय-निरूपण नहीं हो सका। रावण से महाभागा सीता ने अभिषेक-काल में अपनी अवस्था १८ वर्ष की बताई है। लेकिन इतने से ही काम बनता नहीं। विवाह के बाद १२ वर्ष के सुख-भोग के उपरांत अभिषेक की तैयारी हुई थी। इस प्रकार १८ वर्ष में १२ वर्ष घटा देने पर ६ वर्ष ही निकलता है, और 'पुनर्मूषिको भव' की कहावत चरितार्थ होती है। यदि सीता के वचन को वर्त्तमान काल में रखकर वय-निरूपण करें, तो और भी बड़ी जटिलता सामने आती है। सीता-हरण वनवास के तेरहवें वर्ष में हुआ था। इसी समय रावण से वार्त्तालाप भी हुआ था; अतः १२ वर्ष वनवास के और १२ वर्ष अयोध्या-वास के, दोनों मिलकर २४ वर्ष हुए। इस तरह सीता के जन्म-काल में ही ६ वर्ष की कमी पड़ जाती है। यह पौराणिक वर्ष-गणना के चक्कर का भूल-भूलैया है। यदि उस वर्ष-गणना को विवाह-काल की अवस्था समझें तो हो सकता है।

एक स्थान पर वन-गमन के समय सीता अपने पति रामचंद्र से कहती हैं—

> स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम्।
> शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि॥
>
> —वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड।

हे राम! जो सती है, जो आपके साथ बहुत दिनों तक रह चुकी है, बाल्यावस्था में ही जिसके साथ आपका विवाह हुआ है, उस स्त्री को आप नट के समान दूसरे को देना चाहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास को पीछे छोड़कर हम आदिकवि वाल्मीकि की आशा पर ही आगे बढ़े थे, परंतु यहाँ भी बार-बार बाल-विवाह

का ही प्रतिपादन होता है। इसमें संदेह नहीं कि सीता विवाह-काल में छोटी बच्ची नहीं थीं। वह सज्ञान थीं अवश्य, परंतु वैवाहिक वय का भी निश्चित पता नहीं लगता है। ६ वर्ष की अबोध बालिका में पति का अनुराग भरना सत्य का गला घोंटना है।

गोस्वामी तुलसीदास को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। महाराज दशरथ ने अपनी पुत्र-वधुओं को बड़े लाड़-प्यार से गोद में भी लिया है—

लिए गोद करि मोद समेता। को कहि सकै भयउ सुख जेता॥
बधुन्ह सप्रेम गोद बैठारीं। बार बार हिय हरषि दुलारीं॥

हमारे अनेक उद्धरणों से यही पता लगेगा कि सीता का विवाह बाल्यावस्था में ही हुआ था। बात अवश्य ही कुछ दूसरी है। पौराणिक वर्ष-गणना में हमें अधिक विश्वास नहीं। कविश्रेष्ठ तुलसीदास छोटी अवस्था में ही देवत्व का प्रभुत्व दिखाने के बड़े आदी हैं। रामायण को ऐतिहासिक ग्रंथ का नहीं, बल्कि भक्ति-काव्य का ही रूप उन्होंने दिया है। हम रामायण में इतिहास की बारीकियाँ नहीं खोजते; क्योंकि हम जानते हैं कि इस कार्य में निराश होना पड़ेगा। फिर भी हम सत्य के स्पष्ट स्वरूप को भक्ति के आवरण में छिपा रखना न्याय-संगत नहीं समझते। इसी प्रसंग में सीता के वर्णन में ही एक स्थान पर महात्मा की लेखनी ने लिख दिया—

जौं पटतरिय तीय महँ सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया॥

इससे तो पता चलता है कि सीता एक बालिका नहीं, युवती थीं। इस पंक्ति को छोड़कर अन्य कई पंक्तियों से सीता के यौवन की ध्वनि ही निकलती है। बाबा वाल्मीकि ने भी केवल वर्ष-गणना में अंतर रखकर वर्णन में यौवन का भाव ही दिखाया है। रामचंद्र और लक्ष्मण को देखकर विश्वामित्र से जनक पूछते हैं—

गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥
वरायुधधरौ वीरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
—वाल्मीकीय रामायण, बालकांड ।

रामचंद्र और लक्ष्मण के इस 'समुपस्थितयौवनौ' से क्या बोध होता है ? पंद्रह वर्ष के बालक के लिये, यदि 'समुपस्थितयौवनौ' का प्रयोग किया जाय, तो कवि की बलिहारी है। इतना ही नहीं, भरत और शत्रुघ्न तो रामचंद्र से छोटे थे। इनके विषय में महामुनि वशिष्ठ से परामर्श लेकर विश्वामित्र विदेह जनक से बोले—

भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः ।
वरये ते सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः ॥
पुत्राः दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः ।
लोकपालसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ॥
वाल्मीकीय रामायण, बालकांड ।

—हे राजन्, कुमार भरत और शत्रुघ्न के लिये हम लोग आपकी उन दोनों कन्याओं को (राजा कुशध्वज की पुत्रियाँ—मांडवी और श्रुतिकीर्त्ति) माँगते हैं। ये सुंदर और युवा पुत्र राजा दशरथ के हैं। ये लोकपालों के समान तेजस्वी और देवताओं के समान पराक्रमी हैं।

बुद्धि के सहयोग से विचार करने पर यह निश्चित हो जाता है कि विवाह-काल में रामचंद्र बालक नहीं थे। जब उनके दोनों छोटे भाई ही युवा हैं, तब वे किस प्रकार बालक बने रहेंगे ? सीता का विवाह किसी प्रकार भी बाल्यावस्था में नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में हम पीछे भी कुछ लिख चुके हैं। ज्ञात-यौवना नायिका के जितने भी काव्यगत लक्षण हैं, प्रायः सभी लक्षण वैदेही के वर्णन में हमें मिल जाते हैं। ऐसी दशा में, सीता का बाल-विवाह

मान लेना बुद्धि के साथ वैर ठानना है। महात्मा तुलसीदास ने 'स्वान्तःसुखाय' ही लिखा है कि महाराज दशरथ अपनी पुत्र-वधुओं को गोद में बिठाकर प्यार करने लगे। यह स्थूल सत्य नहीं है, परन्तु इसमें भावनात्मक सत्यता बहुत अधिक है। कौशल्या आदि ने भी बहुओं को अपने पास हृदय से सटाकर सुलाया है। इस कथन को भी हम झूठ नहीं मानते, लेकिन उपर्युक्त रीति से ही। गोस्वामीजी ने तात्कालिक पारिवारिक जीवन पर एक प्रकाश डाला है और साथ ही एक आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, जिससे प्रत्येक घर में पुत्र-वधुओं का ऐसा ही सम्मान हो। इस लाड़-प्यार से साध्वी सीता की सरलता, शुचिता और सुंदरता ही झलकती है। कवि का मंतव्य भी यही है।

गोस्वामी तुलसीदास तो यहीं तक रहे, लेकिन आदिकवि वाल्मीकि ने हमारे भ्रम को दूर कर दिया है। अत्रि मुनि के आश्रम में अनसूया और सीता से जो संवाद हुआ है, वह विवाह की योग्य अवस्था पर स्पष्ट प्रकाश डालता है। अनसूया के पूछने पर सीता ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया—मैं धर्मात्मा जनक की पुत्री हूँ। जब वे खेत में हल जोत रहे थे उसी समय मैं उत्पन्न हुई। मुझे पाने पर वे बड़े प्रसन्न हुए। और मुझे उन्होंने अपनी बड़ी रानी को सौंप दिया। मातृ-प्रेम से, स्नेह से उन्होंने मेरा पालन किया। पति के साथ रहने की मेरी अवस्था देखकर मेरे पिता बहुत ही दुखी और चिंतित हुए, जिस प्रकार दरिद्र धन के नाश से चिंतित और दुखी होता है*। उसके बाद बहुत सोच-विचारकर पिता जनक ने धनुष-यज्ञ किया और महाद्युति रामचंद्र ने धनुष तोड़कर मुझे जीत

---

* पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यागमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः॥
—वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड।

लिया। उनके साथ ही मेरा विवाह हुआ। अब मैं उनके पूज्य चरणों की ही अनुरागिनी हूँ।

सीता के आत्मपरिचय से साफ मालूम होता है कि उनका विवाह बाल्यावस्था में नहीं, बल्कि पति के साथ रहने की अवस्था होने पर ही हुआ था। 'पति-संयोग-सुलभ वय' १६-१८ से कम नहीं हो सकती है। ऐसी अवस्था में, सम्भव है, सीता के विवाह की यही उमर हो। युक्ति और तर्क की संगति से भी सीता का बाल-विवाह प्रमाणित नहीं होता।

विवाह के उपरांत देवी सीता अयोध्या आईं और अपने विशिष्ट गुणों से सबको उन्होंने प्रसन्न किया। कुछ दिनों के बाद रामचंद्र के राज्याभिषेक के समय कुटिला मंथरा से प्रभावित होकर विमाता कैकेयी ने महाराज दशरथ से अपने पुत्र भरत के लिये अयोध्या का राजसिंहासन और रामचंद्र के लिये चौदह वर्ष का वनवास माँगा। प्रतिज्ञाधीन होने के कारण महाराज दशरथ इससे विचलित नहीं हो सकते थे। सरला सीता पर अकस्मात् वज्र-पात हुआ। अपने प्राण-प्रिय पति का वन-गमन सुनकर उन्हें अपार दुःख हुआ; परंतु उनमें शालीनता का भाव, जो अभी देख पड़ता है, अपूर्व है, नारी-जगत् के अभिमान की वस्तु है। अन्य स्त्रियाँ इस समय कैकेयी की सभी दशाएँ अपने वाग्बाणों से पूरी कर देतीं; परंतु सीता के मुख से कैकेयी के प्रति एक शब्द भी ऐसा नहीं निकला। उन्होंने इस वनवास के लिये अपने अदृष्ट को ही दोषी बनाया। दूसरे पर तनिक भी क्षोभ नहीं—रोष नहीं। उनके हृदय में वही स्नेह, वही आदर और वही पूजा वर्तमान थी।

माता कौशल्या को जब यह दुःखद समाचार मालूम हुआ, तब वे बड़ी दुखी हुईं। रामचंद्र और सीता के सुकोमल स्वरूप को निहारकर वे कहती हैं—

जो केवल पितु-आयसु ताता। तो जनि जाहु जानि बड़ि माता॥

कौशल्या के कथन का तात्पर्य यह है कि पिता से माता का पद* बड़ा है, अतः तुम अयोध्या में ही रहो। सीता भी यहीं रहेंगी। रामचंद्र ने विमाता कैकेयी का अभिप्राय बताया। कैकेयी का अभिप्राय जानकर कौशल्या ने अपने रामचंद्र को वन-गमन की आज्ञा दी, परंतु उनसे कहा कि तुम सीता को यहीं रहने के लिये कहो। विह्वला वैदेही को रामचंद्र वन के भयंकर दृश्यों का वर्णन सुनाने लगे—

कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम हिम बारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहि बिनु पदत्राना॥
चरन-कमल मृदु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥
कंदर खोह नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरज भागा॥

भूमि-सयन बलकल-बसन, असन कंद-फल-मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, समय समय अनुकूल॥

साध्वी सीता ने वन के भयंकर दृश्यों का वर्णन बड़े ध्यान से सुना; लेकिन उनकी अटल पतिभक्ति के कारण मुख पर भय का कोई चिह्न अंकित नहीं हुआ। पति के पूज्य चरणों के समीप रहकर उन्हें न तो भूख लगेगी और न प्यास। जंगल का भयावना दृश्य तो कोई चीज ही नहीं है। पतिप्राणा सीता अपने प्राणपति रामचंद्र के बिना संसार में रह नहीं सकतीं। वन के भयंकर से भयंकर दृश्य भी सुकुमारी सीता के अटल पतिप्रेम को डिगा नहीं सकते।

---

* धर्मशास्त्र में लिखा है—

पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।
मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा॥

पिता से दसगुनी अधिक माता मान्य है। धर्मभीरु व्यक्ति माता से भी दसगुना अधिक विमाता का मान करते हैं।

यह वही सीता हैं, जो 'चित्र-लिखित कपि देखि डराती' हैं, परंतु हृदय के भय पर पति-प्रेम का अधिकार है।

रामचंद्र के बार बार मना करने पर भी वैदेही अपने हठ पर दृढ़ रहीं। यों तो साध्वी सीता अपने प्राणनाथ रामचंद्र की बातें अवश्य मान लेतीं और उनके साथ वन न जातीं; लेकिन यहाँ की परिस्थिति ही दूसरी है। रामचंद्र जानकी को साथ वन ले जाने के अनिच्छुक नहीं हैं। वह केवल जानकी की सुकुमारता देखकर ही वन ले जाने से हिचकते हैं। ऐसी सुकुमारता से सीता को घोर घृणा है, जो पति-वियोग का कारण बने। वे पति के सुख में अपना सुख और दुःख में अपना दुःख खोजती हैं। पति के संयोग का महत्त्व संसार के किसी भी बड़े सुख से अधिक है। परवर्ती साहित्य में एक ऐसा ही सुंदर दृष्टांत है। महाभारत के वनपर्व में सत्यभामा से द्रौपदी कहती हैं—'सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि'—सुख से सुख प्राप्त नहीं होता, साध्वी स्त्री को सुख-प्राप्ति के लिये कष्ट सहना पड़ता है। भगवती सीता इस कथन के महत्त्व को बहुत पहले से ही जानती थीं; इसी लिये बहुत मना करने पर भी उन्होंने नम्रता-पूर्वक अपने पतिदेव को यह उत्तर दिया है—

दीन्ह प्रानपति मोहिं सिख सोई। जेहि बिधि मोर परम हित होई॥
मैं पुनि समुझि दीख मन माहीं। पिय-बियोग-सम दुख जग नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद-बिमल-बिधु-बदन निहारे॥
मोहिं मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन-सरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग-जनित सकल स्रम हरिहौं॥

सीता ने वन जाने के लिये बड़ी प्रार्थना की; परंतु रामचंद्र सुलोचना सीता के कोमल कांतिमय शरीर को देखकर और वन के

भयंकर दृश्यों की कल्पना कर उनकी प्रार्थना से सहमत नहीं हुए। जानकी का नारी-तेज भी जाग उठा। वे रामचंद्र से मीठा व्यंग्य बोलीं—

को प्रभु-सँग मोहिं चितवनहारा। सिंह-बधुहिं जिमि ससक सियारा॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहिं उचित तपु मोकहँ भोगू॥

सीता समझती हैं, रामचंद्र मुझे इसलिये साथ ले जाना नहीं चाहते कि मैं वन में उनका भार न बन जाऊँ। इसी लिये उन्होंने यह व्यंग्य किया है, जिससे रामचंद्र को अपने पुरुषार्थ की कमी मालूम हो। पति-संगिनी पत्नी के सतीत्व पर यदि कोई कुदृष्टि डाले और वह जीवित बच जाय, तो पति के लिये यह बड़ी लज्जा का विषय है। सीताजी का यही संकेत है। फिर वे कहती हैं कि मैं सुकुमारी होने के कारण वनवास के योग्य नहीं हूँ; लेकिन आप कैसे इस असामयिक तपस्या के योग्य हैं? जिस प्रकार आप मुझे सुकुमारी कहते हैं, उसी प्रकार आप भी तो सुकुमार हैं। आदि-कवि वाल्मीकि की सीता ने रामचंद्र की बड़ी भर्त्सना की है। वे कहती हैं—

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम्॥
अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद्यदि वक्ष्यति।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे॥
किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते।
यत्परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम्॥

—वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकांड।

—मेरे पिता मिथिलाधिप राजा जनक ने आपको पुरुष-शरीर-धारी स्त्री नहीं समझा था; अतएव उन्होंने आपको अपना दामाद बनाया। यदि आप अपने साथ मुझे वन न ले जायँगे, तो न ले जाने

का यथार्थ कारण न जानने के हेतु सूर्य के समान तेजस्वी होने पर भी आपके लिये लोग यही कहेंगे कि रामचंद्र में पराक्रम नहीं है, यद्यपि यह बात सत्य नहीं है। आप क्या सोचकर दुखी हो रहे हैं, अथवा आपको किसका भय है, जिस कारण केवल आपका ही पल्ला पकड़कर जीनेवाली मुझको परित्याग कर रहे हैं?

सीता के व्यंग्य की मार से रामचंद्र को बड़ी लज्जा हुई। मनोविज्ञान का यह एक सिद्धांत है कि पुरुष की भर्त्सना से मनुष्य को क्रोध होता है, लेकिन स्त्री की भर्त्सना से वह लज्जित हो जाता है। रामचंद्र को लाचार होकर अपनी प्राण-स्वरूपा सीता की प्रार्थना माननी ही पड़ी। सती स्त्री को पति का वियोग सह्य नहीं हो सकता है। वह अपने पति के हृदय-मंदिर से बाहर नहीं रहना चाहती है। स्त्री-पुरुष के स्वभाव की यह विलक्षणता है कि पुरुष अपने हृदय में ही स्त्री को रखना चाहता है। वह अपनी स्त्री के हृदय में घुसकर रहना नहीं चाहता। उसी प्रकार स्त्री भी अपने हृदय में पुरुष को रखना नहीं चाहती; वह पुरुष के हृदय में ही अपने लिये स्थान चाहती है। महाभागा जानकी अपने स्थूल अस्तित्व को भी पति से दूर रखना नहीं चाहतीं। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी से जो संवाद हुआ है, उसमें भी इसी युक्तिवाद का उपयोग किया गया है। पत्नी के पूछने पर ऋषिवर याज्ञवल्क्य ने कहा है—पत्नी अपने पति को, पति के लिये ही, नहीं चाहती; किंतु वह अपनी आत्मा के लिये उसे चाहती है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' अपनी आत्मा की अनुकूलता सबको अच्छी लगती है। साध्वी सीता अपने पति में डूबी हुई हैं। वनगमन की आज्ञा माँग लेने पर ही हम उनकी प्रशंसा नहीं कर सकते; लेकिन जिस विचित्र परिस्थिति में रहकर उन्होंने वन के भयंकर कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करने की इच्छा प्रकट की है, वह

सर्वथा स्तुत्य है। ऐसे ही स्थान पर चरित्र का उत्कर्ष होता है। दृढ़ और संपन्न चरित्र-गठन की सफलता विशेषतः हमारे अपने काम करने की विधि पर ही निर्भर रहती है, न कि हमारे काम के प्रकार पर*।

पतिदेव से तो वन-गमन की आज्ञा मिल गई, लेकिन श्वशुरदेव ने सीता को वन जाने से मना किया। शिष्टता से संकोचवश सीता मौन रहीं। उनको वे उत्तर ही क्या दे सकतीं! पति का साथ छोड़ना तो उन्हें प्राण त्यागने के बराबर ही है। सुख के दिनों में सभी साथ रहते हैं; किंतु दुःख के दिनों में यह बात सर्वदा सत्य नहीं रहती। यदि जानकी अपने पति के विपत्ति-काल में साथ न रहतीं, तो महात्मा तुलसीदास का यह पद—

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।
आपदकाल परखिए चारी॥

—कैसे सत्य प्रमाणित होता? यशस्विनी सीता किसी प्रकार भी पति-वियोग सहने के लिये तैयार नहीं हुईं। उन्होंने भारतीय नारी-जाति की मर्यादा को स्थिर रखा। अपनी इच्छा में तनिक भी परिवर्त्तन का चिह्न तक उन्होंने आने नहीं दिया। हृदय की इसी भावना से चरित्र की पहचान होती है। जिसे जिस वस्तु की वास्तविक इच्छा होती है, वही उसके तदनुकूल चरित्र का प्रतिबिंब है†।

---

* ......our success in building up a strong, rich character depends much more on how we do our work than upon what we do.

—Character and Will.

† What one really desires is the best possible index of the sort of character one really possesses.

—Psychology.

रामचंद्र के वन-गमन में साथ होना साध्वी सीता की पति-दुःख-कातरता ही प्रकट करता है। पति के दुःख में अपने सुख को भूल जानेवाली सीता के सम्मुख किसका मस्तक न झुकेगा! यूनान के प्रसिद्ध सुखवादी दर्शनशास्त्रज्ञ एपीक्यूरस (Epicurus) के अनुसार सुख और सत्क्रिया एक ही अर्थ रखती हैं। बुद्धि और सत्यता के बिना सुख से रहना असंभव है और सुख के बिना बुद्धि और सत्यता से रहना भी असंभव है। इस पूर्वापर-संबद्ध कथन में काफी यथार्थता है।

वन-यात्रा के समय का दृश्य तो बड़ा ही हृदय-स्पर्शी है। रामचंद्र और लक्ष्मण ने अपने अपने पतले वस्त्रों को उतारकर मोटे वल्कल पहन लिए। पीतांबर पहननेवाली सीता अपने पहनने के लिये वल्कल वस्त्र को देखकर बड़ी भयभीत हुईं। पतिव्रता जानकी ने कैकेयी के हाथ से वल्कल वस्त्र ले लिया। वल्कल अपने हाथ में लेकर वे बड़ी दुःखित और लज्जित हुईं। सुख और आनंद की गोद में पली जानकी को वल्कल वस्त्र पहनना भी न आता था। उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। वनवासी मुनि किस प्रकार वल्कल पहनते हैं, वे यह नहीं जानती थीं। एक चीर को उन्होंने कंधे पर रख लिया और दूसरे को हाथ में लेकर वे सभीत चकित होकर रामचंद्र से बोलीं—वनवासी मुनि वल्कल को कैसे पहनते हैं?

सीता की ऐसी दशा देखकर स्वयं रामचंद्र ने पीतांबर के ऊपर से वल्कल बाँध दिया*। सीता जंगली जीवन के अनुभव से बिल्कुल कोरी हैं, लेकिन अपने पति के लिये वे किसी भी विपत्ति का सामना हँसती हुई कर सकती हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भी वन-यात्रा का करुण चित्र खींचा है; लेकिन वह आदि-कवि वाल्मीकि

---

* वाल्मीकीयरामायणे सप्तत्रिंशः सर्गः, अयोध्याकांडम्।

की तरह करुणोत्पादक नहीं है। जनक-नंदिनी सीता की इस सरलता पर कठोर मनुष्य की आँखों से भी आँसू टपक पड़ेगा ! जो सीता केवल सुख-भोग के लिये हो एक राजवंश में उत्पन्न हुई थीं, उन्हीं की यह करुणा-पूर्ण दशा देखकर किसकी छाती दुःख से नहीं फटेगी ? सीता को अपने दुःख पर विचार करने का समय ही नहीं है, वे तो अपने प्राणपति की हितचिंतना में ही पगी रहती हैं ? ऐसे ऐसे स्थल पर सीता का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल मालूम पड़ता है। अच्छे का महत्त्व विपरीत शक्तियों के द्वंद्व से विशेष उद्भासित हो जाता है। पुण्य का आदर्श, प्रत्येक आवेग-जनित परिणाम के सदृश, अपने विरोधी के वैपरीत्य से बृहत्तर और महत्तर हो जाता है* ।

वन-यात्रा के समय स्नेहवश कुछ दूर तक बहुत से लोग साथ गए। अयोध्या की सीमा के बाद से वनवासी होने के कारण रामचंद्र, लक्ष्मण और सुकुमारी सीता को पैदल ही चलना पड़ा। पति-प्रेम के आवेग में वनवास के कष्टों पर उनका ध्यान ही नहीं गया था। अब कुछ ही दूर पैदल चलने पर उन्हें वनवासिनी बनने का दुःख मालूम पड़ने लगा। गोस्वामी तुलसीदास की सहृदय लेखनी ने करुणा की धारा सी बहा दी है—

पुर तें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
× × × × × ॥

---

* The value of the good is enhanced by the struggle of the conflicting forces. The idea of virtue, like every emotional product, grows greater and richer by contrast with its opposite.

—Religion and Morality.

दो पग चलने पर ही सुकुमारी सीता के भाल पर पसीना छलक उठा! इतनी दूर पर ही वे पूछती हैं कि पर्णकुटी बनाकर कहाँ विश्राम लीजिएगा। कोमलांगिनी कुलकमला सीता का यह साहस अपूर्व है। उन्हें थकावट जरूर मालूम हुई, क्योंकि पैदल चलने का कभी अभ्यास नहीं था, परंतु इतने से उन्होंने अपने निश्चय पर पश्चात्ताप नहीं प्रकट किया। पति के संग होने के कारण उन्हें इस आधिदैविक दुःख की चिंता कभी नहीं हुई। पति का संग तो वे चाहती ही थीं। अनुकूलवेदनीयं सुखम्—अपनी अनुकूलता से वे सुख का ही अनुभव कर रही थीं। दुःख तो उन्हें तब होता, जब कोई काम उनकी इच्छा के प्रतिकूल होता।

रास्ते में चलते समय भी पतिप्राणा सीता को अपने पतिदेव की पाद-पूजा पर यथेष्ट ध्यान रहता है। आगे आगे रामचंद्र के चलने से मार्ग में जो चरण-चिह्न पड़ते हैं, उन पर भी अपना पैर रखने से सीता को धर्म-भय मालूम होता है। तब—

युग पद-रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मगु चलति सभीता॥

—रामचंद्र के दोनों पूज्य चरण-चिह्नों के बीच में जो स्थान खाली रहता है, उसी पर सशंक होकर वे अपना पैर रखती हैं। ऐसी पतिभक्ति सर्वथा अलौकिक है। भगवती सीता ही पति-प्रेम की परीक्षा में सफल हो सकती हैं। भारतीय सती-साहित्य में ऐसा चरित्र बिरला ही है। एक तो वन-गमन में पति का साथ देना ही सीता जैसी सुकुमारी पत्नी के लिये बहुत कहा जा सकता है, दूसरे पति के पूज्य चरण-चिह्न पर भूल से भी अपना पैर रखना वे बड़ी धृष्टता समझती हैं। धन्य है यह पातिव्रत!

मार्ग में रामचंद्र, लक्ष्मण और जानकी की शोभा निहारने के लिये झुंड की झुंड स्त्रियाँ आती हैं। सुंदरी सुकुमारी सीता को देखकर

उन लोगों को बड़ा ही आह्लाद-मिश्रित विस्मय होता है। सीता के सरस संलाप को सुनने के लिये वे सब परस्पर—

धरि धीर कहैं, चलु देखिय जाइ जहाँ सजनी! रजनी रहिहैं।
सुख पाइहैं कान सुने बतिया कल आपुस में कछु पै कहिहैं॥

सीता में इतना आकर्षण है कि ग्राम्य स्त्रियाँ उनका साथ ही नहीं छोड़ना चाहतीं। जहाँ सीता जायँगी, वहाँ तक जाने को वे सब तैयार हैं। वैदेही की मीठी बातों को सुनकर वे सब निश्चय ही अपने कर्ण-पुट को तृप्त करेंगी। मार्ग में ही—

सादर बारहिं बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्राम-बधू सिय सों "कहौ साँवरे से सखि रावरे को हैं?"

अंत में अपने कर्ण-पुट को सीता के मधुर वचन से तृप्त करने को वे सब तुल ही पड़ीं। वे सब कहती हैं—'चितै तुम त्यौं हमरो मन मोहैं'। यह वाक्य बड़ा ही भाव-व्यंजक है। सीता 'छिनु छिनु चरन-सरोज निहारी' को अब तक भूली नहीं हैं। वे सदा अपने पतिदेव के चरणों पर ही अपनी दृष्टि रखती हैं; इसी लिये वे स्त्रियाँ कहती हैं—जिनको तुम बराबर देखती हो, वे हम लोगों के मन को भी मोहते हैं। हे सखि, वे साँवरे से तुम्हारे कौन हैं? यह प्रश्न बड़ा ही मधुर और परिहासजनक है। उन स्त्रियों के विशेष आग्रह को देखकर—

सकुचि सप्रेम बाल-मृग-नैनी। बोली मधुर बचन पिक-बैनी॥
सहज सुभाव सुभग तनु गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन मृदु अंचल झाँकी। पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैनन। निज पति कह्यो तिनहि करि सैनन॥

मर्यादा और माधुर्य का कैसा सुंदर योग है! सीता के वचन को सुनकर उन स्त्रियों को क्षणिक तृप्ति भी हुई और पति-पत्नी के संबंध का स्वाभाविक निर्देश भी हो गया। देवर लक्ष्मण का उल्लेख

तो सीता ने स्पष्ट कर दिया; लेकिन रामचंद्र के विषय में, अपने मुख को अंचल से झाँपकर तिरछी चितवन से बता दिया कि ये मेरे पति छोड़कर दूसरे कौन हो सकते हैं। यह भारतीय कुलवधू की चातुरी है! सीता की इस दांपत्य भाव-व्यंजना को देखकर निश्चय ही सब स्त्रियाँ आनंद से लोटपोट हो गई होंगी।

रामचंद्र और लक्ष्मण के साथ धीरे धीरे आगे बढ़ती हुई जानकी कई आश्रमों को पार कर चित्रकूट पहुँचीं। वहाँ वे तीनों सुख के साथ रहने लगे। अवसर पाकर भरत के साथ महामुनि वशिष्ठ, राजा जनक तथा कौशल्या आदि रानियों का दल रामचंद्र से मिलने के लिये वहाँ आ गया। इस समय—

प्रिय परिजनहिं मिली बैदेही। जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेही॥

—जिस सम्मान के योग्य जो परिजन थे, उनसे वैदेही उसी प्रकार मिलीं। उनके शिष्टाचरण से सबको परम प्रसन्नता हुई। राजा जनक ने अपनी स्नेहमयी पुत्री जानकी को हृदय से लगाकर प्यार किया और वनवास में पतिदेव की संगिनी बनने के लिये अनेक आशीर्वाद दिए। जानकी को तपस्विनी-वेष में देखकर माता सुनयना ने भी गद्गद कंठ से आशीर्वाद दिया। कुशल-वार्त्तालाप में ही रात हो गई। जानकी बड़े असमंजस में पड़ गईं।

कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

पूजनीय पतिदेव तपस्वी बनकर भूमि पर लेटें और पत्नी राजकीय शिविर में सुख से रात काटे, यही असमंजस की बात है। शिष्टतावश सीता अपने हृदय की बात माता से कहती भी नहीं हैं। पति के पास जाने की आज्ञा माँगते उन्हें संकोच होता है। सीता की शालीनता का कैसा सुंदर उदाहरण है। हृदय में सतत अपने पति का ध्यान लगा रहता है। स्वामी की अटल भक्ति से माता-पिता की सेवा में तनिक भी अंतर नहीं पड़ा। पारिवारिक जीवन

में जानकी सभी सासुओं की सेवा तो करती ही थीं; लेकिन वन-वास में भी उन्होंने अपनी सासुओं के प्रति उस सम्मान को भुलाया नहीं।

सीय सासु प्रतिवेष बनाई। सादर करति सरिस सेवकाई॥

सबको वे समान-भाव से देखती थीं। किसी ने भी सीता की यह शिकायत न की कि वे मेरा आदर नहीं करती हैं। वन्य जीवन में भी सीता की यह दिनचर्य्या है। उनके चरित्र से स्पष्ट पता चलता है कि सती स्त्री के लिये पति तो सब कुछ हैं ही, साथ ही जीवन को सुखी और आनंदमय बनाने के लिये अपने समस्त परिवार का सम्मान और शुभेच्छा रखना अनिवार्य है।

चित्रकूट से चलकर वे तीनों अत्रि मुनि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ मुनि ने उन लोगों का बड़ा सत्कार किया। मुनि की धर्म-पत्नी अनसूया ने साध्वी सीता को स्त्री-धर्म का बड़ा ही सुंदर उपदेश दिया।

वृद्ध रोग-बस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना* ॥

× × ×

जग पतिब्रता चारि विधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसे। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धरम बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकृष्ट तिय स्रुति अस कहई॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानहु अधम नारि जग सोई† ॥

---

* क्लीबं च दुरवस्थं वा व्याधितं वृद्धमेव च।
सुखितं दुःखितं चापि पतिमेकं न लंघयेत्॥—शिवपुराण।
दुश्शीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्य लोकेप्सुभिरपातकी॥—भागवत।

† चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि पतिव्रताः॥
स्वप्नेपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम्।

जहाँ ऐसे ऐसे पवित्र उपदेश दिए जाते हैं, वहाँ सुशीला सीता का चरित्र क्यों न उज्ज्वल होगा! सीता ने बड़ी भक्ति के साथ मुनि-पत्नी अनसूया के वचनों को ग्रहण किया। सीता के समस्त जीवन में रामचंद्र के प्रति बड़ी अनुरक्ति दिखाई पड़ती है। उनके जीवन में एक भी ऐसा स्थल नहीं, जहाँ दोनों में तनिक भी विरोध का आभास मिलता हो। सीता की एकनिष्ठता सर्वथा श्लाघनीय है। अभी हमारे सम्मुख साध्वी सीता का समस्त चरित्र है। हम उसे जितना ही ध्यानपूर्वक देखते हैं, उतना ही वह हमारे लिये गौरवास्पद् होता जाता है। बिना संपूर्ण चरित्र देखे हुए किसी की सच्ची आलोचना नहीं हो सकती है। बड़े से बड़े पुरुष का भी, जीवन के अंत के एक क्षण पूर्व भी, पतन हो सकता है। पतन का वही मूल-बीज उसके जीवन की प्रत्येक गति-विधि में अपना संबंध खोज लेगा। नैतिक दृष्टांत के लिये जीवित की अपेक्षा एक मृत पुरुष ही श्रेयस्कर हो सकता है; क्योंकि उसमें कल्पना को स्वच्छंदता है, या कम से कम वह इतनी स्वच्छंद रहती है, जितना उसे समस्त सद्गुणों से सुसज्जित करने के लिये वास्तविक जीवन के विधान स्वीकृत करते हैं*। सीता के दांपत्य जीवन में एक ही रस है और वह है पतिदेव की

नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्त्तिता ॥
या पितृभ्रातृसुतवत् परं पश्यति सद्धिया।
मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता ॥
बुद्ध्या स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न।
निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वति ॥—शिवपुराण।

* A dead man is a better moral examplar than a living man can be, because the imagination has free scope, or at least as free as the conditions of real life allow to adorn him with all the virtues.

—The Facts of Moral Life.

पूजा। उनका सारा जीवन राममय रहा है। जटिल से जटिल परि-स्थिति में भी उनसे राम दूर नहीं हुए हैं। अपना अस्तित्व विलीन कर भी वे अपने राम में रमी रहना चाहती हैं। ऋषिपत्नी अनसूया के उपदेश से वृद्ध, रोगी, निर्द्धन, अंधे पुरुष का भी दांपत्य जीवन आनंदमय हो सकता है; फिर रामचंद्र जैसे लौकिक आदर्श पुरुष का दांपत्य जीवन साध्वी सीता की स्नेह-सेवा से सुखमय क्यों न हो।

अत्रि मुनि के आश्रम से विदा होकर वे तीनों दंडकारण्य में पहुँचे। कुछ दूर आगे जाने पर विराध नामक एक भयंकर मनुष्य-भक्षी राक्षस मिला। उसकी आँखें गहरी थीं, मुँह बड़ा था, शरीर लंबा-चौड़ा था, उसके शरीर का कोई स्थान बहुत ही नीचा और कोई बहुत ही ऊँचा था। वह चर्बी और रुधिर से लिपटा हुआ व्याघ्रचर्म धारण किए हुए था। सुंदरी सीता को देखते ही वह बड़े भयानक गर्जन के साथ झपटा। विह्वला सीता को गोद में उठाकर वह दूर जाने लगा। फिर बड़ी कठिनता से रामचंद्र ने उसके पंजे से भयभीता सीता को छुड़ाया। बदले में उस दुष्ट राक्षस ने रामचंद्र और लक्ष्मण को ही पकड़ लिया और दोनों को अपने कंधे पर रखकर वह भयंकर वन की ओर जाने लगा। इस भय से विह्वल सीता की हालत अनुमान से ही जानी जा सकती है। ऐसी विपत्ति देखकर वे बोलीं—

> एष दाशरथी रामः सत्यवाञ्छीलवाञ्छुचिः।
> रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सह लक्ष्मणः॥
> मामृक्षा भक्षयिष्यन्ति शार्दूलद्वीपिनस्तथा।
> मां हरोत्सृज काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम॥
>
> —वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकांड।

—ये रामचंद्र दशरथ के पुत्र, सत्यवादी, शीलवान् और पवित्र हैं। लक्ष्मण के साथ इन्हें भयानक राक्षस हरे लिए जा रहा है।

मुझे भालू खा लेंगे। बाघ या चीते मुझे अपना भोजन बना लेंगे। हे राक्षसश्रेष्ठ, मुझे ले चलो। राम-लक्ष्मण को छोड़ दो। मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ।

सीता की इस आकुल प्रार्थना में भय की आशंका निश्चय ही बहुत है, परंतु यह रामचंद्र के दुःख को देखकर ही प्रेरित हुई है। बाघ या चीते का डर तो था ही, पर इससे ज्यादा दुःख उन्हें रामचंद्र की ऐसी अवस्था से था। अपने लिये वे बहुत कहतीं, तो इतना ही कि हे राक्षसश्रेष्ठ, राम-लक्ष्मण के साथ मुझे भी लेते चलो। लेकिन उनका वचन यह नहीं है। वे चाहती हैं कि मेरे अस्तित्व से राम-लक्ष्मण का कुछ भी उपकार हो, इसी लिये वे कहती हैं कि उन दोनों को छोड़कर मुझे ही ले चलो। मैं संसार में रहकर ही क्या कर सकूँगी? इस आर्त्त विनय में भी सीता की पति-प्राणता झलक रही है। वैदेही की इस विह्वलता को देखकर पराक्रमी रामचंद्र ने उस भयंकर विराध का बड़े यत्न से अंत ही कर डाला।

फिर यहाँ से वे तीनों पंचवटी की ओर चले। इसी मार्ग में आदि-कवि वाल्मीकि ने जटायु से भेंट होना लिखा है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसकी चर्चा तक नहीं की है; इसी लिये सीता-हरण के समय जटायु का उनकी रक्षा में इतनी जल्द तत्परता दिखाना कुछ असंबद्ध सा मालूम पड़ता है। कवीश्वर वाल्मीकि ने रामचंद्र और जटायु का पारस्परिक परिचय कराया है।

इसके बाद ही भगवती सीता के जीवन की गति-विधि में विचित्र दृश्य सम्मुख आता है। पंचवटी-आश्रम में ही रामचंद्र के सौंदर्य्य पर विमोहित होकर शूर्पनखा आई और उसने रामचंद्र से अपने विवाह की कामना प्रकट की। उन्होंने क्रुद्ध होकर लक्ष्मण से उसकी नाक और कान काट लेने को कहा। लक्ष्मण ने वैसा ही किया। अवधोरिता शूर्पनखा अपने भाइयों के पास

गई और रामचंद्र की प्रिया जानकी के हरण का कारण बनी। महाबली रावण की कुमंत्रणा से मारीच कपट-मृग बनकर कौतूहल-प्रिय वैदेही के पास से उछलता हुआ दूर चला गया। अपनी सुमुखी प्रिया के अनुरोध को मानकर रामचंद्र मायामृग को पकड़ने के लिये गए। जाने के पहले ही उन्होंने लक्ष्मण को साध्वी सीता की रक्षा के लिये सचेत कर दिया। बहुत खेल-कूद करने पर ज्योंही रामचंद्र ने उस मायामृग को बाण से मारा, त्योंही वह 'हा सीते, हा लक्ष्मण' कहकर चिल्ला उठा। इधर सीता को बड़ी आशंका हुई। उन्होंने लक्ष्मण से रामचंद्र की रक्षा के लिये जाने को कहा। लक्ष्मण ने बड़े नम्रता-पूर्वक कहा—नहीं माता, भाई ने मुझे यहीं रहने की आज्ञा दी है। मैं यहाँ से नहीं टलूँगा। भाई स्वयं बड़े पराक्रमी हैं। उन पर कोई विपत्ति नहीं आ सकती।

सीता को इन बातों पर विश्वास नहीं हुआ। वे क्रुद्ध होकर बोलीं—लक्ष्मण, तुम अपने भाई के मित्र-रूपी शत्रु हो। ऐसी अवस्था में भी तुम अपने भाई की रक्षा के लिये नहीं जा रहे हो; अतएव मालूम होता है, तुम मुझको पाने के लिये ही रामचंद्र का विनाश चाहते हो। मेरी प्राप्ति के लोभ से ही तुम उनके पास नहीं जा रहे हो। उनका दुःख में पड़ना ही तुम्हें प्रिय मालूम पड़ रहा है। भाई पर तुम्हारा प्रेम नहीं है। इसी लिये महाद्युति रामचंद्र को न देखकर, उनकी रक्षा का कोई प्रबंध न कर; यहाँ निश्चिंत बैठे हो। रामचंद्र के जीवन पर संकट आ जाय, तो मेरी रक्षा से ही कौन लाभ* ?

---

* × × × × ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥
यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥

लक्ष्मण अपने भाई के बड़े ही आज्ञाकारी थे। इतनी भर्त्सना पर भी वे टस से मस नहीं हुए। उन्होंने पुनः नम्रता-पूर्वक कहा—कल्याणी, आप किसी प्रकार की चिंता न करें। उस मृग को मारकर भाई शीघ्र ही आवेंगे। बिना रामचंद्र के मैं आपको वन में अकेली छोड़ नहीं सकता।

लक्ष्मण के इतना कहने पर कुपिता जानकी की आँखें लाल लाल हो गईं। बड़े कर्कश स्वर में उन्होंने कहा—अनार्य, निर्दय, घातक, कुलकलंक! मैं समझती हूँ कि रामचंद्र का कष्ट तुम्हें अच्छा मालूम होता है। इसी लिये उनके दुःख को देखकर ऐसी बातें बोल रहे हो। तुम्हारे समान क्रूर और छिपे शत्रु से इस तरह की बुराइयों के होने में कोई आश्चर्य नहीं है। तुम बड़े दुष्ट हो, अतएव अकेले असहाय रामचंद्र के साथ मुझे पाने के लिये वन में आए हो अथवा गुप्त रूप से भरत ने तुम्हें भेजा है*।

लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते॥
तेन तिष्ठसि विस्रब्धं तमपश्यन्महाद्युतिम्।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत्॥

—वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकांड।

* अनार्य करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत्।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे॥
नैव चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत्।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु॥
सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा॥

—वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकांड।

उदयपुर के राजकीय सरस्वती-भंडार में तीन सौ से अधिक वर्ष की पुरानी लिखी हुई वाल्मीकीय रामायण विद्यमान है। अनुमान ३० वर्ष पूर्व

सीता के मुँह से ऐसे ऐसे शब्द सुनने की हमें आशा नहीं थी। सीता के इन वचनों पर हमें क्षोभ भी होता और दया भी आती है। आज्ञाकारी लक्ष्मण के प्रति उनकी जिह्वा से ऐसे मलिन शब्द किस प्रकार निकले ! भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मण ने रामचंद्र और सीता की विपत्ति में ही सहायक होने के लिये अपने सुख को तिलांजलि दी। नव-यौवना सुशीला पत्नी ऊर्म्मिला को वियोगिनी बनाकर वन-विहंगिनी वैदेही का साथ दिया। वे लक्ष्मण के स्वभाव को अच्छी तरह जानती थीं। लक्ष्मण के हृदय में रामचंद्र और सीता की अनन्य उपासना थी। परशुराम-संवाद में, वन-गमन के समय महाराज दशरथ की भर्त्सना में और भाई भरत के चित्रकूट में मिलने के समय लक्ष्मण ने उसे बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। रामचंद्र को वनवास की आज्ञा मिलने के कारण भरत से लक्ष्मण बहुत असंतुष्ट थे। यह जानकर भी सीता ने उनके हृदय को अपने कठोर वाग्बाण से छेद डाला। वे सीता को मातृवत् ही पूजते थे। कुदृष्टि तो क्या, एक बार भी अच्छी तरह उन्होंने सीता के मुख की ओर दृष्टि-पात नहीं किया था। सीता-हरण होने पर यह बात स्पष्ट हो गई है। सुग्रीव ने कुछ अलंकार रामचंद्र को दिखाए, जो रावण द्वारा हरी गई जानकी ने यत्र-तत्र गिराए थे। बाष्प-गद्‌गद कंठ से रामचंद्र ने लक्ष्मण से कहा—देखो लक्ष्मण, जानकी के ये अलंकार हैं न ? लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुंडले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवंदनात् ॥

मैंने उस प्रति का छपी हुई प्रतियों में मिलान किया तो ज्ञात हुआ कि छपी हुई प्रतियों में कई जगह बहुत सा अंश अधिक है, जो पीछे से बढ़ाया हुआ क्षेपक होना चाहिए। संभव है कि वह अंश भी क्षेपक हो।—सं०।

—मैं हाथ में पहनने के केयूर और कान के कुंडलों को नहीं जानता, प्रतिदिन चरण-वंदन करने के कारण केवल पैरों के नूपुरों को ही जानता हूँ।

लक्ष्मण के इस उत्तर में कितनी अनन्यता झलकती है। इन्हीं लक्ष्मण के प्रति सीता के कैसे विषैले उद्गार हैं! सीता के चरित्र में यह अंश बहुत विचारणीय है। यह कहा जा सकता है कि जानकी ने क्रोध-विह्वल होकर लक्ष्मण से ऐसी कठोर बातें कहीं; परंतु, हमारी समझ में, क्रोध करने का यह स्थल ही नहीं है। लक्ष्मण ने ऐसा कोई काम नहीं किया था, जिससे जानकी को क्रुद्ध होने का अवसर मिले। वे तो भाई की आज्ञा से ही सीता की रक्षा में बैठे थे। अपने प्रियजन के अनिष्ट की आशंकाएँ बहुधा छोटी छोटी बातों से ही हो जाती हैं।' सीता को रामचंद्र के अनिष्ट की आशंका अवश्य हुई, लेकिन लक्ष्मण को बिना ऐसे कठोर वचन कहे भी काम चल सकता था। थोड़ी देर के लिये हम यह मान लेते हैं कि सीता ने विकट परिस्थिति देखकर ही लक्ष्मण को वैसे कठोर वचन कहे; परंतु रावण द्वारा हरी जाने पर भी उन्हें अपनी भूल नहीं मालूम हुई। ऐसे कुवचन के लिये उन्हें लक्ष्मण से क्षमा-याचना करनी चाहिए। क्षमा-याचना की बात तो दूर रही, उन्होंने अपने इस कु-कृत्य पर कभी पश्चात्ताप भी नहीं किया। लक्ष्मण से मिलने पर उनके मुख से इतने शब्द भी न निकले कि लक्ष्मण, तुमको कठोर वचन कहकर मैंने अपना ही अहित किया। तुलसी-कृत रामायण के क्षेपक में, हरी जाने पर, सीता के मुख से ये शब्द निकले हैं—

हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा।
सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा॥

गोस्वामी तुलसीदास के विषय में यहाँ अधिक विचार-विमर्श करने से हमें विषयांतर होकर दूसरे झंझट में ही फँस जाना पड़ेगा।

हरिभजन के बदले कपास की श्रोटाई करनी पड़ेगी। उन्होंने माया का विश्व पहले से ही तैयार कर रखा था, अतः उनके निकट सीता के इन कुवचनों की कोई चर्चा ही नहीं है। कवीश्वर वाल्मीकि की सीता के मुख से इतने ही शब्द निकले हैं—

हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक।
ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा कामरूपिणा॥

—अपने बड़े भाई को प्रसन्न करनेवाले महाबाहु लक्ष्मण! स्वेच्छानुसार रूप धारण करनेवाला राक्षस मुझे हरकर ले जा रहा है, यह तुम नहीं जानते!

जानकी के मुख से इतनी बात भी सुनकर हमें कुछ संतोष तो निश्चय होता है, पर हमें उनके मुख से कुछ और सुनने की आशा थी। लक्ष्मण ने सीता के प्रति विशेष बातें नहीं कहीं, यह उनका ही सौजन्य है, लेकिन इसमें हमें सीता की हानि ही अधिक देख पड़ती है। लक्ष्मण ने बहुत व्यथित होकर इतना ही कहा—स्त्रियों में विनय आदि धर्म नहीं रहते। वे चंचल और क्रूर होती हैं, आपस में फूट डाल देती हैं। जनकपुत्री वैदेही, मैं ऐसी बातें सह नहीं सकता।

इतनी बातें जानकी को सुनाकर लक्ष्मण रामचंद्र के पास चले गए। इसी बीच में अवसर पाकर परिव्राजक-वेषी रावण ने सीता की पर्णकुटी में पदार्पण किया। सुंदरी सीता को देखकर वह काम-पीड़ित हो गया। वह सीता के सम्मुख आकर उनकी प्रशंसा करने लगा—हे विलासिनी, सुंदर मुसकान, सुंदर दाँत और सुंदर आँखों से तुम मेरा मन हरण कर रही हो, जिस प्रकार जल नदी के तीर को हरण करता है। सुकेशी, तुम्हारी कमर मुट्ठी में आ जानेवाली है, और तुम्हारे स्तन आपस में सटे हुए हैं। देवी, गंधर्वी, यक्षी,

किन्नरी कोई भी स्त्री पृथिवी में मैंने तुम्हारे समान नहीं देखी। तुम्हारा यह श्रेष्ठ रूप, यह सुकुमारता और यह अवस्था* ।

छद्मवेषी अतिथि के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर सीता को हर्ष हुआ, या रोष, इसका कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। इस स्थान पर हम सीता के मुख-मंडल पर सतीत्व का तेज देखना चाहते हैं, पर वह नहीं मिलता है। अतिथि की इस वासनात्मक प्रशंसा से जानकी में नारी-गर्व उत्तेजित होना चाहिए; लेकिन यह सब यहाँ कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह बहुत दूर आगे जाकर। अतिथि को देखकर सीता अभी कर्त्तव्य की द्विविधा में हैं; किंतु सती का तेज आतिथ्य के समय मलिन नहीं हो जाता है। सीता के अन्तःकरण में भी कोई अंतर्विरोध नहीं है। उनके हृदय में केवल इतना ही असमंजस है कि—'ब्राह्मणश्चातिथिश्चैव अनुक्तो हि शपेत माम्'—यह ब्राह्मण और अतिथि है; इससे यदि मैं न बोलूँ तो मुझे यह शाप देगा।

अंत में रावण के द्वारा जानकी का हरण हुआ। सतीत्व के गौरव को निर्मल रखने के लिये गोस्वामी तुलसीदास ने एक माया का प्रपंच रच रखा है, इससे सीता के चरित्र में कोई वास्तविक महत्ता नहीं देख पड़ती, बल्कि उनके चरित्र में जो कुछ मानवीय उत्थान-पतन और घात-प्रतिघात हैं, वे सब निराश्रय हो जाते हैं। गोस्वामी

---

* चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि।
मनो हरसि मे रामे नदीकूलमिवाम्भसा॥
करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनि।
नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी॥
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले।
रूपमग्र्यं च लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते॥
—वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकांड।

तुलसीदास की सीता अग्नि में सुरक्षित हैं और मायाविनी सीता हरी गईं। और तो और,

लछिमन हू यह मर्म न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥

लक्ष्मण को भी यह रहस्य मालूम नहीं था। गोस्वामीजी ने जिस दैविक ज्योति में जानकी के जीवन-चरित्र की प्रतिष्ठा की है, वह मानव समाज से बहुत दूर है। महाकवि वाल्मीकि ने इसका कुछ संकेत भी नहीं दिया है। मायाविनी सीता के चरित्र की आलोचना ही क्या हो सकती है। यह गोस्वामी तुलसीदास के मस्तिष्क की मौलिक उपज है। जब सीता हमारे सम्मुख एक आदर्श नारी के रूप में आएँगी, तब उनके चरित्र की आलोचना हम मानवीय आधार पर हो करेंगे। उनकी शीलता की जाँच में अंतर्द्वंद्व और बाह्य द्वंद्व दोनों का ही विश्लेषण रहेगा। मानव मस्तिष्क के अनुसंधान के संबंध में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् ह्यूम (Hume) ने लिखा है कि जब मनुष्य का कर्म ही उसकी शीलता का द्योतक है, और इसी लिये जब लोगों में नीतिमत्ता का दर्शक भी वही माना जाता है, तब केवल बाह्य परिणामों से ही उस कर्म को प्रशंसनीय या गर्हणीय मान लेना असंभव है। सीता के चरित्र में अंतर्द्वंद्व कम है। कवीश्वर वाल्मीकि ने भी सीता के चरित्र में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का बहुत संकोच रखा है। सीता के चरित्र में उत्कर्ष है और विपन्नावस्था में वह विशेष ज्योतिपूर्ण हो गया है। दुःख ही जीवन के विकास का कारण है*। सीता की विपत्ति में हमें बड़ी अनुकंपा है; लेकिन ऐसी अवस्था में उनके उज्ज्वल चरित्र का विकास होता है, यह जानकर संतोष भी कम नहीं होता। सीता गुणवती हैं, उनके चरित्र में सद्गुण ही अधिक हैं। गुणों से

---

* Unhappiness is the cause of progress.

—Ethical Problem.

हो गुणों की उत्पत्ति होती है और वहीं वे निवास भी करते हैं*। लौकिक नारी के रूप में ही उनकी अधिक प्रतिष्ठा है। गोस्वामीजी की मायाविनी सीता बनकर वे अपना ही महत्त्व न्यून कर बैठती हैं।

सीता की प्रत्युत्पन्न मति का एक बड़ा ही सुंदर उदाहरण आगे आता है। जब बल-पूर्वक रावण सीता को लंका की ओर लिए जा रहा था, तब उन्होंने अपने शरीर से अलंकारों को खोलकर यत्र-तत्र फेंक दिया, जिससे रामचंद्र को वह मार्ग मालूम हो जाय और वे नृशंस रावण के पंजे से उनकी मुक्ति करावें। रावण ने सीता को लंका ले जाकर अपनी अशोक-वाटिका में रख दिया। अपनी काम-वासना की स्वीकृति के लिये उसने सीता के ऊपर राक्षसियों का पहरा भी बैठा दिया।

इधर लक्ष्मण को देखते ही रामचंद्र सन्न से रह गए। पर्ण-कुटी में आकर देखा तो सचमुच ही सीता का कुछ पता नहीं। रामचंद्र अपनी प्रिया के वियोग से उद्भ्रांत से हो गए और वन की प्रत्येक वस्तु को देखकर अपने व्यथित हृदय के उद्गार निकालने लगे। सीता के प्रति उनके हृदय में कितना प्रेम था, वह एक ही प्रलाप से प्रकट हो सकता है। एक मयूर को देखकर रामचंद्र कहते हैं—हे मयूर, तेरी प्यारी वन में राक्षस द्वारा नहीं हरी गई है। इसी लिये तू सुहावने वन में कांता के साथ नाच रहा है। मेरी ओर भी—विशालाक्षी जानकी यदि हरी न गई होती, तो वह काम से संभ्रम हो झुकती। जहाँ मेरी प्यारी निवास करती है, यदि वहाँ भी वसंत होगा, तो निस्संदेह परवशा सीता मेरी ही भाँति शोक कर रही होगी। ऐसी दशा में, वह नवयुवती, पद्म-पत्र से सुशोभित नयनवाली, मृदुभाषिणी अपना जीवन-त्याग

* गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव निवसन्ति च।—महाभारत, शांतिपर्व।

कर देगी। मेरे हृदय में यह विचार दृढ़ हो रहा है कि साध्वी सीता मेरे विरह में जीवित नहीं रह सकती। सीता का पूर्ण भाव मुझमें और मेरा पूर्ण भाव सीता में सन्निवेशित हो रहा है।

रामचंद्र के इस विदग्ध विलाप में सीता के प्रणय की प्रतिच्छाया ही झलकती है। सीता को इस विरह से कितनी वेदना होती होगी, यह रामचंद्र की अनुभूति से स्पष्ट है। लक्ष्मण के बार बार प्रबोधन देने पर भी रामचंद्र उसी प्रकार बहुत देर तक नहीं, बहुत दिनों तक विलाप करते रहे। किष्किंधा में हनुमान् से भेंट हुई और फिर सुग्रीव से मित्रता हुई। सुग्रीव की सहायता से, सीता की खोज के लिये, भिन्न भिन्न स्थानों में दूत भेजे गए। रामचंद्र ने अपनी मुद्रिका हनुमान् को दे दी, जिससे सीता से भेंट होने पर दूत के प्रति उनके मन में विश्वास उत्पन्न हो। सब दूतों से अधिक बहादुर और विश्वासी हनुमान् ही थे, अतः यह दायित्वपूर्ण कार्य-भार उन्हीं को सौंपा गया। पता लगाते हुए, हनुमान् समुद्र को पार कर लंका पहुँचे। रावण के राजमहल का कोना कोना खोज डालने पर भी हनुमान् को सीतादेवी दिखाई न पड़ीं। तब अशोक-वाटिका की ओर वे आगे बढ़े। वहाँ उन्होंने एक सुनहले रंग की शीशम देखी, जो चारों ओर स्वर्णमयी वेदियों से घिरी हुई थी। हनुमान् उस पर चढ़ गए, जिससे वे सीता को देख सकें; क्योंकि उनका विश्वास था कि वे मनस्विनी अवश्य इस उत्तम जलवाली नदी पर संध्योपासनार्थ आवेंगी*।

---

* तामारुह्य महावेगः शिंशपां पर्णसंवृताम्।
इतो द्रक्ष्यामि वैदेहीं रामदर्शनलालसाम्॥
संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थे वरवर्णिनी॥
—वाल्मीकीय रामायण, सुंदरकांड।

महावीर के इस निश्चय से साध्वी सीता के चरित्र पर कितना प्रकाश पड़ता है। सीता के तन में जब तक प्राण रहेंगे, तब तक वे अपना नित्य कर्म अवश्य ही संपादित करेंगी। उसी समय उन्होंने सीता को राक्षसियों के बीच में घिरी बैठी हुई देखा। हनुमान् ने कभी सीतादेवी को पहले देखा नहीं था; अतः वे बड़ी द्विविधा में पड़े। सीतादेवी के उदास मुख-मंडल, आँसुओं से भरी हुई आँखें, प्रिय-वियोग के कारण नीचे तक लटकी हुई चोटी को देखकर उचित कारणों से हनुमान् ने जानकी को पहचान लिया। तत्काल ही दुष्ट रावण वहाँ आया और भाँति भाँति के प्रलोभनों से सीता के हृदय को चुराने की कोशिश करने लगा। राक्षसाधिप रावण की लाल लाल आँखें देखकर—

> ऊरुभ्यामुदरं छाद्य बाहुभ्यां च पयोधरौ।
> उपविष्टा विशालाक्षी रुदती वरवर्णिनी ॥

—अपनी जाँघों से पेट दबाकर और हाथों से स्तनों को छिपाकर विशालाक्षी वैदेही रोती हुई बैठ गईं। रावण ने सीता से कहा—भीरु, परस्त्री-गमन और बल-पूर्वक परस्त्री-हरण राक्षसों का सदा का धर्म है, इसमें संदेह नहीं; लेकिन मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं करूँगा, क्योंकि तुम मुझसे प्रेम नहीं करती हो। चाहे कामदेव मेरे शरीर में यथेष्ट वासना बढ़ा दे, पर मैं तुम्हारी देह से अलग ही रहूँगा। तुम मुझसे भय न करो। अपना समझकर विश्वास करो। यदि तुम मेरी पटरानी बनोगी, तो बड़ी बड़ी सुंदरी रानियाँ तुम्हारी सेवा करेंगी। चीथड़ा पहननेवाले राम को लेकर क्या करोगी? यहाँ तुम सोलहों शृंगार कर उदारता-पूर्वक सब भोग-विलासों का उपभोग करना। अपने पराक्रम से मैं तुम्हारे सम्मुख त्रिलोक का राज्य रख दूँगा। कहो, आज्ञा देती हो? मेरी पटरानी बनना तुम्हें स्वीकार है?

विरहिणी वैदेही के भय और दुःख की सीमा न रही। वे भय से काँपने लगीं, दुःख से रोने लगीं; परंतु ऐसी स्थिति में भी उनके हृदय में रामानुराग वर्त्तमान था। नारी-तेज से उद्भासित होकर शुचिस्मिता सीता ने*, बीच में तृण का ओट करके, उत्तर दिया कि मुझसे अपना मन हटा लो और अपनी पत्नियों से प्रेम करो। मैं पतिव्रता हूँ। निंदित कार्य मेरे लिये अकार्य है। बड़े कुल में मेरा जन्म हुआ है और पवित्र कुल में विवाह। रावण की ओर अपनी पीठ कर यशस्विनी सीता पुनः बोलीं—मैं सती हूँ। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्र की भुजा पर अपना शिर रखकर अब मैं किसी दूसरे पुरुष की भुजा पर शिर कैसे रखूँगी? रावण! मुझ दुःखिनी को रामचंद्र के पास पहुँचा दो। यही तुम्हारे लिये उचित है।

साध्वी सीता के इस उत्तर में गर्व और तेज से अधिक विनय है। कहीं कहीं पर सीता के सतीत्व का तेज बहुत जागरित हो गया है। दुष्ट, कामी रावण की प्रार्थना और प्रलोभनों पर आँख मूँदकर लात मारना सीता जैसी सती का ही साहस हो सकता है। सती के हृदय में स्त्रीत्व का दर्प रहता है, जो कामुक पुरुष की कामना को चूर्ण कर देता है। सीता ने जिस करुणापूर्ण स्थिति में रहकर अपनी एकनिष्ठता

---

* चिन्तयन्ती वरारोहा पतिमेव पतिव्रता।
तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता॥—वाल्मीकि।
तृण धरि ओट कहति वैदेही। सुमिरि अवधपति परम सनेही॥
—तुलसीदास।

तृण उठाकर उसकी ओर देखकर सीता के उत्तर देने के मुख्य तीन आशय थे—

(१) भारतीय कुलवधुएँ एकांत में परपुरुष से बातें नहीं करतीं। संकट-काल में वे तृण की ओट देकर बातें कर लेती हैं। (२) लंका की पटरानी के पद को मैं तृणवत् समझती हूँ। (३) रामचंद्र के समक्ष तुम स्वयं तृण-तुल्य हो।

का परिचय दिया है, वह उन्हीं के योग्य है। जब आत्म-सम्मान और सहन-शीलता की पराकाष्ठा हो गई, तब शेष जीवन से निराश होकर सीता ने फाँसी लगाकर अपनी आत्म-हत्या करनी चाही। उसी समय हनुमान् उनके सम्मुख आये और उन्होंने रामचंद्र की दी हुई मुद्रिका दी। मुद्रिका को देखते ही सीता के प्राण लहलहा उठे। उनको हनुमान् पर पहले विश्वास नहीं हुआ; पीछे राम-चरण के प्रति विशेष श्रद्धा देखकर वह संदेह जाता रहा। हनुमान् को रामभक्त समझते ही उन पर स्नेह हो गया। सीता की आँखों से आँसू बहने लगे और शरीर में रोमांच हो आया। फिर उन्होंने हनुमान् से पूछा—

अब कहु कुशल जाउँ बलिहारी। अनुज सहित सुख-भवन खरारी॥

आनंदकारी रामचंद्र अपने छोटे भाई लक्ष्मण के साथ कुशल-पूर्वक तो हैं? जानकी के प्रश्न में कितनी मर्यादा है! वे अकेले रामचंद्र का कुशल-समाचार नहीं पूछतीं। उनके हृदय में लक्ष्मण के प्रति भी स्नेह है और वे उनका भी भला चाहती हैं। अतएव वे 'अनुज सहित' रामचंद्र का समाचार पूछती हैं। शोक-विह्वला होने पर भी वे राम-दूत हनुमान् को देखकर 'हाय! हाय!!' कर गिर नहीं पड़तीं। ऐसी अवस्था में भी भारतीय कुलवधू के हृदय में गंभीरता रहती है।

हनुमान् ने सीता को रामचंद्र का संदेश कह सुनाया। सीता ने अपने सौभाग्य की सराहना की। उन्होंने भी अपना संदेश कहा—हे हनुमान्, रामचंद्र के वियोग में मैं बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। उनके पुण्यमय दर्शन की लालसा से ही मेरे प्राण अब तक ठहरे हुए हैं, अन्यथा मैं कभी अपने प्राण त्याग देती। एक मास* के भीतर, यदि प्राणपति रामचंद्र से भेंट न हुई, तो समझ लेना कि मैं इस संसार में नहीं हूँ।

---

* गोस्वामी तुलसीदास ने 'मास दिवस महँ कहा न माना' लिखकर

सीता ने अपनी ओर से चूड़ामणि उतारकर हनुमान् को चिह्न-स्वरूप दिया, जिससे रामचंद्र को हनुमान् की खोज पर विश्वास हो। चिह्न देकर सीता ने इंद्र-तनय जयंतवाली कथा भी कह सुनाई। इस कथा को रामचंद्र और सीता को छोड़कर अन्य कोई भी नहीं जानता था; अतः विश्वास के लिये इससे सुंदर दूसरा प्रमाण कौन हो सकता है ? आदि-कवि वाल्मीकि ने जयंतवाली कथा सविस्तर सीता के मुख से हनुमान् के सामने कहलाई है। गोस्वामी तुलसीदास ने उसका यथा-स्थान ही वर्णन किया है। यहाँ केवल संकेत कर दिया है। 'रामचरित-मानस' में अध्यात्म-रामायण के अनुसार कौवे का सीता के चरण में चोंच मारना लिखा है, पर वाल्मीकि ने स्तनांतर में*। शृंगारी कवि कालिदास ने भी आदि-कवि का ही अनुकरण किया है।

पतिप्राणा सीता से आज्ञा लेकर हनुमान् ने लंका-नगरी में खूब मीठे मीठे फल उड़ाए; कितने वृक्षों को उखाड़कर इधर-उधर फेंक दिया; कितने प्रहरियों को यमपुर का रास्ता दिखाया। इस उपद्रव को देखकर सारे राक्षस-समाज में बड़ा तहलका मच गया। विकृत-रूपिणी राक्षसियों ने साध्वी सीता को धमकी देकर

जानकी को विचार करने के लिये एक ही मास की अवधि दी है; लेकिन कवीश्वर वाल्मीकि ने निम्न-लिखित श्लोक में दो मास की अवधि दी है—

द्वाभ्यामूर्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।
मम त्वां प्रातराशार्थे सूदाश्छेत्स्यन्ति खंडशः॥

* 'वायसः सहसागम्य विरराद स्तनान्तरे।'—वाल्मीकि।
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्॥—कालिदास।
सीता-चरन चोंच हति भागा।
महामंद-मति कारन कागा॥—तुलसीदास।

पूछा—यह कौन है ? किसका है ? इसने तुम्हारे साथ क्यों बातें कीं ? बोलो, यह यहाँ क्यों आया है।

देवी सीता बड़े असमंजस में पड़ीं। उन्होंने कहा—

रक्षसां कामरूपाणां विज्ञाने का गतिर्मम।
यूयमेवास्य जानीत योऽयं यद्वा करिष्यति॥
अहमप्यतिभीतास्मि नैव जानामि को ह्ययम्।
वेद्मि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम्॥

काम-रूपी राक्षसों का व्यवहार जानने की शक्ति मुझमें नहीं है। इसे आप लोग ही जानें कि यह कौन है और क्या करेगा। मैं भी डर गई हूँ। मैं नहीं जानती कि यह कौन है। मैं तो इसको कामरूपी राक्षस ही समझ रही हूँ।

अपने को विपत्ति में पड़ी देख साध्वी सीता ने असत्य भाषण किया। वे यह भली भाँति जानती थीं कि सारा उपद्रव हनुमान् ने ही किया है। झूठ बोलकर उन्होंने अपनी रक्षा करनी चाही। सती-साध्वी स्त्री के लिये असत्य भाषण निश्चय ही एक गर्हित कार्य है; लेकिन ऐसी परिस्थिति में धर्म-शास्त्र ने भी झूठ बोलने का थोड़ा सा अवसर दिया है—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पंचानृतान्याहुरपातकानि॥

—मनुस्मृति ८–११०।

हँसी में, स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, प्राण की रक्षा के निमित्त, संपत्ति को बचाने के लिये झूठ बोलना पाप नहीं है।

यदि सीता राक्षसियों से झूठ न बोलतीं, तो बड़ा अच्छा होता; लेकिन करुणाजनक परिस्थिति में झूठ बोलने के लिये भी हम उन्हें नहीं कोसते। जीवन में बहुत ममत्व है और वही प्राणों का

रक्षक भी माना जाता है। दुर्विनीत राक्षसियों से अपना पिंड छुड़ाने के लिये ही देवी सीता को असत्य का आश्रय लेना पड़ा। उनका यह कार्य बहुत प्रशंसनीय हुआ, यह कहने की वाचालता तो हम नहीं कर सकते; किंतु विशेष विचार करने पर भी यह कार्य निंदनीय नहीं माना जा सकता।

लंका-दाह के पश्चात् हनुमान् रामचंद्र से मिले और उन्हें सीता देवी का सारा संवाद कहा। सुग्रीव, अंगद, हनुमान् आदि की सहायता से रामचंद्र ने रावण पर विजय पाई। उसके बाद साध्वी सीता अपने पतिदेव रामचंद्र से मिलीं। तब रामचंद्र ने लोकापवाद के भय से यशस्विनी जानकी के चरित्र पर संदेह प्रकट करते हुए अग्नि-परीक्षा का कठोर प्रस्ताव उपस्थित किया। परीक्षा के नाम को सुनते ही सीता के सतीत्व का तेज जाग उठा। वह स्त्रीत्व के अभिमान से उन्मत्त हो उठीं। परीक्षा शब्द ही वस्तु-विशेष के अभाव को सूचित करता है। साध्वी सीता के सतीत्व की परीक्षा लेना उनके चरित्र का अपमान करना है। उन्होंने रामचंद्र को उत्तर दिया—

किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम्।
रूक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव॥
न तथाऽस्मि महाबाहो यथा मामवगच्छसि।
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे॥
पृथक् स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशंकसे।
परित्यजैनां शंकां तु यदि तेऽहं परीक्षिता॥
यदहं गात्रसंस्पर्शं गताऽस्मि विवशा प्रभो।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति॥
मदधीनवस्तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्त्तते।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरी॥

सह संवृद्धभावेन संसर्गेण च मानद ।
यदि तेऽहं न विज्ञाता हता तेनास्मि शाश्वतम् ॥
प्रेषितस्ते महावीरो हनूमानवलोकक: ।
लंकास्थाऽहं त्वया राजन् किं तदा न विसर्जिता ॥
प्रत्यक्षं वानरस्यास्य तद्वाक्यसमन्तरम् ।
त्वया संत्यक्तया वीर त्यक्तं स्याज्जीवितं मया ॥
न वृथा ते श्रमोऽयं स्यात् संशयेत् येन जीवितम् ।
सुहृज्जनपरिक्लेशो न चायं विफलस्तव ॥

—वाल्मीकीय रामायण, युद्धकांड ।

—जैसे नीच जाति के या साधारण पुरुष साधारण स्त्री से रूखी बातें कहते हैं, वैसे ये मेरे अयोग्य और सुनने में दारुण बातें आप मुझे क्या सुनाते हैं ? हे महाबाहो, आप मुझे जैसी समझते हैं वैसी मैं नहीं हूँ । अपने चरित्र की सौगंध खाकर कहती हूँ, आप मुझ पर विश्वास कीजिए । नीच-प्रकृति स्त्रियों की चाल देखकर आप मेरी जाति (स्त्री-जाति) के विषय में आशंका कर रहे हैं । लेकिन यदि आपने परीक्षा लेकर मेरी जाँच कर ली है, तो इस शंका को त्याग दीजिए । यदि आप कहें कि राक्षसों ने मेरे अंगों का स्पर्श कर लिया है, तो उसके लिये मैं क्या कर सकती थी ? लाचार थी । उसमें दैव का अपराध है, मेरा नहीं । अपनी इच्छा से मैंने वैसा नहीं किया । हृदय मेरे अधीन है और वह आपका ही अनुरागी है । मैं अबला असमर्थ पराधीन अंगों के लिये क्या कर सकती थी ? यदि परस्पर साथ रहने से बढ़े हुए अनुराग और संसर्ग से भी आपने मुझको नहीं पहचाना, तो मैं सर्वथा नष्ट हो गई । जब आपने मेरी खोज करने के लिये महावीर को लंका में भेजा था, उसी समय मुझे क्यों न त्याग दिया ? आपकी इन बातों को सुनकर मैं वानर के सामने ही अपना जीवन नष्ट कर

देती। हे वीर, तो फिर यह व्यर्थ काम आपको न करना पड़ता; यह प्राणसंशय-मय युद्ध भी न करना पड़ता; आपके मित्रों को भी अनर्थक कोई कष्ट न उठाना पड़ता।

इतना कहकर जानकी का कंठ भर आया। उनकी आँखों में आँसू छलक उठे। उन्होंने करुण स्वर में लक्ष्मण से कहा—

चितां मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम्।
मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे॥

—हे लक्ष्मण, मेरे लिये तुम जल्द चिता बना दो। इस दुःख से उबारनेवाली यही एक दवा है। मिथ्यापवाद से कलंकित होकर मैं जीवित रहना नहीं चाहती।

सती सीता के आत्माभिमान और महत्त्व की कल्पना से समस्त नारी-जाति पुलकित हो उठेगी! सीता के इस तेज से उनका सारा चरित्र ही उद्भासित हो उठता है। जिसको अपने स्वत्व का गौरव नहीं है, संसार में उसका जीवन ही वृथा है। इस दारुण प्रस्ताव से सीता के आत्म-गौरव में ठेस लगी और वे गर्विता नागिनी की तरह फुफकार उठीं। यह सच है कि पति-पत्नी का संबंध अविच्छिन्न है, अतएव रामचंद्र के इस प्रस्ताव से सीता को क्षुब्ध न होना चाहिए था; लेकिन कोई पतिव्रता नारी अपने सतीत्व को लांछित देख नहीं सकती, चाहे वह लांछन पति द्वारा ही क्यों न लगाया गया हो। सतीत्व ही दांपत्य-संबंध की नींव है। नींव को हिलानेवाला अवश्य ही संबंध की मर्यादा को तोड़ना चाहता है। सीता के विशेष क्षुब्ध और व्यथित होने का यही कारण है। इस स्थल पर देवी सीता के चरित्र की ज्योति इतनी प्रखर है कि हम रामचंद्र को देख भी नहीं पाते हैं। सिंहिनी सीता के हृदय में पर्याप्त ओज और अभिमान भरा हुआ है।

अग्नि-परीक्षा हुई और रामचंद्र ने अपनी प्रिया जानकी का सम्मान के साथ आलिंगन किया। पति के हृदय में लगकर सीता अपने सारे

क्लेशों को क्षण भर में ही भूल गईं। फिर लंका से सब के सब पुष्पक-विमान पर चढ़कर अयोध्या आए। रामचंद्र, लक्ष्मण और सीता को देखकर अयोध्यावासी आनंद-मग्न हो गए। अपने विशिष्ट गुण और शुद्धाचरण से सीता ने परिजन तथा पुरजन दोनों को प्रसन्न किया। अगणित सेवकों के रहते हुए भी यशस्विनी सीता अपने स्वामी रामचंद्र की सेवा अपने हाथों से ही करती थीं। पत्नी-धर्म का यही आदर्श भी है।

वाल्मीकीय रामायण के अंतिम कांड* के कथानक के आधार पर भावुक कवि भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' नामक नाटक की रचना की है। भवभूति ने सीतादेवी की परिहास-रसिकता का एक बड़ा ही सरस उदाहरण दिया है। गर्भवती सीता को प्रसन्न रखने के लिये रामचंद्र भिन्न भिन्न प्रकार से उनका मनोरंजन कर रहे हैं। उसी समय रामायण-संबंधी एक चित्र-पट लाया गया; और लक्ष्मण साध्वी सीता को वह चित्रपट दिखाते हुए कहने लगे—देखिए, ये आर्या सीता हैं, ये आर्या मांडवी हैं, यह वधू श्रुतकीर्त्ति है। बीच में ही ऊर्मिला को दिखाकर सीता ने लक्ष्मण से पूछा—'वत्स ! इयमप्यपरा का ?'—वत्स, और यह दूसरी कौन है ?

भवभूति ने निरपराधा सीता के निर्वासन की कल्पना कर पहले ही अष्टावक्र ऋषि के सम्मुख रामचंद्र से प्रतिज्ञा कराई—

स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

—उत्तर-रामचरित।

---

* वाल्मीकीय रामायण के अंतिम कांड अर्थात् उत्तर-कांड के विषय में कई विद्वानों का यह मत है कि यह सारा कांड वाल्मीकि का नहीं, किंतु पीछे से किसी विद्वान् ने बनाया है। यह कथन असंगत नहीं है तो भी यह कांड बहुत पहले का बनाया हुआ होना चाहिए; क्योंकि भवभूति ने अपने उत्तर-रामचरित की रचना इसी कांड के आधार पर की है।—सं०।

—प्रजा-रंजन के लिये स्नेह, दया, सुख, यहाँ तक कि यदि जानकी को भी छोड़ना पड़े तो मुझे व्यथा न होगी।

राममयी सीता को इस दारुण प्रतिज्ञा से तनिक भी व्यथा नहीं हुई। आत्मचिंता-शून्य होकर उन्होंने इससे परम गौरव का ही अनुभव किया। 'अतएव राघवधुरंधरः आर्यपुत्रः'—आर्यपुत्र, इसी से तो रघुकुल-शिरोमणि हैं—कहकर उन्होंने एक प्रकार से अपनी सम्मति ही प्रकट की।

गुप्तचर दुर्मुख ने बड़े असमंजस में आकर अयोध्यापति रामचंद्र से निवेदन किया—प्रभु! जनपद में कुछ लोग महारानी सीतादेवी के प्रति यह अपवाद लगाते हैं कि बहुत दिनों तक रावण के घर में रहने के कारण वे निंदनीय हैं और अयोध्या की महारानी बनने के योग्य नहीं हैं।

सीता के लोकापवाद का समाचार मिलते ही भवभूति के रामचंद्र ने महारानी को निर्वासन का कठोर दंड दे दिया। उनके हृदय में कुछ भी अंतर्विरोध नहीं, संकल्प-विकल्प का कुछ भी द्वंद्व नहीं। वाल्मीकि के रामचंद्र में थोड़ा सा अंतर्द्वंद्व है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस अप्रिय प्रसंग को छोड़ ही दिया है। मालूम होता है, गोस्वामीजी से जानकी का यह दारुण दुःख देखा नहीं गया, इसी लिये रामचरित-मानस में उन्होंने इतना ही लिखकर छोड़ दिया—

सिय-निंदक अघ-ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए॥

गीतावली में गोस्वामीजी ने मर्म-तलस्पर्शी शब्दों में इस करुण दृश्य का चित्र अंकित किया है, परंतु रामचंद्र को इस अन्याय-विचार के लिये कुछ कहा नहीं*। उनके मौनावलंबन से पता चलता है कि परित्यक्ता जानकी के लिये उन्होंने आँसू बहाए हैं।

* भोग पुनि पितु-आयु को—ऐसा प्रसिद्ध है कि महाराज दशरथ की अकाल-मृत्यु हुई थी। उनकी शेष आयु को रामचंद्र ने भोगा। अपनी

रामचंद्र ने प्रजा-रंजन के लिये साध्वी सीता का परित्याग किया, परंतु हमारी समझ में प्रजा-रंजन का यह आदर्श नहीं होना चाहिए। उन्होंने खूब सोच-विचारकर, राजा के कर्त्तव्य को ध्यान में रखकर, सीता को निर्वासित किया है। यथार्थ में राजा का यह कर्त्तव्य नहीं है। प्रजा की प्रत्येक बात को यथावत् मान लेना किसी भी राजा का नैतिक पतन है। आँख मूँदकर न्याया-धीश के पद पर बैठना किसी को शोभा नहीं देता। सीता उनकी पत्नी थीं, पर इससे क्या, उनके कर्त्तव्य की इति-श्री नहीं हो जाती। सीता के प्रति भी रामचंद्र को एक प्रजा की तरह व्यवहार करना उचित था। वे जानते थे कि सीतादेवी बिलकुल निरपराध हैं। इसी लोकापवाद के भय से उन्होंने लंका-विजय के बाद सीता की अग्नि-परीक्षा ली थी। अयोध्या में सीता पर एक मौखिक अभियोग लगाया गया, परंतु बिना न्याय-विचार से ही सीता को निर्वासन का दंड मिल गया। सीता का भी कुछ अस्तित्व है। उन्हें भी अपनी मर्यादा का विचार है। ऐसी दशा में, बिना अभियोग को प्रमाणित किए ही, दंड देना धर्म-संगत नहीं कहा जा सकता। पतिगतप्राणा, आजन्म-दुःखिनी सीता को एक आधारहीन अभियोग पर बिना विचारे दंड देकर रामचंद्र एक बहुत बड़े कर्त्तव्य-पालन से स्खलित हो गए हैं। हम जानते हैं कि लोक-रंजन राजा का कर्त्तव्य है, किंतु हम यह भी जानते हैं कि लोक-रंजन विधानिक ही होना चाहिए। प्रजा-रंजन राजा का एक सद्‌गुण है, परंतु सद्‌गुण

आयु भर तो उन्होंने जानकी को साथ रखा, पर जब वे अपने पिता की आयु भोगने चले तब उन्होंने जानकी का परित्याग ही उचित समझा। यह और कुछ नहीं रामचंद्र की निर्बलता का पोषक है। सीता का परित्याग घर में रखकर भी हो सकता था। राजमहल में क्या अन्य स्त्रियाँ नहीं थीं? क्या वे सीता को साथ रखकर अनासक्ति और असिधार-व्रत का पालन नहीं कर सकते थे?

भी मर्यादा से बाहर नहीं होना चाहिए। दान देना वास्तव में सद्‌गुण है; लेकिन—'अति दानाद्बलिर्बद्धः'—दान की अधिकता से ही बलि फँसा! रामचंद्र ने भी जिस लोकापवाद को दूर करना चाहा था, वह और भी विशेष रूप से उनके शिर पर चढ़ गया। यहाँ पर सीता का चरित्र बड़ा ही सौम्य है। उन्हें छल से वनवास देकर रामचंद्र ने बड़ी नैतिक दुर्बलता दिखलाई है। हमें विश्वास है, यदि रामचंद्र सीता को छल से निर्वासित न कर उन्हें यह कठोर दंड सामने सुना भी देते, तो भी सीता अपने पतिदेव की आज्ञा शिरोधार्य्य कर लेतीं। अवज्ञा का भाव तो उनमें तनिक भी नहीं है। हम नहीं कह सकते, ऐसी सुशीला नारी के साथ छल करना कितना घोर अन्याय है। जिन राम के लिये यशस्विनी जानकी ने वन में जाकर अनेक कष्ट झेले, उन्हीं राम के मुख से, निर्दोषिता होने पर भी, जानकी को वनवास मिला। यह स्वामी-सेवा का पुरस्कार है। इस निर्वासन के लिये सीता ने कभी न्याय की भिक्षा नहीं माँगी। उन्होंने चुपचाप इस कठोर दंड को अपना लिया। अभी सीता के चरित्र में जितना ही उत्कर्ष मालूम होता है, उतना ही रामचंद्र के जीवन में अपकर्ष है। जब वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचाकर लक्ष्मण अश्रुमुख होकर लौट रहे हैं, तब परित्यक्ता जानकी ने अपना संवाद पतिदेव के लिये कहा है—

जानासि च यथा शुद्धा सीता तत्त्वेन राघव।
भक्त्या च परया युक्ता हिता च तव नित्यशः॥
अहं त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा वने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवादः समुत्थितः॥
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमागतिः।
वक्तव्यश्चैव नृपतिः धर्मेण सुसमाहितः॥
यथा भ्रातृषु वर्त्तेथास्तथा पौरेषु नित्यशः।
परमो ह्येष धर्मस्ते तस्मात्कीर्तिरनुत्तमा॥

यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात् ।
अहन्तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ ॥
यथापवादः पौराणां तथैव रघुनन्दन ।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ॥
प्राणैरपि प्रियं तस्मात् भर्त्तुः कार्यं विशेषतः ।
इति मद्वचनाद्रामो वक्तव्यो मम संग्रहः ॥

—वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड ।

—हे लक्ष्मण, मेरी ओर से महाराज से कहना कि हे राघव, मैं यथार्थ में शुद्धाचारिणी, आप पर अनन्य भक्ति रखनेवाली और हितकारिणी हूँ। हे वीर, आपने लोकापवाद और अयश के भय से मुझको इस प्रकार वन में छोड़ दिया है, यह मैं भी जानती हूँ। आप मेरी परम गति हैं, अतएव आपको लगनेवाले कलंक और अपवाद को दूर करना सर्वथा मेरा कर्त्तव्य है। हे लक्ष्मण, धर्म में अटल महाराज से यह भी कहना कि वे जिस दृष्टि से अपने भाइयों को देखते हैं, उसी दृष्टि से सब पुरवासियों को भी देखें। यही उनका परम धर्म है। उनसे कहना, इसी से आपको श्रेष्ठ और अक्षय कीर्त्ति प्राप्त होगी। आप धर्म के अनुसार प्रजापालन करके जो धर्म-संचय कीजिएगा, वही परम लाभ है। महाराज, मैं अपने शरीर को विपत्तिग्रस्त देखकर ज़रा भी सोच नहीं करती। हे नर-श्रेष्ठ, हे रघुनंदन! पुरवासियों द्वारा लगनेवाले आपके अपवाद की ही मुझे बड़ी चिंता है। उसे दूर करना ही आपका सर्वथा कर्त्तव्य था। स्त्री का परम देवता, बंधु और गुरु पति ही है। इसलिये स्त्री को विशेष रूप से चाहिए कि वह अपने प्राणों को देकर भी पति का प्रिय कार्य करे।

सीता के इस संवाद में सतीत्व का गर्व है। उन्हें अपने दुःख से संतोष है। वे किसी प्रकार भी अपने पति के अयश का कारण

नहीं बनना चाहतीं। सीता के लिये यह निर्वासन तो अशोक-वाटिका से भी अधिक दुःखदायी है। लंका में सीता की सहचरी आशा थी; उनके हृदय में विश्वास था कि प्राणपति से एक दिन अवश्य भेंट होगी। परंतु यहाँ कुछ आशा नहीं है। यह दंड आजीवन रहेगा। रामचंद्र के दर्शन दुर्लभ होंगे। दुःखिनी सीता की इस विपत्ति का जो चित्र भवभूति ने 'उत्तर-रामचरित' में खींचा है, वह स्पष्ट नहीं है। लेकिन इस अस्पष्ट चित्र से भी विरहिणी वैदेही को देखकर हमारे हृदय में जो करुणा जगती है, वह वर्णन करने के योग्य नहीं। वनवासिनी बनकर भी उन्हें अपने रामचंद्र की चिंता सदैव लगी ही रहती है। जब एक बार रामचंद्र उसी वन की ओर आए हैं, और सीता के वियोग में बड़े विह्वल से देख पड़े हैं, तब उनकी यह अवस्था देखकर सीता कहती हैं—'हा आर्यपुत्र, मां मन्दभागिनीमुद्दिश्य सकलजीवलोकमंगलाधारस्य ते वारंवारं संशयित-जीवितदारुणो दशापरिणामः, हा हतोऽस्मि।'—'हा आर्यपुत्र, आप सब जीवलोक के मंगलाधार हैं; किंतु मुझ मंदभागिनी के लिये बार बार जीवन-संशय के कारण दारुण दशा को प्राप्त हो रहे हैं। हाय! मैं सर्वथा हत हुई।'

परित्यक्ता सीता को इस बात की बड़ी व्यथा है कि रामचंद्र मुझे भूल क्यों नहीं जाते। मेरे लिये वे क्यों क्लेश उठा रहे हैं? एक तुच्छ नारी के लिये रामचंद्र जैसे लोक-मंगलकारी पुरुष को इतना क्लेश नहीं उठाना चाहिए। अपना बलिदान देकर भी सीता राम-चंद्र की कल्याण-कामना करती हैं। कोई स्त्री यह कदापि न चाहेगी कि उसका पति उसे भूल जाय; किंतु भगवती सीता यही चाहती हैं। यह इसलिये नहीं कि रामचंद्र से वे अनुराग करना नहीं चाहतीं, बल्कि इसलिये कि उनके अनुराग से मंगल-मूलाधार रामचंद्र को प्राण-संशय-मय क्लेश उठाना पड़ता है। धन्य है यह पति-प्रेम!

वाल्मीकि मुनि के आश्रम में ही सीता के लव-कुश नामक दो यमज पुत्र उत्पन्न हुए। मुनि की इच्छा थी कि अभागिनी सीता को पुनः रामचंद्र अंगीकार कर लें; किंतु रामचंद्र को, इच्छा रहने पर भी, साहस नहीं होता। यज्ञ में सीता की सुवर्ण-प्रतिमा बनाकर कार्य किया गया, परंतु वे सम्मिलित नहीं की गईं। बहुत अनुरोध करने पर रामचंद्र सीता को अंगीकार करने के लिये प्रस्तुत हुए। सीता गेरुए वस्त्र पहनकर प्रजा-मंडली के सम्मुख उपस्थित हुईं। फिर उनसे सतीत्व को प्रमाणित करने का दारुण प्रस्ताव किया गया। यह सुनते ही सीता को बड़ी लज्जा हुई—बड़ी ग्लानि हुई। मुख और आँखें नीची करके हाथ जोड़कर अभिमान और तेज के साथ वे बोलीं—

यथाऽहं राघवादन्यं मनसाऽपि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥

—यदि मैं रामचंद्र के सिवा अन्य किसी पुरुष का ध्यान भी मन में न लाती होऊँ, तो भगवती पृथ्वीदेवी मुझे अपने भीतर स्थान दें। यदि मैं मन से, वाणी से, कर्म से केवल रामचंद्र की पूजा करती हूँ, तो भगवती पृथ्वीदेवी मुझे अपने भीतर स्थान दें। यदि मेरा यह कथन सत्य है कि मैं रामचंद्र के सिवा अन्य किसी को नहीं जानती, तो भगवती पृथ्वीदेवी मुझको अपने भीतर स्थान दें।

सती की इस प्रार्थना से भगवती पृथ्वीदेवी प्रसन्न हो गईं। सती के सत्य में बड़ी मर्यादा है। पृथ्वी फटी और साध्वी सीता उसमें बड़ी ज्योति और गौरव के साथ प्रविष्ट हो गईं! यह पाताल-प्रवेश

निश्चय ही अलौकिक मालूम पड़ता है; लेकिन सती के सत्य और तेज के सम्मुख यह यथार्थ और लौकिक है। अपने सतीत्व को बार बार प्रमाणित करने के दारुण अपमान को सीता नहीं सह सकीं, वे पृथ्वी के नीचे गईं, किंतु हम उन्हें आकाश में खोजते हैं। वे हमसे दूर—बहुत दूर—हैं। कल्पना की आँखों से हम उन्हें देख रहे हैं। वहाँ अपने पूज्य पति रामचंद्र को भी उन्होंने पा लिया है। सती की शक्ति अतुलनीय है। पार्थिव होकर वे अपार्थिव हो गईं। सीतादेवी का चरित्र समस्त नारी-जाति के अभिमान की वस्तु है। हम देवी की दिव्यता के सम्मुख नतमस्तक होकर कहते हैं—धन्य हैं सीता!

---

(२) हिंदी में संयुक्त क्रियाएँ

[लेखक—श्री रमापति शुक्ल, काशी]

(१)

विषय-प्रवेश

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रियाओं की उपस्थिति एक विलक्षण बात है—विलक्षण इसलिये कि इनकी पूर्ववर्तिनी भाषाओं में, जिनसे इनकी उत्पत्ति हुई है, संयुक्त क्रियाओं का अभाव है। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की अपेक्षा हिंदी में संयुक्त क्रियाओं का बाहुल्य है। अतः यदि हम इसे हिंदी भाषा की एक विशेषता कहें ते अनुचित न होगा।

हिंदी में संयुक्त क्रियाओं का आगमन कब और कहाँ से हुआ, यह विषय अभी विवाद-ग्रस्त है; पर इसमें संदेह नहीं कि संयुक्त क्रियाओं का विकास खड़ी बोली के साथ साथ हुआ है। खड़ी बोली के विकास के पूर्व हिंदी में गद्य-साहित्य का पूर्णतया अभाव था। क्रियाओं का जैसा स्वतंत्र और व्यापक प्रयोग गद्य की भाषा में होता है वैसा पद्य में नहीं; पद्य में उनका संकुचित रूप ही व्यवहृत होता है। अतएव यद्यपि व्रजभाषा और अवधी में संयुक्त क्रियाओं का अभाव नहीं है तथापि उनमें खड़ी बोली के समान संयुक्त क्रियाओं का बाहुल्य भी नहीं है।

संयुक्त क्रिया का अर्थ

संयुक्त क्रिया का अर्थ है 'जोड़ी हुई क्रिया'; अर्थात् एक से अधिक क्रियाओं को मिलाकर बनाई हुई क्रिया। संयुक्त क्रिया में एक सहकारी क्रिया का साध्यावस्थापन्न (तिङन्त अथवा काल का रूप) और एक (अथवा दो-तीन) कृदंत रूप रहता है। हिंदी में वास्तविक संयुक्त क्रियाएँ दो प्रकार

की होती हैं—एक काल का बोध कराती है और दूसरी अर्थ में विशेषता उत्पन्न करती है। जैसे, 'चलता है' और 'चल सकता है' दोनों ही क्रियाएँ एक से अधिक क्रियाओं के संयोग से बनी हैं, पर पहली क्रिया में 'होना' क्रिया 'चलना' का समय सूचित करती है और दूसरी में 'सकता है' क्रिया 'चलना' के सामर्थ्य अथवा शक्ति का बोध करती है अर्थात् अर्थ की एक विशेषता सूचित करती है। पहले प्रकार की क्रियाओं की गणना हिंदी के अधिकांश वैयाकरण संयुक्त कालों के अंतर्गत करते हैं और उसे संयुक्त क्रिया न कहकर संयुक्त काल कहते हैं और दूसरे प्रकार की क्रियाओं को ही वे वास्तविक संयुक्त क्रिया मानते हैं। हम भी प्रस्तुत निबंध में प्रचलित परिपाटी का अनुसरण करेंगे और अर्थ में विशेषता उत्पन्न करनेवाली क्रियाओं का ही विवेचन करेंगे।

हम ऊपर कह चुके हैं कि संयुक्त क्रियाओं की उत्पत्ति के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। किसी किसी के मत से संयुक्त क्रियाओं की उत्पत्ति द्रविड़ प्रभाव के कारण हुई और कोई कोई उन्हें फारसी भाषा की देन समझते हैं। नीचे हम उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर संयुक्त क्रियाओं की उत्पत्ति का पता लगाने का प्रयत्न करेंगे।

यह बात सर्व-सम्मत है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी वैदिक-कालीन भाषा है जिसका साहित्यिक रूप वेदों में विद्यमान है। उस आदिम भाषा का विकसित और परिष्कृत रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत दोनों ही में उपसर्गों का बाहुल्य है। इन उपसर्गों के द्वारा धात्वर्थों में कई प्रकार के परिवर्तन किए जा सकते हैं। जैसे 'हृ' धातु में 'आ', 'प्र', 'वि', 'सम्', 'उप' आदि उपसर्ग लगाने से 'आहरति', 'प्रहरति',

संयुक्त क्रियाओं की उत्पत्ति का कारण

'विहरति', 'संहरति', 'उपहरति' आदि भिन्न भिन्न अर्थों की द्योतक क्रियाएँ बन सकती हैं। हिंदी में इस प्रकार के उपसर्गों का अभाव है। पर इनके स्थान पर धात्वर्थों में परिवर्तन करने के लिये हमारी भाषा में अन्य प्रकार के साधन हैं। हिंदी में भिन्न भिन्न कृदंतों के साथ भिन्न भिन्न सहकारी क्रियाओं का प्रयोग करके मूल धातुओं से भिन्न भिन्न अर्थों की बोधक क्रियाएँ बनाई जाती हैं। जैसे 'चल' में 'चुकना', 'देना', 'पड़ना', 'लेना', 'होना' आदि सहकारी क्रियाओं का संयोग करने से 'चल चुकना', 'चल देना', 'चल पड़ना', 'चल लेना', 'चलता होना' आदि अनेक अर्थों की बोधक क्रियाएँ बनती हैं। अतएव यह बात स्पष्ट जान पड़ती है कि संस्कृत के उपसर्गों का स्थान हमारे यहाँ सहायक क्रियाओं ने ले लिया है।

संयुक्त क्रियाओं की उत्पत्ति और विकास

अब प्रश्न यह उठता है कि जब हमारी भाषा का उद्गमस्थान वैदिक-कालीन भाषा ही है, जिससे समस्त आर्य भाषाओं की उत्पत्ति हुई है, तब हमारी हिंदी भाषा में उपसर्गों के बदले सहकारी क्रियाओं का प्रयोग कहाँ से आ गया? प्रायः भाषा के विकास की तुलना नदी के नैसर्गिक प्रवाह से की जाती है। जिस प्रकार स्वच्छंद गति से प्रवाहित होनेवाली कल्लोलिनी भिन्न भिन्न नदी-नालों के सहयोग से क्रमशः विस्तृत होती जाती है और कालांतर में उसकी पूर्वावस्था में परिवर्तन होकर उसका एक नवीन रूप प्रकट होता है, वह एक सामान्य नाली से बढ़कर बृहद् नद का रूप धारण करती है, उसी प्रकार भाषा भी अन्य भाषाओं के संसर्ग और सहयोग से प्रभावित होकर बहुत कुछ परिवर्तित हो जाती है और कालांतर में उसका एक ऐसा रूप प्रकट होता है जो उसके पूर्व रूप से सर्वथा भिन्न जान पड़ता है। जब वैदिक-कालीन भाषा से भिन्न भिन्न प्राकृतों की उत्पत्ति और उनसे अपभ्रंशों की तथा अप-

अशों से आधुनिक देश भाषाओं की उत्पत्ति हुई तब मूल-भाषा की बहुत सी विशेषताएँ तो हमारी देश-भाषाओं में बहुत कुछ अपरिवर्तित रूप में आईं, परंतु बहुत सी बातों में इतने परिवर्तन हुए कि उनका मूल-भाषा से कोई संबंध ही नहीं जान पड़ता। हिंदी में संयुक्त क्रियाओं की उपस्थिति भी इसी प्रकार की एक विलक्षण वस्तु है। हमारी भाषा को वैदिक-कालीन भाषा से वियुक्त हुए इतना अधिक समय—सहस्रों वर्ष—बीत गया एवं उस पर देश, काल, परिस्थिति आदि के इतने प्रभाव पड़े कि नवीन रूपों और प्रयोगों का आजाना स्वाभाविक है। और संयुक्त क्रियाओं की उत्पत्ति में यदि द्रविड़ अथवा फारसी भाषा का प्रभाव पड़ा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर विदेशी प्रभाव का दिग्दर्शन कराने के पूर्व हम अपने यहाँ की आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रियाओं का सूत्र ढूँढ़ने का उद्योग करेंगे। नीचे वैदिक काल से लेकर हिंदी के आरंभ होने तक संयुक्त क्रियाओं का क्रमिक विकास दिया जाता है।

वेदों की संहिता में तो प्रायः संयुक्त क्रिया का अभाव है परंतु ब्राह्मणों में उनका क्वचित् प्रयोग मिलता है। विशेषकर परोक्षभूत

वैदिक और संस्कृत काल में संयुक्त क्रियाएँ

(लिट् लकार) में ही संयुक्त क्रिया के दर्शन होते हैं। सबसे पहले 'कृ' धातु सहकारी क्रिया के रूप में प्रयुक्त होने लगा और 'बोधयांचकार', 'वरयांचकार' आदि रूप बनने लगे। अथर्ववेद में इस प्रकार का केवल एक उदाहरण मिलता है, वह है 'गमयांचकार'। तत्पश्चात् क्रमशः 'अस्' और 'भू' धातुओं के प्रयोग भी सहकारी क्रिया के रूप में होने लगे किंतु 'भू' का प्रयोग संकुचित ही रहा*।

* "सहकारी क्रिया के रूप में 'भू' का प्रयोग महाभारत में केवल ४ बार, रघुवंश में ६ बार और कुछ अन्य ग्रंथों में इने गिने स्थलों पर ही हुआ है।"

—ह्विट्ने।

आगे चलकर 'अस्' की प्रधानता हो गई और 'कृ' का प्रयोग भी कम हो गया। 'मंत्रयांचकार' के बदले 'मंत्रयामास' (ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मण) और इसी प्रकार 'जनयामास' (श्वेताश्वतरोपनिषद्), 'ईक्षामास' (शांखायन श्रौत सूत्र) आदि प्रयोग होने लगे।

'कृ', 'भू' तथा 'अस्' के अतिरिक्त 'धा', 'वस्', 'क्रम्' आदि कुछ अन्य धातु भी सहकारी क्रिया की भाँति भूतकालिक रूपों में व्यवहृत होते थे। जैसे—'पूरयांव्यधुः', 'मृगयामवासीत्' (वीरचरित्र), 'वरयांप्रचक्रमुः' (महाभारत)।

'कृ' धातु के कुछ और उदाहरण निम्नलिखित हैं—'रमयामकः' (काठक), 'जनयामकः' (मैत्रायणी संहिता), 'स्वादयामकः', स्थापयामकः' (मैत्रायणी संहिता), 'विदामक्रन्' (तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण और मैत्रायणी संहिता)*

भूतकाल के अतिरिक्त कुछ अन्य कालों और लकारों में भी संयुक्त क्रियाएँ मिलती हैं; जैसे—'जुहवांकरोति' (शांखायन श्रौत सूत्र), 'विदांकरोति', 'विदांकरोतु' इत्यादि। आशिषिलिङ् में केवल 'पावयांक्रियात्' (मै० सं०) ही मिलता है।

उपर्युक्त संयुक्त क्रियाओं में सहकारी क्रियाओं का ऐसा अव्यवहित प्रयोग नहीं होता था कि कृदंत और सहकारी क्रिया के काल के रूप (साध्यावस्थापन्न क्रिया) के बीच में व्यवधान न हो सके वरन् ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ बीच बीच में शब्दों का व्यवधान होता है। जैसे—'मीमांसामेव चक्रे' (शतपथ ब्रा०), 'विदां वा इदमयंचकार' (जैमिनीय ब्राह्मण)। इसी प्रकार हिंदी में 'खा भी तो नहीं सकता', 'गिर ही तो पड़ा', 'देखेहीगा' आदि प्रयोग बराबर देखे जाते हैं।

---

* अभ्युत्सादयां प्रजनयां चिकयां रमयामकः पावयांक्रियाद्विदामक्रन्निति छन्दसि।—अष्टाध्यायी ३। १। ४२।

ब्राह्मणों में तो ऐसे प्रयोग मिलते ही हैं लौकिक संस्कृत में भी कविकुलगुरु कालिदास ने इस प्रकार के व्यवहित प्रयोग किए हैं जिसे आजकल के संस्कृतज्ञ 'कालिदास की निरंकुशता' कहते हैं। कालिदास भाषा की प्रकृति को जाननेवाले थे। उन्होंने जब देखा कि प्राचीन संस्कृत में व्यवधान का नियम था तब वे क्यों न ऐसा प्रयोग करें। अतः उन्होंने निःसंकोच भाव से 'तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्' और 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार' आदि प्रयोग कर डाले। फिर महर्षि पाणिनि के जिस सूत्र से परोक्षभूत में अनुप्रयोग करने का नियम है उसमें अव्यवधान का कोई उल्लेख नहीं है*। इसके अतिरिक्त 'तं प्रथमं पातयामास' में वह प्रौढ़ि (Emphasis) नहीं है जो 'तं पातयां प्रथममास' में है। इसी प्रकार 'प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार' का 'यो नहुषं प्रभ्रंशयाञ्चकार' कर देने पर अर्थ की विशेषता ही लुप्त हो जाती है। 'गिर पड़ा' कहने की अपेक्षा 'गिर ही तो पड़ा' कहने में भाव की जो तीव्रता आ जाती है उसे सभी लोग जानते हैं। अतएव उपर्युक्त प्रयोगों में कालिदास की निरंकुशता नहीं प्रत्युत दूरदर्शिता झलकती है।

लौकिक संस्कृत में एक ऐसा काल (लकार) है जो सहकारी क्रियाओं के ही आश्रित है। 'लुट्' में 'अस्' धातु के वर्तमान-कालिक रूपों का सहकारी क्रिया के रूप में बराबर प्रयोग होता है। जैसे—

बोधितासि	बोधितास्थः	बोधितास्थ
बोधितास्मि	बोधितास्वः	बोधितास्मः

इसी के सादृश्य पर बनाए हुए आत्मनेपद के रूपों में भी 'अस्' धातु विद्यमान है—

---

* कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि—३। १। ४०।

कर्तासे	कर्तासाथे	कर्ताध्वे
कर्ताहे	कर्तास्वहे	कर्तास्महे

हिंदी के भविष्यत्कालिक चिह्न 'गा' को भी कुछ लोग इसी प्रकार 'गम्' का घिसा हुआ रूप बतलाते हैं* ।

उत्तर काल की संस्कृत में 'कर्तुं लग्नः' और 'कालंकरोति' (स कालं यदि कुर्वीत को (कां) लभते ततो गतिम्) के समान प्रयोगों की कमी नहीं है। ललितविस्तर और प्रबंध-चिंतामणि में ऐसे अनेक प्रयोग पाए जाते हैं।

प्राकृत काल

प्राकृत-काल में संयुक्त क्रियाओं का पूर्णतया अभाव है। इसके कई कारण हो सकते हैं। पहली बात तो यह है कि प्राकृत के उपलब्ध ग्रंथ ही इने-गिने हैं। दूसरा कारण यह हो सकता है कि संस्कृत के बहुत से कालों (लकारों) का प्राकृत में लोप हो गया। संस्कृत के जिन कालों (लकारों) में संयुक्त क्रियाओं का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं उनमें से कितने ही लुप्त हो चुके थे और प्रायः सभी सरल कर लिए गए थे। अतएव संयुक्त क्रियाओं के प्रयोग का अवसर ही नहीं रह गया था।

अपभ्रंश काल में संयुक्त क्रियाएँ

अपभ्रंश-काल में यत्किंचित् संयुक्त क्रियाओं का पता चलता है, यद्यपि अपभ्रंश का उपलब्ध साहित्य प्राकृत की अपेक्षा और भी कम है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में कुछ दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिंदी के दिए हैं। उन दोहों में कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो हिंदी की संयुक्त क्रियाओं के मूल-रूप कहे जा सकते हैं। जैसे— 'भुंजहि न जाइ' (भोक्तुं न याति)=भोगा नहीं जाता। यहाँ 'भोगा जाना' संयुक्त क्रिया का सव्यवधान प्रयोग हुआ है। इस

* दे० भांडारकर का "विल्सन फाइलोलॉजिकल लेक्चर्स" पृष्ठ १२ ।

प्रकार की संयुक्त क्रियाएँ हमारे यहाँ कर्मवाच्य में अनेकों मिलती हैं। इसी प्रकार 'जाणिज्जइ' और 'लज्जिज्जइ' में 'जाना जाता है' और 'लजाया जाता है' के बीज विद्यमान जान पड़ते हैं और 'अब्भि-डही' से 'आ भिड़े' की ओर संकेत स्पष्ट ही है* ।

बड़ौदा की गायकवाड़-ओरिएंटल-सीरीज का तेरहवाँ ग्रंथ है प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह। इस पुस्तक में प्राचीन गद्य के उपलब्ध उदाहरण दिए हैं, जिनका समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के लगभग है। उसमें कुछ संयुक्त क्रियाएँ मिलती हैं। जैसे—'कीधउँ हुइ', 'पहुँची न सकइँ' (=पहुँच नहीं सकते अर्थात् बराबरी नहीं कर सकते), 'कहिवा लागा' (=कहने लागा), 'करिवा लागा', 'नासिवा लागूँ', 'बाजिबा लागा', 'पयसी रहिउ' (=पैठ रहा) इत्यादि। ये जो कुछ थोड़े उदाहरण मिले हैं उनके आधार पर हम कह सकते हैं कि संयुक्त क्रियाएँ अपभ्रंश में थीं और कम से कम अविकसित रूप में तो अवश्य ही थीं।

विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में विद्यापति ठाकुर ने 'अवहट्ठ' (अपभ्रंश) का एक ग्रंथ 'कीर्तिलता' लिखा। उसमें 'किनइते पावथि' [कीन< (सं०) क्रीण] = "खरीद सकता है" का प्रयोग मिलता है और उनके सौ वर्ष बाद कबीरदासजी के ग्रंथों में संयुक्त क्रियाओं के बहुत उदाहरण मिलते हैं। यहाँ दो उदाहरण दिए जाते हैं—'सकै तो ठाहर लाइ' (=यदि ठहरा सकते हो तो ठहरा लो), 'बहोड़ि लेहु' (लौटा लो)।

जिन लोगों का यह कहना है कि संयुक्त क्रियाएँ फारसी भाषा से आई हैं उनका कथन तो सर्वथा निर्मूल है, पर जो लोग संयुक्त क्रियाओं को अनार्यों से प्रभावित बतलाते हैं उनकी उक्ति में कुछ बल है और उस पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

* दे० नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संदर्भ)—भाग २ संख्या ४।

आर्यों पर अनार्य अथवा द्रविड़ प्रभाव बहुत प्राचीन काल में ही लक्षित होने लगा था। भाषा-वैज्ञानिकों का मत है कि देवनागरी वर्णमाला का टवर्ग अनार्यों के संसर्ग से उत्पन्न हुआ। इसका प्रमाण यह दिया जाता है कि वेदों में टवर्गयुक्त शब्दों की कमी है और संस्कृत में टवर्ग से आरंभ होनेवाले धातु भी कुछ थोड़े से ही हैं जिनके पर्याय धातु उक्त भाषा में विद्यमान हैं। अणु, अरणि, कटुक, विकट आदि वेदों में आए हुए शब्द अनार्यों से प्रभावित बतलाए जाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि संस्कृत का 'लुट्' लकार सिद्धांततः द्रविड़ है एवं कृदंतों का बहुल प्रयोग भी अनार्य प्रभाव द्योतित करता है*। पाली और प्राकृत की उत्पत्ति भी अनार्यों के ही प्रभाव से हुई है†। आधुनिक आर्य भाषाओं तथा द्रविड़ भाषाओं में भी बहुत सी समानताएँ हैं, जिनका संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाता है ‡—

संयुक्त क्रियाओं पर द्रविड़ प्रभाव

(१) परसर्गों का प्रयोग।

(२) संज्ञा के बहुवचन में एक सामान्य चिह्न लगाकर एकवचन के समान ही रूपांतर करना।

(३) संबंध-वाक्य का विधानार्थक वाक्य से पूर्व प्रयोग।

(४) कृदंतों का बहुल प्रयोग।

(५) सहकारी क्रियाओं का प्रयोग।

उल्लिखित समानताओं से ज्ञात होता है कि आर्यों का अनार्यों से बहुत आदान-प्रदान हुआ है। जहाँ हमने अनार्यों की संस्कृति और

---

* दे० डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का Origin and Development of Bengali Language पृष्ठ १७४।

† दे० डा० भांडारकर का Wilson Philological Lectures पृष्ठ ४८।

‡ दे० कौल्डबेल का comparative grammar of Dravidian.

उनके देवताओं आदि का ग्रहण किया वहाँ भाषा के संबंध में उदासीन रहना संभव नहीं था; अतएव अनुमान किया जा सकता है कि हमारी संयुक्त क्रियाओं पर अनार्यों का प्रभाव—यदि बहुत नहीं तो थोड़ा सा ही सही—अवश्य पड़ा होगा। हम यह कह सकते हैं कि हमारी संयुक्त क्रियाएँ द्रविड़ नहीं हैं परंतु वे द्रविड़ भाषाओं के अनुकरण पर बनाई हुई जान पड़ती हैं।

उपसंहार

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है कि संयुक्त क्रियाएँ बीज रूप से संस्कृत में ही विद्यमान थीं। देश-कालानुसार उनका क्रमशः विकास होता गया और अपभ्रंश-काल में कृदंतों के प्रचुर प्रयोग के साथ ही साथ संयुक्त क्रियाओं का भी प्रचार बढ़ा एवं हिंदी में—विशेषकर खड़ी बोली में—आकर उनका पूर्ण विकास हुआ। अगले अध्याय में संयुक्त क्रियाओं के स्वरूप पर विचार किया जायगा और उनका रूपात्मक वर्गीकरण भी किया जायगा।

(२)

संयुक्त क्रिया की परिभाषा

"धातुओं के कुछ विशेष कृदंतों के आगे (विशेष अर्थ में) कोई कोई क्रियाएँ जोड़ने से जो क्रियाएँ बनती हैं उन्हें संयुक्त क्रिया कहते हैं*।" संयुक्त क्रिया की इस परिभाषा में 'कुछ विशेष', 'कोई कोई' आदि अनिश्चय-बोधक पदों के आने से यह परिभाषा बहुत कुछ संदिग्ध एवं अस्पष्ट हो गई है। इस परिभाषा के आधार पर संयुक्त क्रिया की कोई परख नहीं बनाई जा सकती। संयुक्त क्रिया का अर्थ है जोड़ी हुई क्रिया। जोड़ी हुई से यहाँ ऐसे संयोग से तात्पर्य है जिसमें संयुज्यमान अवयवों के पृथक् अर्थ भासित न हों, वरन् संपूर्ण संयुक्त क्रिया एक अर्थ का बोध करनेवाली हो।

* कामताप्रसाद गुरु का हिंदी व्याकरण पृष्ठ ३१३।

अतएव संयुक्त क्रिया की परिभाषा इस प्रकार होनी चाहिए—सिद्धावस्थापन्न क्रिया (कृदंत), संज्ञा या विशेषण के साथ साध्यावस्थापन्न क्रिया (तिङंत अथवा काल के रूपोंवाली क्रिया) के ऐसे संयोग को संयुक्त क्रिया कहते हैं जिसमें संयुज्यमान अवयवों के स्वतंत्र अर्थ भासित न हों, किन्तु समस्त संयोग एक समन्वित अर्थ का अभिधान करे।

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जहाँ संयुज्यमान अवयवों के पृथक् पृथक् अर्थों का बोध होगा वहाँ संयुक्त क्रिया न होगी। जैसे, 'कर देखो' और 'कर डालो' दोनों ही क्रिया-समूहों में सिद्धावस्थापन्न और साध्यावस्थापन्न क्रियाओं का संयोग सा जान पड़ता है; पर पहले क्रिया-समूह में 'कर' और 'देखो' दोनों ही क्रियाएँ अपना स्वतंत्र अर्थ रखती हैं, एक क्रिया के समाप्त होने के पश्चात् दूसरी क्रिया का विधान होता है। पर दूसरे क्रिया-समूह में यह बात नहीं है, उसमें दोनों क्रियाओं का घनिष्ठ संयोग हो गया है और उससे एक अर्थ का अभिधान होता है। अतएव दूसरा क्रिया-समूह ही संयुक्त क्रिया कहलाने योग्य है।

हिंदी के अधिकांश वैयाकरणों का मत है कि संयुक्त क्रियाओं में सिद्धावस्थापन्न क्रियाएँ प्रधान रहती हैं और साध्यावस्थापन्न क्रियाएँ अप्रधान, अतएव वे लोग साध्यावस्थापन्न क्रियाओं को सहकारी क्रियाएँ कहते हैं। पर ढूँढ़ने पर ऐसी संयुक्त क्रियाएँ भी मिलती हैं जहाँ साध्यावस्थापन्न क्रियाओं की प्रधानता रहती है; जैसे—चले आओ, चला गया, पच मरा, छका मारा इत्यादि। अतएव साध्यावस्थापन्न क्रियाएँ सर्वदा अप्रधान नहीं रहतीं, केवल सहकारी क्रिया का कार्य ही करती हैं।

संयुक्त क्रियाओं में विशेषकर निम्न-लिखित क्रियाएँ ही साध्यावस्थापन्न रूपों में आती हैं—

आना, उठना, करना, चलना, चाहना, चुकना, जाना, डालना, देना, पड़ना, पाना, बनना, बैठना, रहना, लगाना, लेना, सकना और होना।

इनके अतिरिक्त कुछ और क्रियाएँ हैं जिनका प्रयोग साध्यावस्थापन्न क्रिया के रूप में संयुक्त क्रियाओं में होता है; पर वे क्रियाएँ अधिक व्यापक नहीं हैं। अतएव इस अध्याय के अंत में उनका उल्लेख होगा।

सिद्धावस्थापन्न क्रियाएँ निम्न-लिखित चार रूपों में आती हैं—

(१) पूर्वकालिक क्रिया के रूप में।

(२) क्रियार्थक संज्ञा (क्रिया के सामान्य रूप) के रूप में।

(३) वर्तमानकालिक कृदंत के रूप में।

(४) भूतकालिक कृदंत के रूप में।

पूर्व-कालिक क्रिया के योग से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ

संयुक्त क्रियाओं में आनेवाली अधिकांश सिद्धावस्थापन्न क्रियाएँ पूर्वकालिक क्रिया के रूप में ही पाई जाती हैं और इनके साथ आने-वाली साध्यावस्थापन्न क्रियाएँ प्रायः सर्वत्र अप्रधान रहती हैं एवं सहकारी क्रिया का कार्य करती हैं। निम्न-लिखित सहकारी क्रियाओं के साथ पूर्वकालिक क्रियाओं का संयोग होता है—

आना, जाना, उठना, चलना, चुकना, डालना, देना, पड़ना, पाना, बैठना, लेना, रहना और सकना।

हिंदी में धातु के मूल-रूप में 'कर', 'के' अथवा 'करके' जोड़ने से पूर्वकालिक क्रिया बनती है। कभी कभी इन चिह्नों का लोप कर दिया जाता है और तब पूर्वकालिक क्रिया का रूप धातु के मूल-रूप के समान हो जाता है। संयुक्त क्रियाओं में चिह्न-रहित पूर्व-कालिक क्रियाएँ ही आती हैं। यही कारण है कि बहुत से वैयाकरण इन क्रियाओं को पूर्वकालिक क्रिया नहीं मानते, अपि तु धातु

का मूल-रूप बतलाते हैं। किंतु जब हम अन्य आधुनिक आर्य भाषाओं से हिंदी का मिलान करते हैं तब इस विवाद का अंत हो जाता है। मराठी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं में धातु के मूल-रूप और पूर्वकालिक क्रिया के रूप में अंतर होता है और उक्त भाषाओं में ऐसे स्थलों पर पूर्वकालिक क्रियाओं का ही प्रयोग होता है; जैसे—करून चुकणेँ (म०), देखी चुकवूँ (गु०), बलिया चुकन (बं०)। इनमें करून, देखी और बलिया क्रमशः 'कर', 'देख' और 'बल' (बोल) धातुओं के पूर्वकालिक रूप हैं। व्रजभाषा और अवधो में भी पूर्वकालिक क्रिया का एतादृश रूप प्रयुक्त होता है। जैसे—

'कहि न सकइ सारदा बिमलमति।'—तुलसी।

'मोहिँ झकझोरि डारी, कंचुकी मरोरि डारी,
तोरि डारी कसनि बिथोरि डारी बेनी त्यौं।'

—पदमाकर।

जब हम संयुक्त क्रिया में आनेवाली पूर्वकालिक क्रियाओं के अर्थ पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि वे सर्वत्र अन्वित नहीं हैं; किन्तु अधिकांश अनन्वित हैं अर्थात् साध्यावस्थापन्न क्रिया के साथ उनके पूर्वकालिकत्व का कोई संबंध नहीं है। जैसे—'गिर गया' और 'गिर कर गया' के अर्थों में महान् अंतर है। इसी प्रकार 'उठ पड़ा' का अर्थ 'उठकर पड़ा (गिरा)' कदापि नहीं हो सकता। पर कहीं कहीं अन्वित क्रिया के भी उदाहरण मिलते हैं। जैसे—'उठा लिया' और 'उठाकर लिया' में चाहे शब्दभेद के कारण अंतर दिखाई पड़ता हो परंतु वास्तव में कोई अंतर नहीं है।

अन्वितार्थक क्रिया का एक अच्छा उदाहरण है 'छोड़ देना'। जब हम कोई वस्तु किसी को देते हैं तब उससे अलग होते हैं। अतएव देने में अलग होने का भाव रहता है। इस प्रकार छोड़ देने का

अर्थ होगा 'छोड़कर अलग हो जाना' और कह दिया=कहकर अलग हो गया। अब इसी के अनुकरण पर चल दिया, हँस दिया, रो दिया आदि क्रियाएँ गढ़ ली गईं जो अन्वित नहीं हैं।

आना, डालना, बैठना, लेना और देना के साथ अनुप्रयुज्यमान अवयव प्रायः अन्वित रहते हैं। जैसे—

बादल घिर आए=घिरकर आए।

पानी बढ़ आया=बढ़कर आया।

उनमिवि आई बादरी।—कबीर।

मार डालना=मारकर डालना (फेंकना)। मि० बं० खाइया फेला या खेए फेला=खा डाला (फेला=डाला)*।

सारी लज्जा खो बैठा (=खोकर बैठा)।

मैंने तुम्हारा संदेशा कह दिया (=कहकर दिया)।

तुमने पुस्तक उठा ली (=उठाकर ली)।

अन्वितार्थक और अनन्वितार्थक क्रियाओं के अतिरिक्त कभी कभी समानार्थक क्रियाएँ भी मिलती हैं। जैसे—गिर पड़ा, ले लिया, दे दिया, फेंक डाला इत्यादि।

इसके विपरीत कभी कभी विरुद्धार्थक क्रियाएँ भी आती हैं। जैसे—उठ पड़ा, उछल पड़ा इत्यादि।

बहुत सी सिद्धावस्थापन्न क्रियाएँ, जो संयोग में आती हैं, यद्यपि रूप के अनुसार पूर्वकालिक क्रिया जान पड़ती हैं पर अर्थ के अनुसार कभी तो वे भूतकालिक कृदंत हो जाती हैं, कभी मूल धातु और कभी और कुछ। जैसे—'सो रहा' में सोकर रहने का भाव नहीं है, सोए हुए रूप में रहना भासित होता है। इसे संस्कृत के 'सुप्तः तस्थौ' का रूपांतर मानने पर अर्थ की संगति ठीक

* दे० सुनीतिकुमार चटर्जी का वही, पृष्ठ १०५२।

बैठती है। अतएव 'सो' रूप के अनुसार पूर्वकालिक क्रिया है पर अर्थ के अनुसार भूतकालिक कृदंत। इसी प्रकार पड़ रहा, बैठ रहा इत्यादि।

'जाना' क्रिया संस्कृत के 'या' धातु और उसका भूतकालिक रूप गम् धातु के 'गतः' कृदंत से व्युत्पन्न हुआ है। 'या' और 'गतः' का अर्थ 'जाना' के अतिरिक्त 'प्राप्त होना' भी होता है। जैसे—सुप्तिं गतः (=सोने को प्राप्त हुआ या पहुँचा)। पात्रतां याति (=पात्रता को प्राप्त करता है)।

अतएव हिंदी में भी 'जा' धातु का अर्थ कभी कभी 'प्राप्त होना' होता है। जैसे—'आ जाना' (=आकर प्राप्त होना), 'मर जाना' (=मरने को प्राप्त होना)। अंतिम क्रिया में 'मर' का अर्थ 'मर-कर' नहीं वरन् 'मृत्यु को' होता है, अर्थात् संस्कृत के 'तुम्' प्रत्यय का अर्थ निकलता है। अतएव कभी कभी पूर्वकालिक क्रियाएँ निमित्तार्थक क्रिया का भी अर्थ देती हैं।

कभी कभी संयुज्यमान पूर्वकालिक क्रिया का अर्थ वर्त्तमान-कालिक कृदंत का सा होता है। जैसे—

'बस, दिखा चले अपनी आध्यात्मिकता?'—पं० रामचंद्र शुक्ल।

'यहाँ दिखा चले' का अर्थ है 'दिखाते हुए चले'। इसी प्रकार कह चलना, कर चलना इत्यादि।

संयुक्त क्रियाओं में संयुज्यमान क्रियार्थक संज्ञा या क्रिया का सामान्य रूप विकृत और अविकृत दो अवस्थाओं में आता है—

क्रियार्थक संज्ञा (क्रिया के सामान्य रूप) के योग से बनी हुई क्रियाएँ

(१) 'चाहना', 'पड़ना' और 'होना' के पूर्व अविकृत क्रियार्थक संज्ञाएँ संयुक्त होती हैं। इनमें से 'चाहना' के साथ सर्वत्र अविकृत रहती हैं; जैसे—'जाना चाहता है, जाना चाहती है, जाना चाहते हैं, जाना चाहती हैं। पर 'पड़ना' और 'होना' के साथ लिंग, वचन

आदि के कारण क्रियार्थक संज्ञा में विकार होता है। जैसे—भोजन करना पड़ेगा, पुस्तक लेनी पड़ेगी, रुपए देने पड़ेंगे, पुस्तकें देनी पड़ेंगी। ग्रंथ लेना होगा, पुस्तक लेनी होगी, ग्रंथ लेने होंगे, पुस्तकें लेनी होंगी। 'रहना' के साथ भी कभी कभी विकृत क्रियार्थक संज्ञा आती है। जैसे—'तुम्हें रुपए लेने रहते हैं, तो मेरे पास आते हो'। मुझे पुस्तक लेनी रहती है तो चौक जाता हूँ।

(२) 'देना', 'पाना' और 'लगना' के साथ क्रियार्थक संज्ञाएँ केवल विकृत रूपों में ही आती हैं। जैसे—लेने दोगे, लेने दोगी; खाने पाओगे, खाने पाओगी; जाने लगा, जाने लगी।

अपभ्रंश का एक सूत्र है—"तुमेवमणाणहमणहिं च"। इसका अर्थ यह है कि तुम् प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश में एवं, अण, अणहं और अणहिं प्रत्यय होते हैं। इन्हीं प्रत्ययों से हिंदी की क्रियार्थक संज्ञाएँ (क्रिया के सामान्य रूप) बनी हैं। अण प्रत्यय से करन, आवन, जान, देखन आदि रूप बने और उन्हीं से करना, आना, जाना, देखना आदि की उत्पत्ति हुई; अथवा करणहं > करनअं > करना। तुम् प्रत्यय का प्रयोग निमित्तार्थ में होता है; जैसे—यातुम् = जाने के लिये, पातुम् = पीने के लिये, दातुम् = देने के लिये, इत्यादि। अतएव करना, आना, जाना, देना इत्यादि का अर्थ—करने के लिये, आने के लिये, जाने के लिये, देने के लिये इत्यादि होगा; परंतु बहुधा 'के लिये' का लोप रहता है। जैसे—

नहाने जाता हूँ = नहाने के लिये जाता हूँ।

खाने जाता है = खाने के लिये जाता है।

मारने आता है = मारने के लिये आता है।

'आना' और 'जाना' के साथ 'तुम्' का अर्थ स्पष्ट है; पर अन्य क्रियाओं के साथ इतना स्पष्ट नहीं है। जैसे—

करने देना = करने के लिये (आज्ञा) देना।

चलने पाना = चलने के लिये (अवकाश) पाना।

खाने लगना = खाने के लिये लगना (योग देना)*।

वर्तमान कालिक कृदंत के योग से बनी हुई क्रियाएँ

आना, जाना, बनना और रहना के साथ वर्तमानकालिक कृदंतों का समभिव्याहार होता है। जैसे—रामलीला सैकड़ों वर्षों से होती आती है। समय बदलता जाता है। लड़की काम करती जाती है और रोती जाती है। तुम्हीं से कहते बनता है। हमसे चलते नहीं बनता। काम करके चलता बना। माता-पिता की सेवा करते रहो।

'होना' के साथ केवल 'चलना' का समभिव्याहार वैकल्पिक रूप में होता है। जैसे—चलता होना = चलता बनना।

वर्तमानकालिक कृदंतों के संयोग में एकार्थीभाव की प्रतीति नहीं होती। अतएव ये क्रियाएँ संयुक्त क्रिया की कसौटी पर खरी नहीं उतर सकतीं।

भूतकालिक कृदंत के योग से बनी हुई संयुक्त क्रियाएँ

आना, करना, चाहना, जाना, डालना, देना, पड़ना और लेना के पूर्व विकृत अथवा अविकृत भूतकालिक कृदंतों का समभिव्याहार होता है।

'करना' और 'चाहना' के साथ केवल अविकृत भूतकालिक कृदंतों का ही समभिव्याहार होता है। जैसे—वह आया करता है। तुम देखा करते हो। "देखा करूँ दृगों से गंगे! बहार तेरी।" मैं आया चाहता हूँ। तुम देखा चाहते हो।

'पड़ना' के साथ भी अविकृत कृदंतों का समभिव्याहार होता है; पर लिंग-वचन के अनुसार उनमें विकार होता है। जैसे—लड़की

---

* ग्रीव्ज महाशय का कहना है कि 'कहने लगा' में 'कहने' अधिकरण कारक में है। (दे० Hindi Grammar, page 328)। पर इस मत का खंडन पं० कामताप्रसाद गुरु ने अपने व्याकरण में किया है। (दे० हिंदी-व्याकरण, पृष्ठ ३९९)।

कूदी पड़ती है। शीशा हाथ से छूटा पड़ता है। बरतन हाथ से छूटे पड़ते हैं।

आना, जाना, डालना, देना और लेना के पूर्व सकर्मक क्रियावाचक कृदंत प्रायः विकृत रूप में और अकर्मक क्रियावाचक अविकृत रूप में समभिव्याहृत होते हैं। जैसे—

सकर्मक	अकर्मक
मैं पुस्तक लिए आता हूँ।	यह रीति सनातन से चली आती है।
साँप मेढक को निगले जाता है।	आप बैठे रहें, मैं ही उठा आता हूँ।
तू इस लता को क्यों छोड़े जाती है?	लड़का आया जाता है।
वह मुझे मारे डालता है।	नौकर चला जाता है।
लड़का मेरी पुस्तक फाड़े डालता है।	
आपकी पुस्तक दिए देता हूँ।	
आपका काम किए देता हूँ।	
अपनी चीज लिए लेता हूँ।	

अकर्मक क्रियाओं के कृदंतों का लिंग-वचन के अनुसार रूपांतर भी होता है। जैसे—हमीं आपके पास चले आते हैं। लड़के आए जाते हैं।

जाना, करना और चाहना के योग में 'जाना' का भूतकालिक रूप 'गया' नहीं होता, वरन 'जाया' होता है।

समभिव्याहृत होनेवाले भूतकालिक कृदंतों के विषय में केलौग, हार्नले, ग्रीव्ज आदि विदेशी विद्वानों का मत है कि ये भूतकालिक कृदंत नहीं हैं, वरन् आकारांत धातुज संज्ञाएँ (Verbal Noun) हैं*। अपने मत की पुष्टि के लिये केलौग महाशय बँगला की कुछ धातुज

---

* केलौग का Hindi Grammar, page 265.
हार्नले का Comparative Grammar of Gaurdian

संज्ञाओं से हिंदी की तुलना करते हैं। संक्षेप में उनका मत इस प्रकार है—

बँगला में धातुज संज्ञाओं के तीन रूप होते हैं; जैसे—'चलन', 'चलिबा', 'चला'। इन्हीं की तरह हिंदी में भी तीन रूप होते हैं। जैसे, चलना (खड़ी बोली), चलिबौ (व्रजभाषा) और चलै (अवधी में 'चला' का विकृत रूप; जैसे—चलै चह)। अतएव जिस प्रकार 'चलना' आदि नाकारांत कृदंतों को क्रियार्थक संज्ञा या धातुज संज्ञा मानते हैं, उसी प्रकार 'चला' आदि को आकारांत धातुज संज्ञा मानना ही उचित है; कोई कारण नहीं कि एक को स्वीकार किया जाय और दूसरे को नहीं।

इस उक्ति में बहुत कुछ बल है; अतएव इस पर विचार कर लेना आवश्यक है*। बँगला के 'चला करेछे' और हिंदी के 'चला करता है' में अर्थ की कोई समानता नहीं है। हिंदी के 'चला करता है' से पौन:पुन्यार्थ का बोध होता है जो बँगला की क्रिया से नहीं होता। बँगला के 'चला करेछे' का अर्थ है चलना (चलने का कार्य) करता है। पर हिंदी की संयुक्त क्रिया का अर्थ है, चला हुआ करता है अर्थात् जो कार्य एक बार कर चुका है वही फिर करता है, अतएव एक ही क्रिया को पुनः पुनः करने का भाव द्योतित होता है। इसलिये हिंदी में 'चला करता है' में 'चला' को भूतकालिक कृदंत ही मानना व्याकरण-संगत है।

Languages, pages 147, 326 and 388, और ग्रीव्ज का Hindi Grammar, page 330.

* पं० कामताप्रसाद गुरु इस विषय में मौन हैं। उन्होंने बिना इस मत का खंडन किए ही भूतकालिक कृदंतों से बनी हुई संयुक्त क्रियाओं का विवेचन किया है। इसका कुछ कारण नहीं समझ में आता।

ऊपर कहा जा चुका है कि कभी कभी संज्ञा और विशेषण के योग से भी संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं; ऐसी क्रियाओं को नामान्वित संयुक्त क्रिया कहते हैं। ऐसी संयुक्त क्रियाएँ उन्हीं संज्ञाओं या विशेषणों के योग से बनती हैं, जिनका वाक्य में किसी अन्य शब्द से लगाव नहीं रहता।

नामान्वित संयुक्त क्रियाएँ

करना, देना, मारना, रहना और होना एवं कुछ अन्य क्रियाओं के साथ संज्ञा या विशेषण का समभिव्याहार होता है। जैसे—

करना—स्वीकार करना, नाश करना, आरंभ करना, विदा करना, प्रस्थान करना, दर्शन करना इत्यादि।

देना—दिखाई देना, सुनाई देना, दोहाई देना इत्यादि।

मारना—ठट्ठा मारना, डुबकी मारना, चिग्घाड़ मारना, ढाढ़ मारना, डींग मारना, छलाँग मारना इत्यादि।

रहना—स्मरण रहना, पता रहना, याद रहना इत्यादि।

होना—स्वीकार होना, खड़ा होना, समाप्त होना, आरंभ होना, प्राप्त होना, अच्छा होना, चंगा होना, कंठ होना इत्यादि।

याद आना, स्मरण आना, हल जोतना, जड़ पकड़ना, चौकड़ी भरना, आह भरना, बुरा मानना, दाँव लगाना, पता लगाना, दम लेना इत्यादि*।

कुछ ऐसी क्रियाएँ भी हैं जिनके साथ बहुत कम क्रियाओं का समभिव्याहार होता है। जैसे—बीतना=ले बीतना। करि बीते (सूर)=कर चुके।

विरल संयुक्त क्रियाएँ

बसना—चल बसना।

मरना—जल मरना, पच मरना, ले मरना।

---

* केलौग महाशय ने इस प्रकार की क्रियाओं की बड़ी लंबी सूची दी है। उसमें बहुत सी क्रियाएँ अशुद्ध हैं; परंतु अधिकांश काम की हैं। (दे० पृष्ठ २७२–२७४)।

मारना—हँसा मारना, छक्का मारना, दे मारना।
रखना—समझ रखना, छोड़ रखना।
निकलना—चल निकलना, आ निकलना, जा निकलना।
भेजना या पठाना—बुला भेजना या बुला पठाना।

(३)

दूसरे अध्याय में संयुक्त क्रियाओं के रूपों पर विचार हो चुका है। इस अध्याय में उनके अर्थों पर विचार किया जायगा और उनका वर्गीकरण भी किया जायगा।

संयुक्त क्रियाओं का वर्गीकरण

अर्थ के अनुसार संयुक्त क्रियाओं के ये १३ मुख्य विभाग हो सकते हैं—(१) भृशार्थक (अवधारण—गुरु), (२) शक्त्यर्थक, (३) पूरणार्थक, (४) अनुज्ञार्थक (अनुमतिबोधक—गुरु), (५) प्राप्त्यर्थक, (अवकाशबोधक—गुरु), (६) आवश्यकतार्थक, (७) पौनःपुन्यार्थक (अभ्यासबोधक—गुरु), (८) सातत्यार्थक (नित्यताबोधक—गुरु), (९) प्रक्रमार्थक, (१०) इच्छार्थक, (११) आरंभार्थक, (१२) योग्यतार्थक, (१३) पुनरुक्तार्थक।

भृशार्थक संयुक्त क्रिया

भृशार्थक क्रिया में सिद्धावस्थापन्न क्रिया का अधिक अतिशय सूचित होता है। जैसे—'मैंने फल खाया' इस वाक्य में 'खाया' सामान्य रूप में खाने की क्रिया का विधान करता है। पर 'मैंने फल खा डाला' इस वाक्य में 'खा डाला' विशेष रूप में खाने की क्रिया का विधान करता है, अर्थात् केवल खाया ही नहीं वरन् खाकर फल को समाप्त कर दिया। अतएव 'खाना' क्रिया के साथ 'डालना' क्रिया का संयोग होने से भृशार्थत्व सूचित होता है। निम्नलिखित क्रियाओं के साथ सिद्धावस्थापन्न क्रियाओं का समभिव्याहार होने से भृशार्थक संयुक्त क्रियाएँ बनती हैं—आना, उठना, जाना,

डालना, देना, पड़ना, बैठना, रहना और लेना। भृशार्थक क्रियाओं में सिद्धावस्थापन्न क्रियाएँ प्रायः सर्वत्र पूर्वकालिक क्रिया के रूप में रहती हैं।

भृशार्थक क्रिया में आनेवाली साध्यावस्थापन्न क्रियाओं से भिन्न भिन्न प्रकार के भृशार्थत्व प्रकट होते हैं। नीचे उनका उल्लेख किया जाता है—

आना—यह क्रिया अकर्मक है। इसके पूर्व में अकर्मक क्रियाओं का ही समभिव्याहार होता है। जब 'आना' के साथ सकर्मक क्रिया का समभिव्याहार होता है तब दोनों क्रियाओं के स्वतंत्र अर्थ सूचित होते हैं और उस अवस्था में संयुक्त क्रिया नहीं रह जाती। जैसे—पुस्तक दे आओ = पुस्तक देकर आओ। लड़के को पहुँचा आओ = लड़के को पहुँचाकर आओ।

व्रजभाषा में कभी कभी आकस्मिकता द्योतन करने के लिये इस क्रिया का प्रयोग होता है। जैसे—'कह्यो चाहै कछू तो कछू कहि आवै'। 'भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना'—जगद्विनोद। पर खड़ी बोली में इस अर्थ में 'आना' का प्रयोग नहीं पाया जाता*।

---

* पंडित कामताप्रसाद गुरु ने अपने हिंदी-व्याकरण में एक उदाहरण दिया है—'उसकी बात सुनकर मुझे रो आया'। श्री वियोगी हरिजी ने भी एक स्थान पर ऐसा ही प्रयोग किया है—'हठात् कह आता है' (दे० व्रज-माधुरी सार की भूमिका पृष्ठ ६)। पर ये प्रयोग प्रांतीय हैं और शिष्ट भाषा में प्रचलित नहीं हैं। संभवतः दिल्ली की ओर लोग बोल-चाल में ऐसे प्रयोग करते हैं। श्री जैनेंद्रकुमार जैन की रचनाओं में भी 'सोच आया' जैसे प्रयोग मिलते हैं। ऐसे स्थलों पर 'रो', 'कह', 'सोच' आदि को संज्ञा मानना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है और तब हम इन्हें नामान्वित संयुक्त क्रिया के अंतर्गत स्थान दे सकते हैं।

उठना—इस क्रिया से आकस्मिकता सूचित होती है। यह क्रिया अकर्मक है; इसके साथ सकर्मक क्रियाओं का समभिव्याहार नहीं होता। जैसे—रो उठना, चिल्ला उठना, बोल उठना, चौंक उठना, काँप उठना, जाग उठना इत्यादि। इन उदाहरणों को देखने से जान पड़ता है कि प्रायः चेष्टा-सूचक क्रियाओं के साथ ही 'उठना' क्रिया का संयोग होता है।

जाना—इस क्रिया के साथ अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं का समभिव्याहार होता है। विशेषकर कर्मवाच्य और भाववाच्य बनाने में इस क्रिया से काम लिया जाता है। जैसे—विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है। पुस्तक पढ़ी जाती है। मुझसे चला नहीं जाता। यहाँ रहा नहीं जाता।

'आना' के समान ही 'जाना' का भी कभी कभी स्वतंत्र अर्थ भासित होता है। ऐसे स्थलों में समभिव्याहृत होनेवाली क्रिया प्रायः सकर्मक होती है। जैसे—पुस्तक दे जाओ=पुस्तक देकर जाओ। खाना खा जाओ=खाना खाकर जाओ। कभी कभी इस क्रिया से पूर्णता का बोध होता है। जैसे—लड़का मर गया। नौकर चला गया। वे मुझे रास्ते में ही मिल गए।

कभी कभी शीघ्रता भी सूचित होती है। जैसे—निगल जाना, सुड़क गया, जान गया इत्यादि। कभी कभी इस क्रिया से सामर्थ्य की सूचना मिलती है। पर ऐसे स्थलों पर क्रिया कर्तृवाच्य में नहीं रहती, या तो कर्मवाच्य में रहती है या भाववाच्य में। जैसे—तुमसे खाया जाय तो खा लो। मुझसे चला नहीं जाता।

'जाना' क्रिया से कभी कभी आसन्न भविष्यत् का बोध होता है। जैसे—लड़का आया जाता है। आप बैठे रहें, मैं ही उठा जाता हूँ। टोपी गिरी जाती है।

कभी कभी तत्परता भी सूचित होती है। जैसे—मारे दुर्गन्ध के सिर फटा जाता है।

इस क्रिया से कभी कभी नित्यता का बोध होता है। जैसे—पर्व के अवसर पर दान दिया जाता है। आम खाया जाता है। रात में सोया जाता है।

इसी अर्थ में कभी कभी जाना क्रिया के स्थान पर होना का प्रयोग होता है। (दे० पृष्ठ ८९)

डालना*—इस क्रिया के साथ अकर्मक क्रियाओं का समभिव्याहार नहीं होता। इस क्रिया से प्रायः बलाधिक्य का बोध होता है। जैसे—लोहे का मोटा सीकड़ तोड़ डाला। जो कुछ करना हो जल्दी कर डालो।

'डालना' से प्रायः समाप्ति का बोध होता है। बलाधिक्य के साथ भी समाप्ति की ध्वनि निकलती है। जैसे—खाना खा डालो। अपनी किताबें गिन डालो। दूध पी डालो।

'डालना' के साथ 'मारना' का समभिव्याहार होने पर अर्थ में महान् अंतर हो जाता है। 'मारना' का अर्थ है 'चोट पहुँचाना' पर 'मार डालना' का अर्थ 'प्राण लेना' होता है।

इस क्रिया से कभी कभी तत्परता का बोध होता है। जैसे—लड़का पुस्तक फाड़े डालता है। वह अपनी सारी संपत्ति गरीबों को दिए डालता है। तत्परता के अतिरिक्त इन्हीं क्रियाओं से आसन्न भविष्यत् का भी बोध होता है। जैसे—अभी शत्रुओं को मारे डालता हूँ। घबराइए मत, सारा काम किए डालता हूँ।

---

* व्रजभाषा में 'डालना' की पर्यायवाची एक क्रिया 'पारना' भी आती है। जैसे—"पारिगो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया को"—जगद्विनोद। इसी अर्थ में 'काजर पारना' अभी तक बोलते हैं।

इस अर्थ में 'डालना' के स्थान पर 'देना' का प्रायः प्रयोग होता है।

देना—इस सकर्मक क्रिया के साथ प्रायः सकर्मक क्रियाओं का ही समभिव्याहार होता है। परंतु कुछ अकर्मक क्रियाओं के साथ भी इसका संयोग होता है और तब उस संयुक्त क्रिया से आकस्मिकता सूचित होता है। जैसे—चल देना, हँस देना, रो देना, चिल्ला देना, बोल देना, छींक देना इत्यादि।

'देना' के साथ उन्हीं क्रियाओं का समभिव्याहार होता है जो किसी दूसरे के निमित्त होती हैं और कर्त्ता की ओर जिनका लक्ष्य नहीं होता। जैसे—कह देना, मार देना, त्याग देना इत्यादि। 'देना' से कभी तत्परता और कभी आसन्न भविष्यत् का भी बोध होता है। जैसे—वह अपनी संपत्ति गरीबों को दिए देता है (तत्परता)। मैं इस पुस्तक का अनुवाद किए देता हूँ (आसन्न भविष्यत्)।

चलना, देना और लेना के अतिरिक्त अन्य क्रियाओं के साथ अपनी क्रिया का समभिव्याहार नहीं होता। जैसे—चले चलो, दे देना, दिला देना, ले लेना, लिवा लेना इत्यादि।

पड़ना—सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं का इस क्रिया के साथ समभिव्याहार होता है। अकर्मक क्रियाओं के साथ इससे आकस्मिकता सूचित होती है। जैसे—चौंक पड़ना, रो पड़ना, हँस पड़ना, गिर पड़ना, कूद पड़ना इत्यादि। 'पड़ना' के साथ समभिव्याहृत होने से बहुत सी सकर्मक क्रियाएँ अकर्मक हो जाती हैं। जैसे—सुन पड़ना, देख पड़ना, समझ पड़ना इत्यादि।

'बनना' के साथ 'पड़ना' का अनुप्रयोग होने से सामर्थ्य की सूचना मिलती है। जैसे—मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा आपकी सहायता करूँगा।

आपने बहुत किया पर मुझसे कुछ न बन पड़ा। 'बन पड़ना' के स्थान पर 'बन आना' का भी प्रयोग होता है, विशेषकर व्रज और अवधी भाषाओं में। जैसे—"जो बनि आवै सहज में, ताही में चित देय"—गिरधर कविराय।

'बन आना' या 'बन पड़ना' का अर्थ 'अवसर मिलना' या 'सुभीता हो जाना' भी होता है। जैसे—दोनों भाई लड़ने लगे और शत्रुओं की **बन आई**। "प्रियतम का चित्त शनैः शनैः तुमसे फिर जाय और उनकी **बन पड़े**।"—बिहारी-रत्नाकर। पर इस अर्थ में 'बन आना' का ही अधिक प्रयोग होता है; 'बन पड़ना' का प्रयोग बहुत कम देखने में आता है। 'पड़ना' क्रिया से कभी कभी आसन्न भविष्यत् का बोध होता है। जैसे—लड़की कूदी पड़ती है। कोई आया पड़ता है। प्रेरणार्थक क्रियाओं का समभिव्याहार आकस्मिकता-सूचक 'पड़ना' के साथ नहीं होता। कारण स्पष्ट है; जो कार्य अकस्मात् होगा उसमें प्रेरणा करने का अवसर ही कहाँ मिल सकता है?

बैठना—यह क्रिया अकर्मक है, पर इसके साथ अकर्मक और सकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाओं का समभिव्याहार होता है। जैसे—चढ़ बैठना, उठ बैठना (अकर्मक); पूछ बैठना, कह बैठना, मार बैठना (सकर्मक)। बैठना क्रिया से कभी आकस्मिकता और कभी स्थायित्व, दोनों विरोधी भाव सूचित होते हैं। जैसे—'जूए में सारी संपत्ति खो बैठा' (स्थायित्व)। 'अकस्मात् पंडितजी पूछ बैठे' (आकस्मिकता)। अंतिम अर्थ में 'बैठना' के स्थान पर 'पड़ना' का प्रयोग भी होता है। जैसे—'अकस्मात् पंडितजी पूछ पड़े।' कभी कभी 'बैठना' से आसन्न भविष्यत् का बोध होता है। जैसे—'मैं अब कुछ कह बैठता हूँ।'

रहना—इस क्रिया का प्रयोग बहुधा काल की सामान्य क्रिया के साथ होता है और इससे तीनों कालों की अपूर्णता सूचित होती है। जैसे—जा रहा है (अपूर्ण वर्तमान), जा रहा था (अपूर्ण भूत), जाता रहेगा (अपूर्ण भविष्यत्)।

'जाता रहना' का अर्थ 'चला जाना', 'मर जाना' अथवा 'नष्ट हो जाना' भी होता है। जैसे—'लड़का हाथ से जाता रहा'=लड़का हाथ से चला गया अर्थात् निकल गया। 'उसके चार लड़के जाते रहे'=उसके चार लड़के मर गए। 'चाँदी की चमक जाती रही'=चाँदी की चमक चली गई अथवा नष्ट हो गई।

कभी कभी इस क्रिया से स्थायित्व सूचित होता है। जैसे—हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा। बिछौने पर चुपचाप पड़ा रहा।

लेना—यह क्रिया सकर्मक है पर जब अकर्मक क्रिया का समभिव्याहार इसके साथ होता है, तब यह अकर्मक हो जाती है। जैसे—सो लेना, हँस लेना, रो लेना, लेट लेना इत्यादि। यह क्रिया 'देना' की ठीक विरोधिनी है अतएव इससे सूचित होनेवाले व्यापार का लक्ष्य कर्त्ता की ओर होता है। जैसे—खा लेना, पी लेना, सो लेना, रख लेना इत्यादि।

जिस क्रिया का फल कर्त्ता को न प्राप्त हो उसके साथ इसका संयोग नहीं होता; पर इस नियम का अपवाद भी है। जैसे—'पहले अपने दुर्गुण **त्याग लो** तब दूसरों का देखना'। 'मैं मर लूँ तब तुम लोग मरना'। 'होना' के साथ 'लेना' का अनुप्रयोग होने से उसका अर्थ 'हो जाना' और कभी कभी 'समाप्त होना' होता है। जैसे—'एक चोर मेरे साथ हो लिया'। 'जब तक पहले बातचीत नहीं हो लेती तब तक किसी का किसी के साथ कुछ भी संबंध नहीं हो सकता'। इस क्रिया से कभी तत्परता और कभी आसन्न भविष्यत् का भी बोध होता है। जैसे—'अपनी सारी चीजें लिए

लेता है' (तत्परता)। ठहरिए, चश्मा उतारे लेता हूँ (आसन्न भविष्यत्)।

रखना, चलना, निकलना, मरना आदि क्रियाओं के साथ भी कुछ विशेष क्रियाओं का समभिव्याहार होता है; पर ये क्रियाएँ कम प्रचलित हैं। नीचे प्रत्येक के दो दो उदाहरण दिए जाते हैं—

रखना—इस क्रिया का संयोग केवल सकर्मक क्रियाओं के साथ होता है। जैसे—'मैंने सबको समझा रखा है'। कुछ लोगों का मत है कि 'रखना' और 'लेना' का अर्थ प्रायः एक ही होता है। पर इन दोनों में अंतर है। एक से स्थायित्व सूचित होता है और दूसरी से आकस्मिकता। जैसे—'सब कुछ पहले ही से समझ रखो' (स्थायित्व)। 'मैंने सब समझ लिया' (आकस्मिकता)। 'छोड़ रखना' और 'रख छोड़ना' के अर्थों में अन्तर है। 'छोड़ रखना' में 'छोड़ना' का अर्थ प्रधान है और 'रख छोड़ना' में 'रखना' का। 'चलना'—इस क्रिया से भविष्य सातत्य का बोध होता है। जैसे—'रुकते क्यों हो ? कह चलो।' भोजन हो चला है। बच्चा सो चला है।

निकलना—इसके साथ प्रायः गत्यर्थक क्रियाओं का ही समभिव्याहार होता है और संयोग में इसका स्वतंत्र अर्थ बहुत कुछ विद्यमान रहता है। जैसे—चल निकलना, आ निकलना, जा निकलना। 'चल निकलना' से भविष्य सातत्य का बोध होता है।

कभी कभी 'चल निकलना' के बदले 'चल पड़ना' का भी प्रयोग होता है; पर दोनों के अर्थों में अंतर है। 'चल पड़ना' से अचानकता सूचित होती है और 'चल निकलना' से क्रिया की गति कुछ मंद जान पड़ती है। 'चल पड़ना' का अर्थ प्रस्थान करना भी होता है। इस अर्थ में 'चल निकलना' इसका पर्यायवाची नहीं होता।

मारना—संयुक्त क्रिया में इस क्रिया का प्रयोग प्रायः लाक्षणिक ही होता है। प्रायः सकर्मक क्रियाओं का ही इसके साथ

समभिव्याहार होता है। जैसे—छक्का मारना, हँसा मारना, कुढ़ा मारना, रुला मारना, दे मारना इत्यादि।

मरना—'मारना' के समान ही 'मरना' का भी प्रयोग प्रायः लाक्षणिक ही होता है और इसके साथ केवल अकर्मक क्रियाओं का समभिव्याहार होता है। जैसे—पच मरना, क्रोध से जल मरना इत्यादि।

बसना—इसके साथ केवल 'चल' क्रिया का समभिव्याहार पाया जाता है। जैसे—चल बसना = मर जाना।

'सकना' के साथ समभिव्याहृत पूर्वकालिक क्रियाएँ शक्ति अथवा सामर्थ्य का बोध करती हैं। जैसे—कर सकना, चल सकना, ले सकना, सो सकना इत्यादि। कभी कभी 'सकना' के स्थान पर 'पाना' का प्रयोग होता है। जैसे—'क्या मैं इतना कठिन काम कर पाऊँगा?' अथवा 'क्या मैं इतना कठिन काम कर सकूँगा?' परंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होगा कि दोनों के अर्थों में अंतर है। 'पाना' से प्राप्ति का बोध होता है और 'सकना' से समर्थ होने का। जैसे—'नानी का सा घर ये निगोड़े देख पाए हैं।'—रा० न० त्रि०। 'यदि मैं उसे देख पाऊँगा तो बिना मारे नहीं छोड़ूँगा।' 'मनुष्य कठिन से कठिन कार्य कर सकता है।' 'तुम एक मन का बोझ नहीं उठा सकते हो।'

शक्त्यर्थक संयुक्त क्रिया

'सकना' से सामर्थ्य के अतिरिक्त अनुज्ञापित होने का भी बोध होता है; अर्थात् यह क्रिया अकेले अँगरेजी के can और may दोनों का अर्थ देती है। जैसे—'क्या मैं अंदर आ सकता हूँ?'

कभी कभी 'बन पड़ना' का प्रयोग भी सामर्थ्य सूचित करने के लिये होता है। (देखिए पृष्ठ ८१)

'सकना' का प्रयोग खड़ी बोली में केवल संयुक्त क्रियाओं में ही होता है, अलग नहीं। परंतु अवधी में 'सकना' का स्वतंत्र प्रयोग भी मिलता है। जैसे—"सकहु त आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेसु।"—रामचरितमानस। "सकै तो ठाहर लाइ।"—कबीर-ग्रंथावली।

'सकना' के अर्थ में अवधी में पारब (पारना) क्रिया भी पाई जाती है। जैसे—'बाली रिपु-बल सहइ न पारा'।—रामचरितमानस। 'सोक-बिबस कछु कहइ न पारा।'—रामचरितमानस।

पूर्वी भाषाओं में प्रायः सभी में पारना का प्रयोग मिलता है। (मिलाइए बँ० 'आमि पारबो ना'।) 'सकना' के साथ जब सकर्मक क्रिया का समभिव्याहार होता है तब उसके सामान्य भूत-काल में कर्ता में 'ने' का प्रयोग नहीं होता।

'चुकना' के साथ पूर्वकालिक क्रियाओं का संयोग होने पर

पूरणार्थक संयुक्त क्रिया

पूरणार्थक क्रियाएँ बनती हैं। जैसे—'मैं भजन कर चुका'। 'तुम पुस्तक पढ़ चुके'।

जिस प्रकार 'रहना' से तीनों कालों में अपूर्णता सूचित होती है उसी प्रकार 'चुकना' से तीनों कालों में पूर्णता सूचित होती है। जैसे—'मैं खा चुका हूँ' (पूर्ण वर्तमान)। 'मैं खा चुका था' (पूर्ण भूत)। 'मैं खा चुकूँगा' (पूर्ण भविष्यत्)।

कभी कभी 'जा चुकना' का अर्थ 'मरना' होता है। जैसे—'उसके चार लड़के जा चुके।'

'चुकना' के सामान्य भूतकाल से बहुधा समभिव्याहृत क्रिया के विषय में कर्ता की अयोग्यता सूचित होती है। जैसे—'आप गंगा पार कर चुके' (अर्थात् नहीं कर सकते)। 'तुम गा चुके' (=नहीं गा सकते)। पर यह अर्थ वक्ता की कंठध्वनि से ही

लक्षित होता है। अतएव इसे काकुवक्रोक्ति से सिद्ध हुआ समझना चाहिए।

कभी कभी 'बीतना' से भी पूर्णता सूचित होती है। जैसे—'अपने तो गए ही हमें भी ले वीते।' 'आप यह क्या कर बीते।'

व्रजभाषा में 'चुकना' का पर्यायवाची होकर 'बीतना' क्रिया आती है। जैसे—'करि बीते' (= कर चुके)।—सूरदास।

किसी किसी के मतानुसार 'सकना' के समान ही 'चुकना' का स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता, पर इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। जैसे—'सब लोगों ने खा लिया, पर भोजन नहीं चुका।' 'हम लोग सुनते सुनते थक गए, पर आपकी बात नहीं चुकी।'

'देना' के साथ विकृत क्रियार्थक संज्ञा का समभिव्याहार होने से अनुज्ञार्थक संयुक्त क्रिया बनती है। जैसे—'मुझे जाने दो।' 'हमको कहने दीजिए।'

अनुज्ञार्थक

'पाना' के साथ विकृत क्रियार्थक संज्ञा का समभिव्याहार होने से प्राप्त्यर्थक संयुक्त क्रिया बनती है। जैसे—'हम भी देखने पाएँगे।' 'सब लोग नहीं जाने पाए।' प्राप्त्यर्थक संयुक्त क्रिया के सामान्य भूतकाल में कर्त्ता का चिह्न 'ने' नहीं प्रयुक्त होता।

प्राप्त्यर्थक

इसके अंतर्गत दो उपविभाग हो सकते हैं—परवशता या अनिवार्यत्वबोधक और कर्तव्यबोधक।

आवश्यकतार्थक

परवशताबोधक—'पड़ना' के साथ क्रियार्थक संज्ञा का समभिव्याहार होने से परवशता या अनिवार्यत्व का बोध होता है। जैसे—'तुम्हें जाना पड़ा।' 'हमें सुनने पड़े।' 'किशन तेरी गीता जगानी पड़ेगी।'—'नटवर'।

कभी कभी 'होना' से भी अनिवार्यत्व सूचित होता है। जैसे—'समय जगाता है हम सबको, झटपट जग जाना होगा।'

—माखनलाल चतुर्वेदी। 'उन्हें भारतवर्ष के अधिकांश भाग में फिरते रहना होता है'।—हिंदी रस-गंगाधर।

परंतु 'होना' से बहुधा आवश्यकता का बोध होता है। जैसे—'उनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों को फूलस्वरूप मानना होगा।'

—हिंदी भाषा और साहित्य।

कभी कभी 'बनना' के साथ तात्कालिक कृदंत का समभिव्याहार होने से भी परवशता सूचित होती है। जैसे—'हम लोगों ने इतना हठ किया कि उनसे आते ही बना।'

कर्तव्य-बोधक

'चाहिए' के साथ क्रियार्थक संज्ञा का समभिव्यहार होने से कर्तव्यबोधक संयुक्त क्रिया बनती हैं। जैसे—'ब्राह्मणों को दान देना चाहिए।' 'रात को सोना चाहिए।'

भूतकाल का रूप बनाने के लिये 'चाहिए' के आगे 'था' का प्रयोग होता है। जैसे—'उसे ऐसा न करना चाहिए था।'

कर्तव्यबोधक क्रिया में भूतकालिक कृदंत का प्रयोग प्रायः नहीं होता; पर एक-आध उदाहरण देखने में आते हैं। जैसे—'जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए।'—मुंशी सदासुख लाल। परंतु जहाँ भविष्य का बोध करना होता है वहाँ भूतकालिक कृदंत और क्रियार्थक संज्ञा दोनों का विकल्प से समभिव्याहार होता है। जैसे—'देखा चाहिए अब क्या होता है।'

कभी कभी 'होना' से भी कर्तव्य का बोध होता है। जैसे—'बड़ों का आदर करना होता है।' 'किसी चंचल व्यक्ति को बँधुवा बनाने के व्यवहार में किवाड़ों को बंद कर देना होता है।'

पर ऐसे स्थलों पर बहुधा 'जाना' क्रिया का कर्मवाच्य ही प्रत्युक्त होता है। जैसे—'बड़ों का आदर किया जाता है।'

'होना' से कभी कभी भविष्य का बोध होता है। जैसे— 'तुम्हारे किए कुछ नहीं हाना है।' 'इस सगुन से क्या फल होना है।'
—शकुंतला।

करना के साथ भूतकालिक कृदंत का समभिव्याहार होने से पौन:पुन्यार्थक सूचित होता है। जैसे—'वह मेरे घर आया करता है।' 'प्रात:काल स्नान किया करो।' 'देखा करूँ दृगों से, गंगे बहार तेरी।'

पौन:पुन्यार्थक संयुक्त क्रिया

पौन:पुन्यार्थक संयुक्त क्रिया के सामान्य भूतकाल में कर्त्ता का चिह्न 'ने' नहीं प्रयुक्त होता। जैसे—"बारह बरस दिल्ली रहे पर भाड़ ही झोंका किए।"

कभी कभी अनुप्रयुज्यमान सिद्धावस्थापन्न क्रिया की आवृत्ति से भी पौन:पुन्यार्थ सूचित होता है। जैसे—'चींटी गिर गिर पड़ती है।' 'लड़के मर मर जाते हैं।' 'कुहौ कुहौ कहि कहि उठत, करि करि राते नैन।'—बिहारी

'रहना' के साथ पूर्वकालिक क्रिया अथवा वर्तमानकालिक कृदंत के समभिव्याहार से सातत्यार्थक संयुक्त क्रिया बनती है। जैसे—'पानी बहता रहता है।' 'वर्षा होती रहेगी।' 'लड़का पढ़ रहा है।' चिड़िया गा रही थी।

सातत्यार्थक संयुक्त क्रिया

'आना' से भूतकालिक सातत्य की सूचना मिलती है। जैसे— 'प्राचीन काल से ऐसा होता आता है।' 'वर्षों से ऐसा ही सुनते आते हैं।'

'जाना' के योग से भी सातत्य द्योतित होता है। परंतु इस सातत्य से यह द्योतित होता है कि क्रिया का व्यापार क्रमश: आगे बढ़ता जाता है। अतएव इसे एक अलग भेद मानकर सातत्यार्थक से विभिन्नता दिखाना

प्रक्रमार्थक संयुक्त क्रिया

उचित है। इसके दो एक उदाहरण दिए जाते हैं—'पानी बहता जाता है।' 'लड़की गाती जाती है।'

'चाहना' के साथ भूतकालिक कृदंत अथवा क्रियार्थक संज्ञा के अनुप्रयोग से इच्छार्थक संयुक्त क्रिया बनती है। जैसे—'मैं आपका दर्शन किया चाहता हूँ।' अथवा 'मैं आपका दर्शन करना चाहता हूँ*।' पहला प्रयोग अर्वाचीन है और दूसरा उससे प्राचीन।

इच्छार्थक संयुक्त क्रिया

इच्छार्थक संयुक्त क्रिया से आसन्न भविष्यत् का भी बोध होता है। जैसे—'वह आया चाहता है।' 'गाड़ी आना चाहती है।' पर इन दोनों में प्रथम प्रयोग का ही अधिक प्रचलन है।

'लगना' के साथ विकृत क्रियार्थक संज्ञा का समभिव्याहार होने से आरंभार्थक संयुक्त क्रिया बनती है। जैसे—'वह बैठकर बातें सुनने लगा।' 'जब मैं पढ़ने लगा।'

आरंभार्थक संयुक्त क्रिया

कभी कभी अर्थ में प्रौढ़ता लाने के लिये लगना का स्थान उलट देते हैं। जैसे—'जब वह लगता है गाने तब सुनते ही बनता है।' 'अपनी बार लगते हैं रोने।' 'हम लोग चलने को प्रस्तुत हुए तो आप लगे सजने।'

इस क्रिया के सामान्य भूतकाल में 'क्यों', 'कब', 'कैसे' आदि लगने से सामान्य भविष्यत् काल की असंभवता सूचित होती है। जैसे—'आप मेरे यहाँ क्यों आने लगे।' (अर्थात् कभी नहीं आएँगे) पर वक्ता की कंठ-ध्वनि पर ही यह अर्थ अवलंबित है।

'आरंभ होना' के अर्थ में 'लगना' का स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता।

* स्वर्गीय 'रत्नाकर' जी सर्वत्र भूतकालिक कृदंत का ही समभिव्याहार करते थे।

'बनना' के साथ विकृत वर्तमानकालिक कृदंत का समभिव्याहार होने से सामर्थ्य या योग्यता सूचित होती है। जैसे—'तुम्हीं से कहते बनता है।' 'हमसे जाते नहीं बनता।' 'देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलाहिँ'।—बिहारी। 'चढ़े हिँडोरे से हिए किए बनै गृह-काज।'—बिहारी।

योग्यतार्थक संयुक्त क्रिया

कभी कभी 'बन आना' का प्रयोग भी इसी अर्थ में होता है। जैसे—'उन्हीं लोगों से बन आवै है।'—मुंशी सदासुखलाल।

कभी कभी इस क्रिया से अनिर्वचनीयता सूचित होती है। जैसे—'उसका गाना सुनते ही बनता है'। 'देखे आवत देखिबो क्यों हूँ रह्यो न जाय।'—बिहारी।

'बनना' से कभी कभी निश्चय सूचित होता है। जैसे—'वह चलता बना।' इसी अर्थ में 'होना' का भी प्रयोग होता है। जैसे—'वह चलता हुआ।'

'आ बनना' का अर्थ 'संकट पड़ना' होता है। जैसे—'उस बेचारे के प्राणों पर आ बनी।'

जिस प्रकार संज्ञाओं का समास होता है, उसी प्रकार क्रियाओं का भी होता है। इस प्रकार की समस्त क्रियाओं को पुनरुक्तार्थक क्रिया कहते हैं। जैसे—पढ़ना लिखना, खाना पीना, आना जाना इत्यादि।

पुनरुक्तार्थक संयुक्त क्रिया

पुनरुक्तार्थक क्रियाओं में चार प्रकार के संयोग होते हैं—

(१) समान ध्वनिवाली क्रियाओं का संयोग। इसके दो उप-विभाग हो सकते हैं।

(क) एक में परवर्ती क्रिया निरर्थक रहती है और पूर्ववर्ती सार्थक। जैसे—पूछना ताछना, देखना भालना, होना हवाना इत्यादि।

(ख) दूसरे प्रकार की समान ध्वनि में दोनों क्रियाएँ सार्थक होती हैं। जैसे—समझना बूझना, बोलना चालना, करना धरना इत्यादि।

(२) समान अर्थवाली क्रियाओं का संयोग। इसमें दोनों अवयवों का अर्थ प्रायः एक ही सा होता है। जैसे—मारना पीटना, ठोकना पीटना, मिलना जुलना (< हिं० जुटना), ठोकना बजाना इत्यादि।

(३) विरोधी अर्थवाली क्रियाओं का संयोग। जैसे—रोना गाना, बनना बिगड़ना, आना जाना, उठना बैठना, लेना देना इत्यादि।

(४) सामान्य प्रेरणार्थक संयोग। इस संयोग में पूर्ववर्ती क्रिया सामान्य होती है परंतु परवर्ती क्रिया प्रेरणार्थक होती है। जैसे—देखना दिखाना, करना कराना, देना दिलाना, पढ़ना पढ़ाना।

'जो कुछ करना हो जल्दी कर करा लो।' 'दो दिन के लिये आओ, देख दिखा जाओ।'

पुनरुक्तार्थक क्रियाओं में दोनों अवयवों का रूपांतर होता है। जैसे—'मैंने बहुत कुछ कहा सुना।' 'जो कुछ होना था हो हवा गया।'

---

(३) डिंगल भाषा

[श्री गजराज ओझा बी० ए०, बीकानेर]

राजस्थान के कवियों ने अपनी कविता की रचना दो प्रकार की भाषाओं में की है जो डिंगल और पिंगल के नाम से प्रसिद्ध हैं। महामहोपाध्याय श्रीहरप्रसाद शास्त्री ने इनको काव्य-रचना की दो शैलियाँ बतलाया है परंतु ये केवल शैलियाँ ही नहीं, दो भिन्न भाषाएँ हैं। इनके व्याकरण, रीति-ग्रंथ, उत्पत्ति-स्थान तथा प्रचार-स्थल सब भिन्न भिन्न हैं। यदि डिंगल और पिंगल दो शैलियाँ मान ली जायँ तो प्रश्न यह उठता है कि ये एक भाषा की दो शैलियाँ हैं या दो भिन्न भाषाओं की। इसका उत्तर शास्त्रीजी के कथन से स्पष्ट नहीं होता। डाक्टर एल० पी० टेसिटरी ने, शास्त्रीजी के मत पर सम्मति देते हुए, एक स्थान पर लिखा है —

"It is well known that there are two languages used by the bards of Rajputana in their poetical compositions and they are called Dingala and Pingala. These are no mere "Styles of Poetry" as held by Maha-mahopadhyaya Hara Prasad Shastri, but two distinct languages, the former being the local Bhasha of Rajputana and the latter the Braja-Bhasha, more or less vitiated under the influence of these former."*

इसके अतिरिक्त, उपर्युक्त शास्त्रीजी से पहले, सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भी—

---

* "Journal of the Asiatic Society of Bengal," Vol. X No. 10, p. 375.

"Marwari has an old litereture about which hardly anything is known. The writers sometimes composed in Marwari and sometimes in Braj-Bhākhā. In the former case, the language was called Dingal and in the latter, Pingal."*

लिखकर स्पष्ट कर दिया है कि डिंगल और पिंगल दो भिन्न भाषाएँ हैं। डिंगल अपेक्षाकृत प्राचीन भाषा है। जब व्रजभाषा का आविर्भाव हुआ और उसमें कविता की जाने लगी तब राजस्थानी और व्रजभाषा में अंतर बताने के लिये व्रजभाषा को पिंगल और राजस्थानी को डिंगल कहने लगे। अतः डिंगल का मतलब, प्राचीन काल की या उसके ढंग पर लिखी हुई साहित्यिक राजस्थानी से है। अनेक लोग डिंगल को चारणों की बनावटी भाषा मानते हैं पर यह केवल भ्रम है। इस भ्रम का कारण यह है कि प्राचीन काल में डिंगल-ग्रंथ-रचना का प्रचार प्रायः सभी जाति के लोगों में था। राजपूत, साधु, ब्राह्मण, सेवग, पंचोली आदि भी डिंगल में कविता किया करते थे, परंतु सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् जिन लोगों का पैतृक कर्म कविता करना नहीं था और जो मनोविनोद मात्र के लिये ही क़विता किया करते थे, उनका झुकाव उस समय की चलती भाषा की ओर हुआ। डिंगल धीरे धीरे उनसे छूट गई और वह केवल उन्हीं जातियों में रह गई जिनका जीविकानिर्वाह, परंपरा से, इसी के सहारे होता था। ये जातियाँ विशेषकर चारण, मोतीसर, भाट, राव, ढाढी, दम्मामी आदि हैं। इन्होंने पुरानी परिपाटी की बड़ी कट्टरता के साथ रक्षा की और डिंगल कविता में प्राचीन से प्राचीन शब्दों का, जो अब जन-साधारण के ज्ञान से बाहर हो चुके हैं,

---

* "Linguistic Survey of India," Vol. IX, Part II, p. 19, 1908.

प्रयोग करना न छोड़ा। इन डिंगल-काव्य-सम्मत विशेष शब्दों का समझना जन-साधारण के लिये कठिन हो गया। इससे इन्होंने यह समझ लिया कि हो न हो यह भाषा चारणों की एक निजी एवं बनावटी भाषा ही है, सर्वसाधारण की नहीं। परंतु वास्तव में, डिंगल बनावटी भाषा नहीं है। यह राजस्थान की वह विगत-प्रयोग भाषा है जिसके समझने के लिये वे सिर पैर की कल्पनाएँ करना नहीं, प्रत्युत भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों के अनुसार उसकी उत्पत्ति और विकास का आलोचनात्मक अध्ययन करना ही एक मात्र साधन है। अस्तु, अब यहाँ पर डिंगल की उत्पत्ति के विषय में कुछ विस्तार-पूर्वक लिखकर इसके विकास आदि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा। इसके लिये पहले अपभ्रंश-काल का अध्ययन करना आवश्यक होगा।

अपभ्रंश-काल

ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दियों में अपभ्रंश आभीरी नाम से प्रसिद्ध थी और सिंध, मुलतान तथा उत्तरी पंजाब में बोली जाती थी*। यह आभीरी भाषा श्वेत हूणों के साथ या उनके ठीक पीछे आए हुए विदेशियों की भाषा थी जो अपने ढोरों को लेकर दक्षिणोत्तर पंजाब और पश्चिमी राजपूताने में बसे थे। इनमें आभीरी अर्थात् गुर्जर नाम की एक अगुआ एवं प्रसिद्ध लड़ाकू जाति थी†। इसने सिंध और मुलतान की शासक जातियों को जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित किया। पाँचवीं शताब्दी में गुजरात तथा राजपूताने पर भी इसने अपना

* देखिए—बाबू श्यामसुंदरदास-लिखित 'हिंदी भाषा का विकास', पृष्ठ १९।

† V. A. Smith: "Early History of India," p. 2428

अधिकार जमाया*। आभीरी भाषा यहाँ की राजभाषा हुई और उसके प्रभाव से प्रचलित भाषा प्राकृत का रूप बिगड़ने लगा। वही विकृत रूप अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सातवीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा बनने लगी। इसी समय पांचाल के राजाओं का वंश निर्बल पड़ा और भीनमाल (राजपूताना और गुजरात की तत्कालीन राजधानी) के नागभट नामक प्रतिहार जाति के राजा ने पांचाल के राजा चक्रायुध को पराजित कर अपना राज्य स्थापित किया। नागभट के समय में बंगाल और बिहार को छोड़कर सारा उत्तरी भारत—जिसमें राजपूताना और संयुक्त प्रांत सम्मिलित हैं तथा ग्वालियर, सौराष्ट्र (काठियावाड़) और मालवा भी (अवंती तक) इसकी राज्य सीमा के अंतर्गत थे†। बिहार जो नागभट के पंजे से बच गया था इसके पौत्र भोज द्वारा जीत लिया गया। भोज ने, जिसका दूसरा नाम मिहिर भी था, सं० ९०० से ९३८ तक राज्य किया था‡। इसके समय में सारे उत्तर भारत में अपभ्रंश का प्रचार बहुत अधिक बढ़ गया और यह जन-साधारण की बोलचाल की भाषा हो गई§, यद्यपि शिष्ट लोगों में संस्कृत और प्राकृत का प्रचार रहा। दसवीं शताब्दी के अंत तक यह भाषा पश्चिम से लेकर पूर्व में मगध तक और दक्षिण में सौराष्ट्र तक फैल चुकी थी§। ग्यारहवीं शताब्दी में देश-भेद के कारण इसकी भी अनेक उपशाखाएँ हो गईं और उनमें साहित्य की रचना प्रचुरता से होने लगी§।

---

* V. A. Smith: "Early History of India," p. 286.

† Bhandarkar and Euthovlea, Ibid.

‡ V. A: Smith, "Early History of India," p. 393.

§ देखिए—बाबू श्यामसुंदरदास-लिखित 'हिंदी भाषा का विकास', पृष्ठ १५।

अपभ्रंश के तीन मुख्य उपभागों का उल्लेख मिलता है—नागर, उपनागर और व्राचड़। इसमें नागर या शौरसेनी अपभ्रंश देशभेद होने पर भी सबसे मुख्य थी*। यह अंतर्वेद; व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भदानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर, मंदसोर और सौराष्ट्र के साहित्य की मुख्य भाषा थी। प्रांतीयता के छींटे इसमें अवश्य थे और ऐसा एक राष्ट्रभाषा में होना अधिक संभव भी है। आगे चलकर प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी व्याकरण के नियमों से बँधकर स्थिर हो गई और केवल साहित्य में व्यवहृत होने लगी पर इसका प्राकृतिक प्रवाह चलता ही रहा। यह प्रवाह स्वच्छंद भाव से बहता हुआ नई नई परिस्थितियों में पड़कर नया रूप धारण करने लगा। ग्यारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश में और इसमें बहुत अंतर पड़ गया। वह अंतर नवीं शताब्दी से ही आरंभ हो गया था, क्योंकि अपभ्रंश उस समय जन-साधारण की भाषा से ऊपर उठकर साहित्य में पर्याप्त उन्नति प्राप्त कर चुकी थी। ऐसी अवस्था में बोलचाल की भाषा तथा साहित्य की भाषा में जब अंतर हो जाता है तब वे भिन्न मार्गों पर लग जाती हैं और उनका पृथक् पृथक् विकास होने लगता है। अपभ्रंश का भी यही हाल हुआ। जन-साधारण की भाषा इससे भिन्न हो गई और एक नए मार्ग पर लगकर स्वतंत्र रूप से विकसित होने लगी।

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक होगा कि अपभ्रंश की भाँति इस नई भाषा के भी कई उपभेद हुए और यह भिन्न भिन्न नामों से पुकारी जाने लगी। व्राचड़ अपभ्रंश जो सिंध में प्रचलित थी अब सिंधी भाषा के नाम से प्रसिद्ध हुई। मागधी अपभ्रंश के

* देखिए—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २—पुरानी हिंदी (पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०)।

नए रूप का नाम मागधी हिंदी पड़ा। मध्यदेश की शौरसेनी का नया रूप, जो उसके क्षेत्र—अंतर्वेद (व्रज), दक्षिणी पंजाब, टक्क, भदानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर, मंदसोर, सौराष्ट्र आदि भागों—में बोला जाने लगा, बारहवीं शताब्दी तक अभेद तथा अनाम रहा—अर्थात् उसका एक सा रूप रहा। तेरहवीं शताब्दी में इसके कई भेद हुए। ये भेद भिन्न भिन्न मार्गों पर लगकर विकसित होने लगे। इनमें से कुछ के नाम प्रांतभेद के अनुसार रखे गए और कुछ के काव्य-रीति-भेदानुसार। रीति-भेदानुसार नामों में डिंगल और पिंगल ये दो प्रसिद्ध हैं। इन नामों की व्युत्पत्ति आदि पर विस्तारपूर्वक विचार आगे किया जायगा, अतएव यहाँ पर केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि डिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा का नाम है और पिंगल व्रज-मंडल की साहित्यिक भाषा का। डिंगल राजस्थान की स्वतंत्र काव्य-परंपरा-सम्मत साहित्यिक भाषा है और पिंगल संस्कृत तथा प्राकृतिक रीति-शास्त्र-सम्मत साहित्यिक भाषा। इस लेख का विषय देश की इतर भाषाओं का विवरण उपस्थित करना नहीं है; इसमें तो केवल इस बात पर विचार करना है कि डिंगल भाषा का कैसे विकास हुआ और यह कैसे साहित्यारूढ़ हुई। अतएव इस इतिहास का यहाँ तक विवेचन करके आगे की पंक्तियों में मूल विषय की चर्चा की जायगी।

काल-विभाग

डिंगल के विकास की अवस्था को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आरंभकाल—सं० १००० से १४०० तक, (२) मध्यकाल—सं० १४०० से १८०० तक, (३) उत्तरकाल—सं० १८०० से आगे तक। भाषा की परिमार्जनावस्था तथा रचनाओं की प्रचुरता के आधार पर यह काल-भेद किया गया है। डिंगल के प्राचीनतम

लिखित उदाहरणों के अभाव में इसके विकास का आरंभ-काल ग्यारहवीं शताब्दी से मानना पड़ता है।

ग्यारहवीं शताब्दी के पहले इस नई भाषा में लिखा कोई ग्रंथ नहीं मिलता। संभवतः अपभ्रंश से इसमें बहुत थोड़ा भेद होने के कारण उस समय ग्रंथ-रचना की आवश्यकता न पड़ी हो। परंतु पीछे इसमें भी ग्रंथ लिखे जाने लगे और डिंगल का सबसे पहला ग्रंथ जो उपलब्ध हो सका है वह वीसलदेव चहुआँण रासो है*। यह रासो अपभ्रंश के पास की अर्थात् सबसे पुरानी आरंभ-काल की डिंगल भाषा में लिखा हुआ है। इसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का कुछ आभास अवश्य है जिसके कारण भाषा की दृष्टि से इसे डिंगल का आदि-ग्रंथ मानने में अनेक लोगों को आपत्ति है। परंतु, यह आपत्ति वीसलदेव रासो के संबंध में निर्मूल कही जा सकती है क्योंकि यह एक गीति-काव्य है। अतः जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों में बराबर गाई जाती रही हो उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। यह जन-साधारण में गा गाकर सुनाए जाने के लिये ही रचा गया था। अस्तु, इसकी भाषा का परिवर्तन होना स्वाभाविक था।

डिंगल का आरंभ-काल

ऊपर कहा जा चुका है कि वीसलदेव रासो की भाषा अपभ्रंश के पास की है अर्थात् यह पुरानी डिंगल में लिखा हुआ है जो अपभ्रंश के अंतिम समय की बोलचाल की भाषा थी। ऐसी अवस्था में इसमें अपभ्रंश के प्रयोग अधिक होने चाहिएँ। इसमें ऐसा ही पाया जाता है। अपभ्रंश के प्रयोगों के साथ साथ कुछ ऐसे

* बड़ा उपाश्रय, बीकानेर में इसकी एक प्राचीन हस्त-लिखित प्रति मिली है जिसमें इसका रचना-काल १०७३ वि० लिखा है।

प्रयोग भी इसमें मिलते हैं जो सोलहवीं शताब्दी की भाषा के रूप हैं। जैसे—"बेटी राजा भोज की"* में 'की' और "उलिगाणाँ गुण वरणिताँ"† में 'वरणिताँ' का प्रयोग। परंतु ऐसे शब्द बहुत ही कम हैं। वीसलदेव रासो की भाषा को इतने से शब्द-साम्य के आधार पर १७वीं शताब्दी की कहना उचित न होगा। भाषा की पहचान शब्दों से नहीं बल्कि उसके व्याकरण से होती है। रासो की भाषा को व्याकरण की कसौटी पर कसने से पता चलता है कि इसमें अपभ्रंश के नियमों का पालन विशेष रूप से हुआ है। उदाहरण के लिये देखिए—

कसमीराँ पाटणह मँझारि। सारदा तुठी ब्रह्म-कुमारि॥
'नाल्ह' रसायण नर भणइ। हियड़इ हरषि गायण कइ भाइ॥
खेलाँ मेल्ह्या माँडली। बइस सभा माँहिँ मोहेउ छइ राइ॥

—बाबू सत्यजीवन वर्म्मा-संपादित नरपति
नाल्ह कृत वीसलदेव रासो पृष्ठ ३, छंद ६।

और भी—

'नाल्ह' बषाणइ छइ नगरी जू धार। जिहाँ बसइ राजा भोज पवाँर॥
असीय सइहस सजे करि मैमत्ता। पंच चोहण जेकइ मिलइ नरिंद॥
कर जोड़े 'नरपति' कहई। विसुनपुरी जाणे वसइही गोव्यंद॥

—वही, पृष्ठ ५, छंद १२

इसके अतिरिक्त वीसलदेव रासो को पुराना मानने का एक कारण यह भी है कि रासो में प्रयुक्त कारक, क्रियाओं तथा संज्ञाओं के कई रूप ठेठ अपभ्रंश आदि के हैं; जैसे—पणों, पाटणह, जणह धण, उरहु, हियणउँ, जंपिउ, मुद्धड़ी, मइमत्ता, चवइ, उलगइँ आदि प्रयोग अपभ्रंश के हैं। विसनपुरी, म्हारउ, मिलिअ, पणमिअ,

---

* देखिए—बाबू सत्यजीवन वर्म्मा-संपादित वीसलदेव रासो पृष्ठ ६।
† देखिए—वही, पृष्ठ ६।

अछइ, वे, राखइ, जेणि इत्यादि अपभ्रंश के ठीक बाद की अर्थात् प्राचीन डिंगल के प्रयोग हैं। ऐसे प्रयोग अधिक संख्या में पाए जाते हैं और बाद की भाषा (सत्रहवीं शताब्दी) के प्रयोग बहुत कम। ऐसी अवस्था में भाषा की दृष्टि से यह रासो डिंगल का आदिकाव्य कहा जा सकता है। वीसलदेव रासो का निर्माण-काल 'संवत् सहसतिहत्तरो' के आधार पर सं० १०७३ ज्ञात होता है। वीसलदेव तथा धार का राजा भोज पवाँर दोनों ग्यारहवीं शताब्दी में सं० १००० और १०७३ के बीच में थे। इस बात का पता विंसेंट ए० स्मिथ (Vincent A. Smith) के इतिहास से लगता है। वे लिखते हैं—

"Jaipal, who was again defeated in November, 1001, by Sultan Mahmud, committed suicide, and was succeeded by his son Anandpal, who like his father, joined a confederacy of the Hindu powers under the supreme command of Vishal Deva, the Chauhan Rajah of Ajmer."

वीसलदेव रासो में वर्णित धार के राजा भोज का समय भी स्मिथ साहब इसी शताब्दी में इस प्रकार बताते हैं—

"Munja's nephew, the famous Bhoja ascended the throne of Dhar, in those days the capital of Malwa, about 1018 A. D., and reigned gloriously for more than forty years."

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा के मत से भी वीसलदेव और परमार भोज दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। वीसलदेव (विग्रहराज द्वितीय) का राजकाल ओझाजी ने

वि० संवत् १०३० से १०५६ तक माना है*। इसी तरह वीसलदेव भोज का समकालीन एक वर्ष तक रहता है*। भोज का राज्यासीन होना लगभग संवत् १०५५ में मानते हैं*। जिस समय वह गद्दी पर बैठा उस समय उसकी अवस्था केवल ९ वर्ष की थी। ऐसी अवस्था में राजमती भोज की पुत्री नहीं हो सकती, बहिन अवश्य हो सकती है जिसकी शादी वीसलदेव से हुई हो। यह अधिक संभव जान पड़ता है। वीसलदेव की परमारों के साथ विवाहसंबंधी घटना कल्पित नहीं जान पड़ती। कवि भी अपनी 'संवत सहसतिहत्तर जाणि, नाल्ह कवीसर रसीय वखाणि' के अनुसार वीसलदेव के समय से इतने बाद का नहीं जान पड़ता कि उसके विवाह से संबंध रखनेवाली प्रसिद्ध घटनाओं की उसे कल्पना करने की आवश्यकता पड़ी हो। विग्रहराज की मृत्यु यदि सं० १०५६ में मान ली जाय तो इस ग्रंथ का निर्माण उसके १७ वर्ष बाद मानना पड़ेगा। १७ वर्ष का समय इतना लंबा नहीं जो वीसलदेव और भोज जैसे प्रसिद्ध राजाओं की स्मृति को भुला दे और उनके संबंध में कवि को कल्पना का आश्रय लेना पड़े। ऐसी अवस्था में कवि नाल्ह वीसलदेव का समकालीन हो सकता है। यह बात रासो में प्रयुक्त 'भयइ', 'वसइ', 'कहइ' आदि 'वर्तमान' रूपों से भी प्रमाणित होती है कि ग्यारहवीं शताब्दी में ये दोनों हुए और नाल्ह उनका समकालीन था†। अब स्पष्ट है कि वीसलदेव रासो ग्यारहवीं शताब्दी का लिखा ग्रंथ है और उसकी भाषा डिंगल के आरंभ की भाषा है। डिंगल के विकास-काल का आरंभ यहीं से हुआ और यह सुधरती

---

* देखिए—गौरीशंकर हीराचंद ओझा-संपादित 'हिंदी टॉड राजस्थान', प्रथम खंड, पृष्ठ ३२८।

† देखिए—बाबू सत्यजीवन वर्म्मा-संपादित 'वीसलदेव रासो' तथा बड़ा उपाश्रय, बीकानेर की प्रति।

हुई आगे बढ़ने लगी। रासो के बाद के जो उदाहरण मिले हैं उनकी भाषा कुछ सुधरी हुई जान पड़ती है। यह वीसलदेव रासो की भाषा से कुछ अधिक विकसित है। सन् ११४२ ई० के आस पास साँचोर के दहियों का राज्य जब विजयसिंह द्वारा छीना गया* उस समय के एक पद का उल्लेख मूता नैणसी ने अपनी ख्यात में किया है। वह इस प्रकार है—

"धरा धूंण धक चाळ कीध दहिया दल्ल वहै।
सवदी सवळां साल प्राण मेवास पहै॥
आल्हणसुत विजय सी वंस आसराव प्रागवड़।
खाग त्याग सत्रवाट सरण विजय पंजर सोहड़॥
चहुआँण राव चौरंग अचल नराँनाह अणभंग नर।
धूमेर सेस ज्याँ लग अचळ ताम राज सांचोर धर† ॥

इसकी भाषा अपभ्रंश से दूर की और डिंगल के समीप की सी जान पड़ती है। धक चाल, कीध, दहिया, सवळां, साल, आल्हण-सुत, वंस, खाग, सोहड़, चहुआँण, राव, नराँ, अणभंग, धूमेर इत्यादि शब्द डिंगल के हैं। इसका ढाँचा वीसलदेव रासो के ढाँचे की अपेक्षा कुछ गठीला है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि १२वीं सदी में भाषा का रूप बनने लगा और उसमें उन्नति होने लगी। सं० ११६७ वि० में इसके उत्तर भाग में इसने जो रूप धारण किया उसका उदाहरण जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि की 'वृद्ध नवकार' में मिलता है। सूरिजी का स्वर्गवास सं० ११६७ में होने के कारण उक्त ग्रंथ की रचना का समय

---

* Epigraphia Indica Vol. IV, p. 18.

† Indian Antiquary Vol. XLII, p. 268 (Kinsariya Inscriptions—Dadhichi-ka-chachcha of Vikram Samwat 1056, by Pt. Ramkaran of Jodhpur).

सं० ११६७ के पूर्व निश्चित किया जा सकता है*। इसकी कविता इस प्रकार है—

चित्रा वेली काज किसै देसांतर लंघउ।
रयण रासि कारण किसै सायर उल्लंघउ॥
चवदह पूरव सार युगे एक नव कार।
सयल काज महि पल सरै दुत्तर तरै संसार॥ २॥

और भी—

एक जहि इण मंत्रतणा गुण किता बखाणुं।
नाण हान छउ मत्थ एह गुण पार न जाणुं॥ ३४॥
जिम सेत्रुंजइ तित्थ राउ महिमा उदय वंतौ।
तिमि मंत्रह धुरि एह मंत्र राजा जयवंतौ॥ ३५॥
अड़ संपय नव यम सहित इगसठ लघु अच्चर।
गुरु अच्चर सत्तेव जाणो परमाच्चर॥ ३६॥

इसमें उल्लंघउ, दुत्तर, मत्थ, तित्थ आदि शब्दों को छोड़कर बाकी सब डिंगल के शब्द हैं। अतः यहाँ अपभ्रंश (१२वीं सदी में आकर) और भी पीछे छूट गई। डिंगल स्वतंत्रता से आगे बढ़ने लगी।

तेरहवीं शताब्दी के डिंगल ग्रंथों को क्रम से लेने में पृथ्वीराज रासो की बारी सबसे पहले आती है। यह रासो इस शताब्दी के मध्य का लिखा माना जाता है। हिंदी का यह प्रथम महाकाव्य है और डिंगल का भी। परंतु इसकी वर्तमान अवस्था को देखते हुए इसे डिंगल का काव्य कहने में संकोच होता है। कारण यह है कि बाद की अनेक भाषाओं तथा क्षेपकों के अमेय समावेशों ने इसे इतना बिगाड़ दिया है कि यह पहचाना नहीं जाता। इसकी भाषा कैसी है यह कोई नहीं कह सकता। इसमें प्रायः डिंगल,

* देखिए—नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग २, पृष्ठ १८२।

पिंगल, अपभ्रंश, व्रज आदि सभी भाषाओं का मेल है। व्याकरण की तो इसमें बड़ी मिट्टी पलीद हुई है। छंद भी लूले लँगड़े किए विना नहीं छोड़े गए हैं। तात्पर्य यह है कि लोगों की धाँधली ने इस ग्रंथ को साहित्य और इतिहास किसी के भी काम का नहीं रखा। इस रासो की भाषा से हमारे ध्येय की पूर्ति नहीं होती अतः इसे यहीं छोड़कर तेरहवीं शताब्दी के अन्य भाषा-उदाहरणों पर विचार करना उचित होगा।

पृथ्वीराज के समय के आसपास का एक पद्य मिला है*। उसमें डिंगल भाषा में, परबतसर के दहिया राजाओं के वंशज वीर हम्मीर के विषय में, जो लिखा है वह इस प्रकार है—

"महाकाळ जमजाळ जोधार जैमल्लरा।
काल्ह रौ कथन संसार कहियौ॥
दुरत पतसाह रै साल ह्वै दूदड़ौ।
दूदड़ा तणौ उर साल दहियौ॥ १॥
निवड़ भड़ निडर नरनाह नर वट्ट रौ।
सकज-भड़ स्याम रौ कांम स धीर॥
हियै पतसाह रै साल हाडौ हुवै।
हियें हाडा तणौ साल हमीर॥ २॥
आवरत कहर असवार आरवाड़ सिध।
काम पहचाड़ इधकार कीयौ॥
दूदड़ै टूठ पतसाह भो सुख दियौ।
दुरत दूदा उर साल दीयौ॥ ३॥"

इसकी भाषा भी ऊपर के अर्थात् १२ वीं शताब्दी के उदाहरणों की अपेक्षा कुछ परिमार्जित एवं एक सी और गठीली है।

---

* Indian Antiquary, Vol. XLVII, 1913, p. 267.

इसमें पहले की तरह अपभ्रंश के छींटे नहीं हैं। इससे पता लगता है कि जब अपभ्रंश डिंगल से बिलकुल अलग हो गई और यहाँ से शुद्ध डिंगल का आरंभ हुआ तब, डिंगल का बाल्यकाल होने के कारण, इसमें साहित्य की अधिक अभिवृद्धि नहीं हो सकी। इस अनभिवृद्धि का कारण यह भी है कि लोगों के मस्तिष्क से संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का ख्याल अभी बिलकुल नहीं निकल गया था। वे भाषा बोलते अवश्य थे पर उसमें लिखते नहीं थे। वे सदा संस्कृत और प्राकृत में ही लिखते थे। हाँ, कुछ जैन साधुओं ने अपने श्रावकों के हितार्थ संस्कृत और प्राकृत के ग्रंथों का भाषा में उल्था करना बहुत पहले से आरंभ कर दिया था परंतु मौलिक रचना का तब भी बहुत अभाव था।

चौदहवीं शताब्दी में लोगों की इस—संस्कृत और प्राकृत में लिखने की—प्रवृत्ति ने पलटा खाया। देश में राजनीतिक विप्लव मचा और लोगों का धर्म तक संकट के बादलों से छा गया। सबके हाथों से लेखनी छूट पड़ी। उन्होंने तलवारें उठाईं। रण के मारू बाजे बजने लगे और उत्साह-वर्द्धक गीतों की रचना हुई। जन-साधारण की भाषा की अब पूछ हुई और डिंगल में वीर गीतों की बाढ़ आ गई। इस समय में फुटकर दोहे और छप्पय अधिक रचे गए। ये किसी ऐतिहासिक घटना की स्मृति-रक्षा के निमित्त बनाए जाते थे और इतस्ततः पत्थरों पर खोद दिए जाते थे। परंतु राजनीतिक और धार्मिक संकट के कारण जन-साधारण में साक्षरता का नितांत अभाव हो गया था। साक्षरता केवल ब्राह्मणों और जैन पंडितों में ही रह गई थी। इसलिये जो प्रशस्तियाँ खोदी जाती थीं वे शुद्ध संस्कृत या संस्कृतमिश्रित भाषा में अधिक होती थीं—डिंगल में बहुत कम। डिंगल का अब तक जो उदाहरण मिला है वह उदयपुर के विक्टोरिया हॉल म्यूजियम में सुरक्षित है। यह तेरहवीं शताब्दी

के आसपास डिंगल भाषा में लिखा एक पूरा शिलालेख, जिसमें महादेवजी की स्तुति है, बीजोल्या में मिला था। इसके अतिरिक्त अभी तक किसी और शिलालेख का पता नहीं चल सका है। इसलिये १४ वीं शताब्दी में लिखित साहित्यिक ग्रंथों का नितांत अभाव रहा पर भाषा की अभिवृद्धि में किसी प्रकार की रुकावट नहीं हुई।

डिंगल का माध्यमिक काल पंद्रहवीं शताब्दी से आरंभ होता है। इस समय १४ वीं सदी के फुटकर गीतों के साथ साथ दोहों का अप्रमेय-निर्माण भी उन्नति करने लगा। परंतु इस समय तक भारत की स्थिति में सुधार नहीं हो पाया था अतः ये लिखित रूप में बहुत कम उपलब्ध हो सके। परिस्थिति के सुधरने पर लोगों ने जन-साधारण में प्रचलित दोहों को संगृहीत करके ख्यातों में जहाँ तहाँ पिरो दिया। उनमें से कुछ का यहाँ दिग्दर्शन करा देना उचित होगा।

माध्यमिक काल— सं० १४०० से १६००

सं० १४४० में देवपाल और धीरा आदि के साथ लड़कर वीरगति को प्राप्त होते समय कहा हुआ—

भूखा तिसिया थाकड़ा राखीजे नेड़ाह।
ढळिया हाथ न आवसी 'गोगादे' घोड़ाह॥

यह दोहा गोगाजी के समय का बताया जाता है। इसके थोड़े ही बाद का एक सोरठा इस प्रकार है—

चूँड़ो चँवरी चाड़ दियो मँडोवर दायजे।
ईंदाँ रो उपकार कमधज कदे न वीसरै॥

इस सोरठे का समय १४८० के कुछ पूर्व का बतलाते हैं। इसी समय के कुछ और दोहे हैं—

कळह करै मत कामणी घोड़ाँ घी देताँह।
आड़ा कदेक आवसी बाड़ेली बेताँह॥

आक बटौके पवन भखै तुरिया आगळ जाय।
मैं तने पूछूँ सायबा हिरण किसा घी खाय॥
चूँड़ा न आवै चीत काचर काळाऊ तणा।
भूप भया भैभीत मंडोवर रे माळिये॥

परंतु इन दोहों की वास्तविकता पर हमें शंका है क्योंकि जिस समय इनकी रचना हुई उस समय का कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, जैन साधुओं द्वारा प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद अवश्य मिलते हैं। उनमें प्राकृत बुद्धि अवश्य है पर तो भी तत्कालीन शुद्ध भाषा का कुछ आभास भी मिल ही जाता है। उदाहरण के लिये हीरानंदन सूरि द्वारा 'विद्याविलास-चरित्र' से, जो सं० १४८५ का लिखा हुआ है, कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

तिणि पुरि निवसइँ सेठि धनावह धम्मी नइ धनवंत।
पदमसिरी तस घरणी भणीइ सहिजिइं अति गुणवंत॥ ४॥
तस घरि नंदन च्यारि निरुपम पहिलउ धुरि धनसार।
बीजउ बन्धव बहु गुण बोलइ बुद्धिवंत गुण सार॥
त्रीजु सूरतिवंतु (गुण) सागर सागर जेंस गंभीर।
चउथउ बन्धव सुणि धन सागर समर ससाहस धीर॥ ५॥

इस उदाहरण से ज्ञात होता है कि डिंगल में संस्कृत और प्राकृत के तत्सम और तद्भव शब्दों को लेने की प्रवृत्ति पंद्रहवीं सदी से आरंभ होने लगी। यह प्रवृत्ति साहित्यारूढ़ होकर स्वतंत्र रूप से चलनेवाली प्रायः सभी भाषाओं में हुआ करती है। वे जब अपना एक निश्चित रूप स्थिर कर लेती हैं तब अपने शब्द-कोष को पूर्ण और संपन्न बनाने के लिये दूसरी संपन्न भाषाओं के शब्दों को तद्भव रूप में लेना आरंभ करती हैं। यह बात बहुधा उनके माध्यमिक काल में ही होने लगती है क्योंकि बाल्यकाल तो केवल उन्हें अपना रूप स्थिर करने तथा चलने के लिये एक स्वतंत्र मार्ग

निश्चित करने में ही लग जाता है। माध्यमिक काल ही में साहित्यिक यात्रा के लिये संपन्न सामग्री संग्रह करने की उसे चिंता होता है। ऐसा ही डिंगल में भी हुआ। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक एक स्वतंत्र मार्ग स्थिर करके इसने अपभ्रंश का साथ छोड़ दिया और एक स्वतंत्र साहित्य यात्रा के संवल-संग्रह का आरंभ यह पंद्रहवीं शताब्दी में करने लगी।

१६ वीं शताब्दी में मुगलों का राज्य जमा। विप्लव कम हुआ और लोगों की जान में जान आई। राजपूत राजा लोग भी अपने साम्राज्यों की सीमाएँ बाँधकर ठिकाने से बैठे। स्वामिभक्त चारणों और भाटों को राज-दरबारों में मान और आश्रय दिया गया। उन्होंने भी काव्यामृत-पान द्वारा अपने स्वामियों की सेवा करना आरंभ किया। कविता का प्रचार बड़ी तीव्रता से होने लगा। चारणों में कविता-रचना की स्पर्धा बढ़ी। कई काव्य रचे गए और डिंगल साहित्य का विकास-क्रम उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। इस शताब्दी की भाषा का उदाहरण न्यायसुंदर सूरि के "विद्याविलास-चरित्र" में मिलता है। यह ग्रंथ संवत् १५१६ का लिखा हुआ है। इसमें सेठ धनावह के चार पुत्रों के जीविकोपार्जन संबंधी विचारों का पद्यमय वर्णन है—

तिणि नरयरी निवसई धनवंत, सेठि धनावह जगि जयवंत।
पद्मश्री छई तेहरी नारि, निरुपम सील कला-भंडार॥
जिणि जाया छइ चारह पुत्त, लत्तणवंता सगुण निरुत्त।
नामहि पहिलउ धन धनसार, बीजउ सागर दत्त कुमार॥

संवत् १५५० का नमूना देखिए। यह 'रामचंद्र सूरि' कृत 'मुनिपति राजर्षि-चरित्र' के अंत का पद है—

संवत पनर पचासो जाणि, वदि वइसाख मास मन आणि।
दिन सप्तमी रचिउ रविवार, भणइ सुणइ तिहु हरष अपार॥

अब ज्ञात हुआ कि यहाँ आकर तत्सम और तद्भव प्रवृत्ति ने और उन्नति की। तीणि, जिणि, सेठि, जाया, छइ, आणि, भणइ, बीजउ आदि अपभ्रंश शब्दों के साथ साथ तद्भव और तत्सम शब्दों को इस शताब्दी में बड़ी उदारता से अपनाया गया है; जैसे—पनर पचासो, वइसाख, धनवंत, मास, सप्तमी, पद्मश्री, अपार आदि से प्रकट होता है। परंतु संस्कृत और प्राकृत के पंडितों में यह प्रवृत्ति जितनी पाई जाती है उतनी चारणों में नहीं। उनकी कविता में तद्भव शब्दों की प्रचुरता तथा तत्सम शब्दों का नितांत अभाव होता था। इसके दो कारण थे। पहले तो वे पंडित नहीं थे इसलिये तत्सम शब्दों का उच्चारण करना ही उनके लिये कठिन था। दूसरे वे वीर रस की कविता किया करते थे जिसमें तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्द विशेष फबते थे। इसलिये तत्सम शब्दों के प्रयोग से ये बचते रहते थे और जहाँ तक हो सका देशी तथा तद्भव शब्दों को वीर रस की कविता में स्थान देते थे। उदाहरण के लिये एक गीत का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है। यह गीत सं० १५४८ में राव बीकाजी ने, जोधपुर (के सातलजी), जैसलमेर (के राव देईदानजी) तथा नागोर (के शाही सिपहसालार) की सम्मिलित सेना पर जो विजय प्राप्त की थी, उसके उपलक्ष में रचा गया था*।

गीत इस प्रकार है—

वइ रायाँ[1] लाइ विसम छइ[2] वीकइं,
हेकाँ[3] -कहेस हेक-मनि[4]।

---

* "Journal of the Asiatic Society of Bengal, No XIII, p. 235, (Report of the Bardic and Historical Survey of Rajputana).

१. वैरियों पर। २. छाल (उछाल)। ३. एकत्र। ४. एक मन से।

ढूका आइ सासठा[५] ढेला
वारण[६] च्यारइ चरण[७] वनि ॥१॥
वीकउ हेक चियारइ वारण
थोभे[८] सकइ नहीं अरि थाट[९] ।
सार[१०] सियाळाँ हुवउ साँमुहउ
रोही[११] सो करतउ रड़ाट[१२] ॥२॥
सातल[१३] देहइ[१४] सिखर[१५] सारिखा
वंगाली बाणा धवळ[१६] ।
केहर बीकउ विचइ कुंजरा
कठठइ[१७] ऊबा[१८] खे कमळ ॥४॥
जोरि[१९] हाथि[२०] नावइ[२१] जोधाउत[२२]
वइरी विठइ[२३] न दूजी वारि ।
चुँहटी गा[२४] कुंटाळे[२५] चाखे[२६]
चार कि वन[२७] हाथिया चियारि ॥५॥

और भी—

राठउड़ाँ पाखइ अउर राइ
लोक किय मूगुले पाइ लाइ ।
छातपति हेक अम्मळी छत्त
गिर मेर प्रमाणइ तास गत्त ॥ १४१ ॥

---

५. बहुत से । ६. वारण (हाथी) । ७. चरने को । ८. स्तंभित करे; रोके । ९. थाट (अप० थट्ट) । १०. चिंघाड़ते हुए हाथियों का । ११. अरण्य में । १२. दहाड़ता हुआ । १३, १४. नाम—सातलजी व देईदान । १५. पर्वत । १६. बाणावली । १७. कठिन स्थल में । १८. जँभाई लेता है । १९. जोर । २०. के साथ । २१. नहीं नमता है । २२. बीकाजी । २३. लड़ेंगे । २४. चाटी दे गए (देशी), भाग गए । २५. सकर्ण बाणों को । २६. चखकर । २७. मानो चारा मिल गया हो ।

खुरसाणी खाफ़र खेड़ खत्ति
पारंभ कियउ उतराध पत्ति ॥ १४३ ॥
लाहउरि सेन सम्मिळइ लक्ख
पाखरिजइ तेजी सूध पक्ख ।
सम्मिळइ साहि आलम समान
खिड़ि सतरि बहत्तरी मिळइ खान ॥ १४४ ॥
काळवा कुही करड़ा कियाह
हाँसला हरे वीनइ हलाह ।
रोझड़ा महूड़ा पीलरंग
तोरकी केवि ताजो तुरंग ॥ १५२ ॥
डूँगरी मसक्की वेखि दीय
अइराक ततारी आरबीय ।
खुरसाणी मकुराणी खहंग
पतिसाह तणा छूटइ पवंग ॥ १५३ ॥

यह पिछला उदाहरण वीठूसूजे कृत 'छंद राउ जइतसी रउ' से लिया गया है। इसका निर्माण-काल सन् १५३५ ई० माना जाता है। इन उदाहरणों की भाषा से पता चलता है कि मुसलमानों के संसर्ग के कारण अरबी और फारसी तक के तद्भव शब्दों का समावेश डिंगल में हुआ। वे तद्भव रूप में इसमें आए। देशी शब्दों का तो इसमें बराबर प्रयोग हुआ, जो वीररस की कविताओं में प्रायः अनिवार्य रूप से पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक विशेषताएँ इसमें और जुड़ गईं। अपभ्रंश के 'अउ' का संकोच होकर 'उ' रह गया। जैसे सम्मुखकः के अपभ्रंश 'सामुहअउ' का डिंगल में 'सामुहउ' हुआ। 'ण' वर्ण तथा 'ड' वर्ण का प्रयोग बहुलता से होने लगा। अनुप्रास और उपमा की ओर भी लोगों का ध्यान गया। उन पंडितों और जैन

साधुओं पर भी धीरे धीरे इस भाषा का प्रभाव पड़ा। डिंगल शीघ्रता से विकसित होने लगी। सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ तक तो यह पूर्ण रूप से उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गई। वीर, शांत, शृंगार तथा भक्ति रस की पद्य-रचनाओं के साथ साथ इसमें गद्य-रचनाएँ भी हुईं। गद्य-रचना की धारा यों तो १५ वीं शताब्दी से चली आती थी परंतु यहाँ आकर वह विशेष विस्तृत हो गई और गद्य-भांडार विशेष रूप से संपन्न हुआ। इस समय के गद्य का नमूना इस प्रकार है—

राजि सींहोजी कनवज हुतो। आइ खेड़ रहियौ। पछै सिरी द्वारकाजी री जात नूँ हालियौ सु वीचालै पाटण मूळराज सोलंकी री रजवार सुलाखै फूलाणी उजाड़ घणा किया। सो तेरै लिये सीहैजी नूँ राखै पछै सीहैजी कहौ जु जात करी नै घिरतो आईस पछै घिरता आया ताहरा लाखै फूलाणी मारियै पछै सीहैजी नूँ मूळराज परणाइ ने खेड़ मेल्हिया*।

ख्यातें तथा राजस्थानी वीरों की जीवन-संबंधी बातें बहुधा गद्य में लिखी गई हैं। इनका प्रचार १६वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक बराबर जारी रहा है। १९वीं सदी में इसका प्रचार कम होने लगा तथा २०वीं शताब्दी में गद्य-लेखन की प्रथा उठ सी गई है। अस्तु।

डिंगल के इस विकास-काल के समय हिंदी की दो शाखाएँ हाथ-पाँव चलाने लगीं। मुसलमानों ने खड़ी बोली को अपनाया और साधु, महात्मा, कृष्णभक्त वैष्णवों ने व्रजभाषा को। खड़ी बोली

*. "Journal of the Asiatic Society of Bengal", 1919, p. 31. (A progress report on the work during the year 1907, in connection with the "Bardic and Historical Survey of Rajputana" by L. P. Tessitory.

तो उस समय विशेष उन्नति नहीं कर सकी पर कृष्णभक्ति ने व्रज को शीघ्र ही उन्नति के चरम शिखर पर चढ़ा दिया। व्रज, जो तेरहवीं शताब्दी में राजस्थानी से अलग हो गई थी, अपना प्रभाव १६वीं शताब्दी में इस पर पुनः डालने लगी। राजस्थानी कवियों ने व्रज में लिखना आरंभ किया। अब डिंगल और पिंगल दोनों में साहित्य रचा जाने लगा। पिंगल राजस्थानी से मिली हुई व्रज-भाषा का नाम है, शुद्ध व्रज का नहीं। राजस्थान की सुप्रसिद्ध अमर कवयित्री मीराँबाई का नाम किसी से छिपा नहीं है। इनकी कविता पिंगल भाषा में है।

मीराँ की कविता ने राजस्थानी साहित्य में एक नई ज्योति जगाई। वीररस की कविता सीमित रूप में होने लगी। भक्ति-रस की मधुर ध्वनि चारों ओर फैल गई। भक्तिरस की कविता के लिये पिंगल की मधुरता ने लोगों को अपनी ओर खींचा। इसका प्रभाव राजस्थानी साहित्य के साथ साथ बोलचाल की भाषा पर भी पड़ा और उसके दो भेद हो गए। एक व्रज-मिश्रित राजस्थानी, जो अलवर जयपुर से लेकर मारवाड़ तक बोली जाने के कारण मारवाड़ी कहलाई; दूसरी जैसलमेर, गुजरात और सिंध की भाषा से मिश्रित होने के कारण गुजराती कहलाने लगी। यह भेद सोलहवीं शताब्दी से अंकुरित होकर १७वीं के अंत में साफ प्रकट होने लग गया था।

१७ वीं शताब्दी के काव्यों में राठौड़राज पृथ्वीराजजी द्वारा लिखी 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' प्रसिद्ध है। यह अत्यंत उत्कृष्ट एवं पांडित्यपूर्ण ग्रंथ है। यद्यपि इसके पहले और पीछे डिंगल के कई ग्रंथ लिखे गए परंतु इसकी बराबरी कोई भी नहीं कर सका। इस शताब्दी में अन्य ग्रंथों की अपेक्षा बोलियाँ नई लिखी गई थीं। हम ऊपर कह आए हैं कि संस्कृत के तद्भव शब्दों का प्रयोग शांत-रस की कविताओं में बहुत पहले से होता चला आया था, वही

इस शताब्दी में बहुत प्रबल हो गया। उदाहरण के लिये 'वेलि' के दो छंद उद्धृत किए जाते हैं—

आगइ जाइ आलि केलि गृह अंतरि
करि अंगण मारजण करेण।
सेज वियाज खीर सागर सजि
फूल वियाज सजे तसु फेण॥ १५९॥

और—

आभा चित्त रचित तेणि रंगि अनि अनि
मणि दीपक करि सूध मणि।
माँडि रहे चंद्रवा तणे मिसि
फण सह सेई सहस फणि॥ १६०॥

इसमें आलि, केलि गृह, अंतरि, अंगण आदि तद्भव संस्कृत शब्दों के अतिरिक्त कुछ तत्सम शब्द भी आ गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस समय डिंगल भाषा साहित्यिक उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी। इस समय डिंगल में वेल, झूलणा, बात, छंद, कवित्त आदि कुछ तो छंदानुसार काव्यों की रचना हुई थी और कुछ विषयानुसार काव्यों की। इसमें छंदानुसार काव्यों की रचनाएँ अधिक संख्या में हैं।

अठारहवीं शताब्दी में प्रवेश करते ही हमें एक नए प्रकार की ग्रंथ-रचना के दर्शन होते हैं जिसका प्रचार १६वीं शताब्दी में ही आरंभ हो गया था। यह रचना वचनिका के नाम से प्रसिद्ध है। १८ वीं शताब्दी की वचनिका, जिसके विषय में यहाँ कुछ कहा जायगा, राठौरराज रतनसिंहजी महेशदासोत के संबंध में कही हुई वचनिका है। यह एक प्रकार का गद्य-पद्य-मिश्रित काव्य है और इसका पूरा नाम 'वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री महेशदासोत री खड़िए जगेरी कही' है। इस वचनिका नामक ग्रंथ में यह विशेषता

है कि इसके गद्य के वाक्य चाहे छोटे हों चाहे बड़े सब तुकांत होते हैं। इस प्रकार का तुकांत गद्य वचनिका के सिवाय डिंगल में और किसी ग्रंथ में नहीं मिलता। इसके गद्य के बीच बीच में पद्य भी जड़ दिए जाते हैं जो प्राय: दूहा, कवित्त, छप्पय और गाहा आदि हुआ करते हैं। परंतु इस राजा रतनसिंह की वचनिका में कवि ने ऊपर दिए हुए छंदों के अतिरिक्त भुजंगी, मोतियदाम, विश्रक्खरी आशीष वचनिका, चंद्रायण आदि छंदों का भी प्रयोग किया है।

इस शताब्दी में और भी कई ग्रंथ लिखे गए परंतु वे इतने उत्कृष्ट नहीं हैं जितनी कि यह वचनिका है। वे करीब करीब सारे ही फुटकर छंदों के रूप में हैं। उनको देखने से यह पता चलता है कि सोलहवीं सदी में जो ध्वन्यात्मक परिवर्तन डिंगल में होने लगे थे, वे इस शताब्दी में आकर परिपुष्ट हुए और उनका इस समय की भाषा में स्पष्ट दर्शन होने लगा। वर्तमान काल, सुदूर विधि और कर्मवाच्य तथा सप्तमी के प्रथम पुरुष के एकवचन के अंत्य 'इ' का 'ऐ' हो गया। जैसे 'आवइ' का 'आवै', 'वाधि-जइ' का 'वाधिजै' देखा जाता है। कर्मवाच्य में 'मूकिजइ' का 'मूकिजै' इत्यादि। ये भेद उच्चारणानुसार लेखन के कारण हुए हैं। दूसरा भेद जो इस समय की डिंगल में बहुत पाया जाता है वह स्त्रीलिंग संज्ञाओं के अंत्य 'इ' का 'अ' हो जाता है; जैसे—'तरवारि' का 'तरवार' और 'ख्याति' का 'ख्यात' हुआ मिलता है। तीसरा भेद, करण और संबंध के बहुवचन के अंत्य 'ए' का 'आँ' हो जाता है; जैसे—

ढोराँ चोराँ कमंडलाँ वागरियाँ रै वैस।
भालड़ियाँ घिसताँ फिरै आयो अर्बुद देस॥

तथा सुहड़ाँ, भड़ाँ, घोड़ाँ, चोराँ आदि।

नीचे लिखे उदाहरण से यह नियम स्पष्ट हो जाता है। सं० १७५० के लगभग का यह गीत उस घटना का द्योतक है जब वीर दुर्गादास अजितसिंहजी को लेकर मुसलमानों के घेरे से निकल गए थे और जोधपुर की महारानी हाड़ीजी को उनके साथ लड़ना पड़ा था। गीत यों है—

दिन साँचे दंद खूंद वे दयगळ,
पातसाही चढ़ जलल पड़ै।
हाड़ी चढ़ी फौजाँ हलकारै,
लाड़ी जसवंत तणी लड़ै॥ १॥
ऊगे दीह जवन चढ़ि आवै,
सुहड़ाँ भड़ाँ लिया बहु साथ।
औरंगसाह धसे किम आघौ,
भागो ही सुजणे भाराथ॥ २॥
भाऊ जिसो अरोड़ा भाई,
भड़ जसवंत जेहो भरतार।
चिगथा लड़ण चलावै चोटाँ,
सत्रु सल सुधी बजावै सार॥ ३॥
पखे दुँहुँ नृमळ सासरो पीहर,
जेठ अमर सत्रसाल जणो।
राणी पाणी धरम राखियो,
लागो हिंदुस्तान तणो॥ ४॥

इसमें फौजाँ, भड़ाँ, चोटाँ आदि इस शताब्दी के रूप हैं, परंतु वचनिका की भाषा में इन १७वीं शताब्दी के नियमों का निर्वाह कम हुआ है। उसमें सोलहवीं शताब्दी के पहले के नियमों की रक्षा अधिक की गई है। इस वचनिकाकार की तरह सोरही चारण कवि व्याकरण के नियमों के पालन में इतने कट्टर नहीं थे।

हाँ, पुराने शब्दों के प्रयोग में तो वे इससे भी कट्टर थे। वीर-रस के प्रायः सभी काव्य चारणों के लिखे हुए हैं और उनमें इन्होंने पुराने डिंगल शब्दों का प्रयोग बड़ी सत्यता के साथ किया है। इस सदी के बाद तक अब भी उनका यही हाल है। उनकी कविताओं में ५०० वर्ष पहले तक के शब्द मिलते हैं। इन पुराने शब्दों के प्रयोगों के कारण चारणों की कविता आजकल के लोगों की समझ में नहीं आती और वे इसे चारणों की बनावटी भाषा कहकर संतोष कर लेते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में डिंगल के रीतिग्रंथ और शब्दकोष भी लिखे गए हैं। इनमें कविवर मनसाराम (मच्छ) कृत डिंगल छंद-शास्त्र का अच्छा उदाहरण है। इस ग्रंथ की भाषा में डिंगल के नियमों का पूरी तरह पालन हुआ है। अर्वाचीन डिंगल के रूप में कुछ विशेषता अवश्य है। इस समय डिंगल के जन-साधारण से बिलकुल छूट जाने के कारण, बोलचाल की भाषा—वर्तमान राजस्थानी—ने साहित्य का रूप धारण करना शुरू कर दिया। डिंगल का क्षेत्र संकुचित होने लगा। यह अवस्था १९वीं शताब्दी के आरंभ के आस-पास से होनी शुरू हुई और अब तक चली आती है। इसी को डिंगल का अवसानकाल तथा बोलचाल की राजस्थानी का उदयकाल कहना चाहिए। इस समय की जन-साधारण की भाषा की कविता के कुछ उदाहरण यहाँ देकर डिंगल-संबंधी और बातों पर विचार किया जायगा। इस समय के लिखे शुद्ध पिंगल के ग्रंथों में सुरसति कविकृत 'मधुर कलानिधि' तथा हरिराम कविकृत 'छंद-रत्नावलि' हैं, जो भूषण की भाषा के आधार पर सं० १७०५ की रची हुई हैं। हाँ, इनके अतिरिक्त पूरनमल पालड़ीवाले द्वारा सं० १८०२ का रचा हुआ 'शिखिर-वंश-जस-प्रकाश' मिलता है। कई ग्रंथ और

उत्तरकाल

भी हैं पर उन पिंगल ग्रंथों को छोड़कर शुद्ध राजस्थानी के उदा-हरण देना उचित होगा।

परिहाँ री अरिलन

आरंभ---रे रे चित्त कुमित्त कुमाणस क्या रमै।
सुंदर लेहु पिछाण तूँ भूलि क्या भ्रमै॥
उत्तम सेनी नेह तिलो तिल जोड़िए।
जो सिर आवै दोस नेह नहिं तोड़िए॥

मध्य—रे रे कुँवर अपाण हुआ क्यूँ बावळो।
अंबै हाथ न घास के अंबो रावळो॥
अंब फळ्या बहु भाँति जीव सु पाळिया।
अंबै हाथ न घात देऊँली गाँळियाँ॥

अंत—आज सखी अणुराह किसा के कारणइ।
ऊभी खरी उदास क मंदिर बारणइ॥
दिन दिन जोवन जाय क रहइ न झल्लिया।
परिहाँ चंगी छोड़ दिसावर चल्लियाँ* ॥

इस स्त्री-कवि की कविता देखकर ही अनुमान लगाया जा सकता है कि राजस्थानी कविता का उस समय कितना प्रचार रहा होगा। इसके अतिरिक्त आड्याँ, नीति के दोहे और गीत बहुत संख्या में बने और धीरे धीरे राजस्थानी में काव्य भी अवश्य लिखे जाते, परंतु आधुनिक हिंदी का सर्वव्यापी प्रभाव राजस्थान पर इतना पड़ा कि लोगों का ध्यान प्रांतीय साहित्य की ओर न जाकर उधर खिंच गया; अस्तु।

सारांश यह है कि डिंगल राजपूताने की वह पुरानी साहित्यिक भाषा है जो ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर १८ वीं शताब्दी तक वहाँ की मुख्य साहित्यिक भाषा रही। इसकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश

---

* बड़ा उपाश्रय, बीकानेर की एक हस्तलिखित प्रति से।

से हुई और इसने अपने पूर्ण उन्नत यौवनकाल को पहुँचकर राजस्थानी (इसकी सीमा केवल राजपूताने में ही परिमित नहीं किंतु इसका विस्तार गुजरात, मालवा, काठियावाड़ और कच्छ तक था) और गुजराती को जन्म दिया जो साहित्य-संपत्ति से संपन्न होकर अपनी वृद्धा माँ के साथ अब भी विद्यमान है। हिंदी का सर्वव्यापी आघात राजस्थानी पर विशेष पड़ा जिसके कारण वह इतना नहीं पनप सकी जितनी उसकी बहिन गुजराती पनप सकी है।

डिंगल के जन्म तथा विकास इत्यादि के विषय पर तो लिखा जा चुका। अब इसके उत्तर का जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है, वह इसके नाम की सार्थकता का है। अब तक जिन जिन विद्वानों की सम्मतियाँ देखने में आई हैं उनसे डिंगल की सार्थकता का सप्रमाण पता नहीं चलता। एल० पी० टेसिटरी (L. P. Tessitory) पंडितों तथा चारणों की दलीलों का निराकरण करते हुए इस विषय पर लिखते हैं—

The term Dingala which has nothing to do with 'Dagar,' nor with any other of the fantastic etymologies proposed by the bards and Pandits of Rajputana, but is a mere adjective, meaning probably "Irregular'," *i.e.*, "Not in accordance with the standard poetry," or probably 'vulgar.'*

खेद है कि टेसिटरी जैसे विद्वान् ने भी डिंगल शब्द की उत्पत्ति के तल तक पहुँचने का कष्ट न करके इसे संभवतः 'गवाँरू' अर्थ-सूचक ही कहकर टाल दिया। हमें इनकी सम्मति को मानने में बहुत आगा-पीछा है।

---

* Journal of the Asiatic Society of Bengal, Vol. X, No. 10, 1914, P. 376.

यह ऊपर बताया जा चुका है कि ब्रजभाषा, जो तेरहवीं शताब्दी में डिंगल से अलग हो गई थी, सोलहवीं शताब्दी में अपना प्रभाव इस पर डालने लगी। इससे पहले एक स्थान पर यह भी कहा जा चुका है कि जब ब्रजभाषा का आविर्भाव हुआ और उसमें कविता की जाने लगी तब राजस्थानी और ब्रज में अंतर बताने के लिये ब्रज को पिंगल और राजस्थानी को डिंगल कहने लगे; अस्तु।

इससे स्पष्ट है कि डिंगल और पिंगल के नाम-भेद की आवश्यकता राजपूताने में पड़ी और वहाँ के निवासियों ने इन भाषाओं के भेद-ज्ञान की सुविधा के लिये इन दो नामों की सृष्टि की। अब यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि डिंगल से राजस्थानियों का संबंध सदियों से रहता आया है। इसको एक प्रकार से यदि राजस्थानियों की मातृभाषा कहा जाय तो अनुचित न होगा। मातृ-भूमि और मातृभाषा पर प्रत्येक स्वाभिमानी व्यक्ति को गर्व हुआ करता है। उसकी दृष्टि में और कोई वस्तु इनसे बढ़कर मान्य नहीं होती। इस बात को देखते हुए राजस्थानियों ने अपनी मातृभाषा डिंगल को गँवारू नाम दिया होगा यह—साधारण मानव स्वभाव को देखते हुए—मन में नहीं जमता। अतः डिंगल शब्द का प्रयोग गँवारू अर्थ में न करके उन्होंने किसी और अच्छे अर्थ में किया होगा जिसका पता अभी तक नहीं लग सका है।

प्रत्येक भाषा में एक ऐसी विशेषता हुआ करती है जो बहुधा उसकी सतह पर झलका करती है। यह विशेषता प्रायः किसी वर्ण-विशेष के व्यापक प्रयोग को लेकर बनती है और भाषा में इतनी रम जाती है कि दो-चार शब्द बोलते ही भाषा पहचान ली जाती है। उदाहरण के लिये बँगला तथा बिहारी को लीजिए। बँगला में 'ओ' का तथा बिहारी में 'ल' का प्रयोग पद पद पर होता है। बँगला का प्रत्येक असंयुक्त वर्ण 'ओ'कार की ध्वनि से परिवेष्टित तथा

बिहारी की क्रियाओं के प्रायः सभी रूप 'ल'कार-युक्त होते हैं। एक बंगाली 'चटर्जी' का उच्चारण 'चोटोर्जी' और 'मुखर्जी' का उच्चारण सदा 'मुखोर्जी' करेगा। बिहारी भाषा-भाषी अपनी क्रियाओं में लकार लगाकर बोलेगा। उसको यदि 'जहाँ वह सोता था तहाँ मैं गया था' कहना होगा तो वह 'जहाँ वह सूतलहल थी उहाँ हम गयलीहल' कहेगा। इसी कारण 'ओ'कार-बहुल भाषा कहने से बंगाली का तथा 'ल'कार-बहुल कहने से बिहारी भाषा का बोध होता है। ऐसा विशेषताएँ प्रायः सभी भाषाओं में होती हैं और उनके नाम भी बहुधा उन विशेषताओं को लेकर बनते हैं।

डिंगल भी इस प्रकार की विशेषता से खाली नहीं है। डिंगल आदि से अंत तक वीररस के काव्यों की भाषा रही है। वीरभूमि में इसने जन्म लिया और वीरों के हाथों में ही, शस्त्रों की खड़खड़ ध्वनि के साथ खेलकर, यह पली। ऐसी अवस्था में शस्त्र-ध्वनि से साम्य रखनेवाले वर्णों का इसमें आ जाना एक साधारण बात है। ऐसा प्रायः सभी वीररस की कविताओं में हुआ करता है। इसलिये 'डिंगल' ने 'ड' वर्ण को अपनाया और इसका प्रयोग उसमें बहुतायत से होने लगा। और तो और स्वार्थिक प्रत्यय की तरह 'ड' वर्ण को प्रत्येक संज्ञा के पीछे लगाना तो डिंगल की मुख्य विशेषता है। यह गुण इसने अपनी माँ अपभ्रंश से सीखा और इसका पूरी तरह उपयोग भी किया। डिंगल के प्रेरणार्थक क्रियारूपों में भी 'ड' वर्ण-युक्त प्रत्यय लगा करता है; जैसे—संस्कृत के 'कथ्' धातु से डिंगल प्रेरणार्थक में कहाड़नौ या कवाड़नौ, 'खइँ' से खवाड़नौ, 'कृ' से कराड़नौ आदि आदि। इनके अतिरिक्त विशेषणों और भाववाचक संज्ञाओं आदि में भी 'ड' वर्ण मिलता है। कवियों ने तो अपनी कविताओं में जितना प्रयोग 'ड' का किया है उतना किसी और वर्ण का शायद ही किया हो। डिंगल के गीतों तथा वीर छंदों की तो बात ही क्या, छोटे छोटे

दोहों में भी कोई सा दोहा ऐसा होगा जिसमें 'ड' वर्ण एक-आध बार न आ गया हो। कुछ नमूने डवर्ण के प्रयोग के देखिए—

वीकउ वारि वाणि जेणि वडरायाँ
 सोटा गढ़ राखइ मंडळि
अयणइ गोकळ तणु उवारियइ
 कान्ह प्रवाड़उ किस्यउ कळि ॥ १ ॥
कांढळिए उग्रड़िये कमधज
 नरिंद बखाणइ घणा नरिंद।
लइं आँगुली अनड़ तू ऊपरि
 गिड़े कियउ पड़ते गोविंद ॥ २ ॥
 (वीकैजी रा गोत—सौहट चारण रा गाया)

एक छंद और भी देखिए—

वगतर चोला सिसिहि, यड़ह नीसाणति वज्जिड़।
फूल मिसिहि सिरि टोप ताल तरवारिनि तोड़इ ॥
कलह मिसिहि कच्छपउ धाइ अरियण घड़ मोड़इ।
लूणकन राइ नंदण अनड़ सुकवि सिवा सच्चू चवउँ ॥
जैतसी राय कम्मरा दल नटारंभि नचाड़ियउ ॥ २ ॥
 (राउ जइतसी रउ छंद सं० १५३५)

अब जरा डिंगल के उत्तर-काल के फुटकर दोहों का अवलोकन कीजिए। यह काल 'ड' वर्ण के प्रचुर प्रयोग के लिये कितना प्रसिद्ध है, यह इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा।

कठ जाया कठ ऊपन्या कठड़ै लडाया लड्ड।
कुण जाणै किण खड्ड में जाय पड़ैला हड्ड ॥ १ ॥
हाड़ा गाहड़ बाँकड़ा कीरत बंका गौड़।
बळ हठ बंका देवड़ा 'रणबंका' राठौड़ ॥ २ ॥

ऊजड़ खेड़ा फिर बसै निरधनिया धन होय।
बीत्या दीहड़ न बांहुड़ै मुआ न जीवै कोय॥ ३॥
घोड़ा टोड़ा टोकड़ी छोड़ी नहीं बनास।
आडावळा उलंघिया छोड़ी घर री आस॥ ४॥

यह देखने से कहा जा सकता है कि डिंगल 'ड'वर्ण-प्रधान भाषा है। अतः इसके नाम को 'यथा नाम तथा गुणः' अथवा 'यथा गुणः तथा नाम' बनाने के उद्देश्य से 'ड' की स्थापना की गई हो, यह उचित जान पड़ता है। कवि लोग जितने सौंदर्य-प्रेमी होते हैं उतने ही अनुप्रास अर्थात् ध्वनि-साम्य के प्रेमी भी हुआ करते हैं। अतएव, संभवतः पिंगल शब्द के समान ध्वन्यात्मक शब्द की रचना करने की इच्छा उनमें उत्पन्न हुई हो और पिंगल के 'प' वर्ण के स्थान में 'ड' वर्ण की स्थापना द्वारा उन्होंने 'डिंगल' की रचना कर डाली हो। ऐसा करना कवि-प्रकृति से बाहर नहीं जान पड़ता। इसलिये डिंगल को केवल तुकांत न कहकर इस भाषा की विशेषतासूचक सूक्ष्म सार्थकतामय शब्द कह सकते हैं।

डिंगल-साहित्य

डिंगल-साहित्य में कई विभाग हैं। कुछ छंदानुसार हैं और कुछ विषयानुसार। विषयानुसार की अपेक्षा छंदानुसार विभागों की संख्या अधिक है। इनमें मुख्य छंद—जिनके पीछे ग्रंथों के नाम रखे गए हैं—बेल, झूलना, गीत, दूहा, रूपक, कवित्त आदि हैं। एक गद्य-ग्रंथ का नाम भी वचनिका नामक गद्य-शैली पर रखा जाता है। पर दुःख है कि वचनिका जैसे ग्रंथ एक-दो ही लिखे गए हैं। यदि ये कुछ विशेष संख्या में लिखे जाते तो डिंगल का गद्य भी पद्य की तरह उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया होता। विषयात्मक ग्रंथों की संख्या तो बहुत ही अल्प है। रासो ग्रंथों के अतिरिक्त और किसी का भी नाम उल्लेखनीय नहीं है। इनके अतिरिक्त छोटे छोटे फुटकर गीत

छंद और दोहे भी ऐतिहासिक विषय से भिन्न अनेक विषयों पर लिखे मिलते हैं। उनकी रक्षा राज-पुस्तकालयों, मठों तथा जैन उपाश्रयों द्वारा—हस्त-लिखित संग्रहों में—की गई है। उनमें से बहुत से ऐसे हैं जिनके रचयिताओं के नाम और समय तक नहीं मिलते। कुछ बाद के सुधरे रूप में हैं और कुछ अपने उसी बहुत पुराने रूप में अब तक विद्यमान हैं।

डिंगल-छंदशास्त्र

यों तो डिंगल का छंदशास्त्र पिंगल के छंदशास्त्र का रूपांतर प्रतीत होता है, परंतु कहीं कहीं नामों का भेद अवश्य है। साथ ही डिंगल-साहित्य का प्राकृत एवं संस्कृत-साहित्य से स्वतंत्र विकास होने के कारण उसमें कई विशेषताएँ ऐसी जोड़ दी गई हैं जो वास्तव में अनोखी हैं। ये विशेषताएँ छंदशास्त्र और अलंकार-शास्त्र दोनों में तो हैं ही; परंतु आश्चर्य तो यह है कि डिंगल के गद्य तक में हिंदी, संस्कृत और प्राकृत की अपेक्षा एक नई विशेषता विद्यमान है। यह विशेषता वचनिका नामक ग्रंथ में है। इस गद्य के तुकांत होने के विषय में ऊपर कहा जा चुका है परंतु इसका उदाहरण वहाँ नहीं दिया जा सका था। अतः उसे यहाँ देकर वचनिका की शैली का परिचय करा देना उचित होगा। बागी शाहजादों—औरंगजेब और मुराद—के साथ युद्ध करते हुए राठौड़ रतनसिंहजी का वर्णन कवि ने वचनिका में इस प्रकार किया है—

तिणि वेळा नौबत, नीसाण, तोण, झंडा, साभिध्रम, सेवा हिंदुस्तान री सरभ भुजै आई। तिणि वेळा रा आइयो काळा पहाड़ सोभा वरणी न जाई। महाभारत रै विखै क्रन कही जै। किना लंकापति कुंभैण कही जै। उजळा वारह आदित

मुख कमल ऊगा। मनोरथ पूगा। स्रिति लाज रा मौड़ बाधा। अवसाण लाधा* ।

रतनसिंहजी की मृत्यु होने पर उनकी रानियों के सती होने का वर्णन यों है—

इणि भाँति सूँ च्यारि राणी त्रिण्हि खवासि द्रव्वनाळेर उछालि वळण चाली। चंचळाँ चढ़ि महासरवर री पाळि आइ ऊभी रही। किसड़ी हेक दीसै। जिसड़ी किरतिआँ रो झूंबकौ। के मोतियाँ री लड़ि। पवंगाँ सूँ ऊतरि महाप्रवीत ठौड़ि ईसर गौरिज्या पूजी। कर जोड़ि कहन लागी। जुगि जुगि औ हीज धणी देज्यौ न माँगां बात दूजी। पछै जमी आकास पवन पाणी चंद सूरजि नूँ परणाम करि आरोगी दोळी परिक्रमा दीन्ही। पछै आपरै पूत परिवार नै छेहली सीख मति आसीस दीन्ही† ।

यह तो हुई गद्य की विशेषता। अब पद्य की विशेषता का अवलोकन कीजिए। यों तो साधारणतः बहुत से छंद, जो संस्कृत और प्राकृत रीति-ग्रंथों में मिलते हैं, डिंगल में भी प्रयुक्त हुए हैं; परंतु ऐतिहासिक गीत छंद की रचना चारणों के मस्तिष्क की एक अनोखी उपज है जो डिंगल की स्वतंत्र, अतुलनीय एवं निजी संपत्ति है।

ऐतिहासिक गीत-साहित्य डिंगल के बराबर भारत की अन्य किसी भाषा में नहीं है। ये गीत प्रायः वीरों की चरित्र-संबंधी

---

* "Vachanika R. Ratan Singhji Ri Maheshadasota Ri" p. 47.

Edited by L. P. Tessitory.

† "Vachanika R. Ratan Singhji Ri Maheshadasota Ri" p. 83.

Edited by L. P. Tessitory.

वर्णनात्मक पद्य-रचनाएँ हैं। संग्राम के सारे दृश्यावलोकन के पश्चात् चारण कवियों द्वारा ये गीत आन की अनी पर जोड़े जाते थे। काव्यमय होने के साथ साथ ये रोचक तथा बहुधा सत्यता से शून्य नहीं थे, जैसा कि इन गीतों के नाम 'साख री कविता' से प्रकट होता है।

ऐतिहासिक गीत या साख री कविता

इन गीतों की रचना दो प्रकार से हुई है—छप्पय कवित्तों में तथा गीत छंदों में। छप्पय कवित्त हिंदी कविता में काफी प्रसिद्ध हो जाने के कारण उसके उल्लेख की यहाँ इतनी आवश्यकता नहीं है। अतः गीत छंद-विषयक कुछ लिख देना ही विशेष समीचीन होगा।

गीत-रचना के प्रकार

गीत में चार पद हुआ करते हैं, परंतु इस नियम के अपवाद में कभी तीन और कभी पाँच पद भी देखने में आते हैं। प्रत्येक पद चार चरणों का तथा प्रत्येक चरण में अधिक से अधिक २३ और कम से कम १४ मात्राएँ होती हैं। इन मात्राओं के संख्या-भेद के अनुसार ही गीतों के कई भेद किए गए हैं। यों तो इन गीतों की संख्या लग-भग ८५ है, जिनके नियम एवं उदाहरण रघुनाथ-रूपक तथा बुद्धि-विलास आदि ग्रंथों में दिए गए हैं; पर उन सब में विशेष प्रचलित गीत 'छोटो साणोर' है।

गीत छंद

'छोटो साणोर' का प्रत्येक पद साधारण नियम की भाँति चार चरणों का ही होता है, परंतु इसके पहले पद के प्रथम चरण में १६ मात्राएँ न होकर १८ मात्राएँ होती हैं। अन्य सारे पदों के प्रथम तथा तृतीय चरणों में और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में क्रमशः १६ तथा १५ मात्राएँ हुआ करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक पद का दूसरा तथा चौथा चरण सम तुकांत और पहला तथा तीसरा भिन्न तुकांत होता है।

छोटो साणोर

'छोटो साणोर' के अतिरिक्त 'सुपंखरो', 'सावझड़ो' और 'बड़ो साणोर' आदि भी गीत छंद के कई भेद हैं। उनमें से कई एक ऐसे भी हैं जिनके चरणों का निर्धारण मात्राओं के अनुसार नहीं होता। उदाहरणार्थ 'सुपंखरो' गीत छंद को लीजिए। इसमें चरणों का निर्धारण मात्राओं की गणना के अनुसार न होकर शब्द-विभाग की संख्या पर अवलंबित है। अस्तु, अब बाल की खाल काढ़ने न जाकर डिंगल में प्रचुरता से प्रयुक्त गीत 'छोटो साणोर' का एक उदाहरण देकर ही गीत-छंद-रचना की विशेषता का दिग्दर्शन करा देना ठीक होगा।

निम्न-लिखित गीत में बीकानेर-नरेश रा० रायसिंहजी के अतुल दान से घबराकर दारिद्र्य भगवान् से फरियाद करता है—

(१)

पाताळ तठइ बळि रहण न पाऊँ,
रिधमाँड़े स्रगि करण रहइ।
मो अतलोक रायसिंह मारइ,
कठइ रहूँ हरि दरिद्र कहइ॥

हे हरि! पाताल में बलि का निवास है अतः मैं वहाँ नहीं रह सकता तथा स्वर्ग में कर्ण ऋद्धि सहित रहते हैं। इस मृत्युलोक में भी रायसिंह मार खदेड़ते हैं। आप ही बतलाइए, अब मैं कहा रहूँ।

(२)

वीरोचंद-सुत अहिपुर वारइ,
रविसुत-तणइ अमरपुरि राज।
निधि दातार कलाउत नरपुरि,
अनत टोर गति केही आज॥

नागलोक में विरोचन के पुत्र बलि मुझे दूर भगाते हैं और देव-लोक में सूर्य के पुत्र कर्ण का राज्य है। अब नरलोक में कल्याण-सिंह के पुत्र संपत्ति दान करनेवाले रायसिंह उत्पन्न हो गए हैं। हे अनन्तदेव! इससे अधिक शोचनीय दशा किसकी होगी?

(३)

रयण क्रियण पाताळ न राखइ
कनक त्रवण रूधइ कविळास।
महि पुड़ि गज दातार ज मारइ
विसन! किसइ पुड़ि माँडूँ वास॥

पृथ्वी का दान करनेवाले बलि मुझे पाताल में नहीं रहने देते। स्वर्णदान करनेवाले कर्ण ने मेरे लिये स्वर्गलोक का द्वार बंद कर दिया है। इस पृथ्वीमंडल में हाथियों का दान देनेवाले रायसिंह मुझे मार भगाते हैं। हे विष्णु! मैं किस लोक में अपना निवास बनाऊँ?

(४)

नाग अमर नर भुवण निरखताँ
एक ठवड़ि छइ कहइ हरि।
घर हरि नान्हा सिंघ घातिया
कुरिंद तठइ जाइ वास करि* ॥

नागलोक, अमरलोक एवं नरलोकों का निरीक्षण करने के पश्चात् हरि कहते हैं कि तुम्हारे लिये अब भी एक स्थान बाकी है। हे दारिद्र्य! रायसिंह द्वारा पराजित शत्रुओं के घरों के बीच में तुम जाकर रहो।

एक ही भाव को कवि ने भिन्न भिन्न शब्दों में तीन बार वर्णन करके अपने काव्य-चातुर्य का परिचय दिया है। इसमें अलंकार-शास्त्र के नियमों का आदि से अंत तक पालन करते हुए एक ही

* "Journal and Proceedings of Asiatic Society of Bengal", New Series, Vol. XIII, of 1917, No. 4, p. 248.

भाव का भिन्न भिन्न प्रकार से निर्वाह करने में कवि ने कौशल की हद कर दी। एक ही भाव के बार बार दुहराए जाने पर भी पाठक की रुचि घटती नहीं, प्रत्युत बढ़ती जाती है। इस प्रकार का काव्य-कौशल वास्तव में श्लाघनीय है। ये गीत-रचनाएँ कवियों की कवित्वशक्ति तथा ज्ञान-परख की कठिन कसौटियाँ होती थीं। इस कसौटी पर खरे उतरने के लिये बड़े पांडित्य की आवश्यकता होती थी और सर्वश्रेष्ठ कवि ही इनकी रचना कर सकते थे। एक ही गीत में एक भाव को कई बार भिन्न भाँति से आलंकारिक भाषा में दुहराना पूर्ण काव्य-ज्ञान तथा प्रचुर शब्द-भांडार के बिना कोई सरल काम न था और न है।

गीतों का जन्म कब हुआ इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। तेरहवीं शताब्दी से इनके उदाहरण मिलते हैं। उसके पहले कोई उदाहरण लिखित रूप में देखने में नहीं आया। हाँ, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए० लिखित 'चारण' नामक लेख में 'अनर्घ-राघव' से एक उदाहरण मिलता है। उससे पता लगता है कि गीत और ख्यात नवीं शताब्दी में भी वर्तमान थे। उद्धरण यह है—

चर्चाभिश्चारणानां क्षितिरमणपरां प्राप्य सम्मोदलीला-
माकीर्तैः सौविदल्ला नव गणय कवि प्रात(?)वाणीविलासान्।
गीतं ख्यातं च नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत्प्रसादा-
द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलयति यशोदामुद्रया रामभद्रः॥

—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृष्ठ २२६।

परंतु यह निश्चय है कि ये गीत १५ वीं शताब्दी में प्रचुरता से लिखे गए। इनका आरंभ तो बहुत पहले हो चुका होगा परंतु अपने पूर्ण विकास को ये डिंगल के मध्यकाल में ही पहुँचे। आरंभ चाहे जब हो, अपभ्रंश के बाद हो हुआ मालूम होता है, क्योंकि अपभ्रंश के अंत तथा डिंगल के आरंभ में इनका कोई परिचय न

मिलकर डिंगल के उत्कर्षकाल अर्थात् बहुत बाद में मिलता है। इसलिये इन गीतों को डिंगल की निजी संपत्ति कह सकते हैं। इस अपूर्व एवं असेय संपत्ति के लिये डिंगल को न तो अपनी माँ अपभ्रंश का मुँह देखना पड़ा और न सखी व्रजभाषा का। अतएव निस्संदेह यह गीत-रचना डिंगल कवियों के मस्तिष्क की एक अपूर्व उपज कही जा सकती है।

छंद-शास्त्र की तरह डिंगल का अलंकार-शास्त्र भी पृथक् है। हिंदी, संस्कृत की तरह उसमें भी शब्दालंकार और अर्थालंकार के दो भेद हैं। यों तो हिंदी और संस्कृत-साहित्य के रीति-ग्रंथों में जो जो अलंकार साधारणतः मिलते हैं उनका डिंगल में भी उपयोग होता देखा गया है, परंतु कहीं कहीं नामों में परिवर्तन अवश्य किया गया है। यहाँ उन सबका सविस्तर परिचय देकर इस लेख का कलेवर बढ़ाना समुचित प्रतीत नहीं होता। केवल डिंगल में मुख्यतया प्रयुक्त विशेष अलंकारों का दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त तथा युक्ति-संगत होगा।

अलंकार-शास्त्र

अलंकारों में डिंगल काव्य का एक प्रमुख अलंकार 'वयण-सगाई' के नाम से प्रसिद्ध है जिसका डिंगल कविता में प्रायः सर्वत्र प्रयोग किया जाता है। हिंदी में इसे शब्दानुप्रास का एक भेद कहा जा सकता है, परंतु इतना कहने मात्र से इसका स्वरूप व्यक्त नहीं हो जाता। इसका शब्दार्थ तो वर्णों की सगाई अर्थात् संबंध-स्थापन होता है और बहुत अंशों में यही इस अलंकार की परिभाषा समझनी चाहिए। डिंगल में इस प्रकार की वयण-सगाई प्रायः प्रत्येक छंद के प्रत्येक चरण अथवा पाद में पाई जाती है परंतु इसकी व्याप्ति की भी कुछ सीमा है और अपवाद के लिये भी इसमें स्थान होता है। रघुनाथ-रूपक में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

आवै इण भाषा असल वयण सगाई वेष।
दग्ध अगणवंद दुगुण दो लागत नहिं लवलेस॥

वर्णों का पारस्परिक संबंध निरूपण करते हुए लिखा है—

आ, ई, ऊ, ए, अ, य, व, इस, जड़, व ब, यफ, नण, जाण।
तट, घढ़, दड़, चछ, गधतवौ, ऐ, आखर कवि आग॥
इण आखरा राँ आद दै, अवर अखर सुभियाण।
आद जिको ही अंत में, जो ही अधिक सुजाण॥

अर्थात् ऊपर की दो पंक्तियों में वर्णित अक्षर-द्वंद्वों में वयण-सगाई के नियमानुसार अभेद माना जाना चाहिए।

ग्रंथ-कर्ता ने आगे चलकर अक्षरों के रखने की विधि इस प्रकार बतलाई है—

वरण मित्त जू धरण विध, कवियण तीन कहंत।
आद अधिक सम मध अवर, न्यून अंक सो अंत॥

साधारणतः वयण-सगाई का प्रयोग सब कवियों ने किया है। यहाँ तक कि छोटे छोटे दोहों, सोरठों तथा ग्रामीण पहेलियों में भी वयण-सगाई का प्रयोग शास्त्रानुसार मिलता है। वयण-सगाई का साधारण नियम यह है कि चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर में और चरण के अंतिम शब्द के प्रथम अक्षर में एक ही वर्ण संघटित रहता है। उदाहरणार्थ—

"अपूरव देवर दाखि अतिग्रह
कोटि वि राखिय ठेलि कंधार।
पर उपगार भला पुरुखोत्तम
अपणा जगत करइ उपगार"* ॥

---

* "Journal of the Asiatic Society of Bengal," No. XIII of 1917, p. 234.

इस छंद की प्रथम पंक्ति के प्रथम शब्द 'अपूरब' के आदि में 'अ' है और वही 'अ' अंतिम शब्द 'अतिग्रह' के आदि में भी संघटित है। यही वयण-सगाई का साधारण नियम है, जो प्रत्येक छंद के प्रत्येक चरण या पाद में मिलता है। परंतु अनेक स्थलों पर नियम की जटिलता तोड़कर स्वच्छंदता का भी परिचय दिया गया है अर्थात् कहीं कहीं चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर में और चरण के अंतिम शब्द के प्रथम अक्षर में संघटित न होकर वयण-सगाई चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर में और चरण के मध्यवर्ती किसी शब्द के प्रथम अक्षर में अथवा मध्य अक्षर में भी संघटित होती है और कभी अंतिम अक्षर के मध्यवर्ती या अंत्य अक्षर में भी अनुप्रास घटित हो जाने पर वयण-सगाई सुरक्षित रहती है। उदाहरणार्थ—

कुमकुमै मँजण करि, धौत वसत धरि

—क्रिसन-रुकमिणी री वेलि, छंद ८१, प्रथम चरण

वाणिजाँ वधूगो, वा छ असइ विट

—वही, छंद १८६, प्रथम चरण

तुलि बैठा तरणि तेज तम तुलिया

—वही, छंद २१२, प्रथम चरण

इसमें रेखांकित वर्णों में वयण-सगाई संघटित हुई है। अब अंतिम अक्षर के मध्य तथा अंतवर्ती वर्णों की वयण-सगाई के उदाहरण देखिए—

"धजवड़ ग्रहे स धीर"—वचनिका रा० रतनसिंह री, छंद ३०

"जसै रचण रिण जंग"—वही, छंद २६

"डाकी जम डाढ़ाल"—वही, छंद ३४

"रथ बैठा साँभलि अरथ"—क्रि० रु० वेलि, छंद ६८

"नीरा ससै परि कमळिनी"—वही, छंद १७४

"तरु लता पल्लवित त्रिणे अंकुरित"—वही, छंद १९८

चरण के आरंभ का अव्यय अथवा उपसर्ग अथवा कारक-चिह्न उस चरण का प्रथम शब्द न गिना जाकर वह संज्ञा जिसका वह सहायक है प्रथम शब्द मानी जाती है और उस संज्ञा के प्रथम अक्षर की वयण-सगाई नियमानुसार संघटित होती है। यथा—

"किरि वैकुंठ अयोध्यावासी"—क्रि० रु० वेलि, छंद १०६

"तिणि आपहि करायो आदर"—वही, छंद १६८

इनमें 'किरि' तथा 'तिणि' अव्यय होने के कारण वयण-सगाई इनके वर्णों से न होकर इनसे संबद्ध "वैकुंठ" तथा 'आप' शब्दों के प्रथम अक्षरों और 'वासी' तथा 'आदर' के प्रथम वर्णों के साथ क्रम से संघटित हुई।

यह निश्चित बात है कि वयण-सगाई के उपयोग से काव्य का सौंदर्य बढ़ जाता है परंतु काव्य की अंतरात्मा अर्थात् अर्थ का दोष वयण-सगाई के धोए भी नहीं धुल सकता। डिंगल-शास्त्र में वर्णित उन काव्य-दोषों का यहाँ पर संक्षेप में दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त समझा गया है। वे निम्नांकित दस दोष हैं—

(१) जहाँ उक्त विषय का निर्बाध निर्वाह न हो सके उसे अंध-
दोष-वर्णन दोष कहते हैं।

(२) विरुद्ध भाषाओं अर्थात् भिन्न भाषाओं के मिलान को—जैसे व्रज, अरबी, फारसी अथवा अन्य किसी भाषा को डिंगल से मिला देने को—'छवकाल दोष' कहते हैं। इस दोष का संस्कृत पर्यायवाची शब्द 'देश काल कला', 'न्याय आगम विरोधी' दोष है। (काव्यादर्श, परि० ४। ४३, ४५, ६०)

(३) जिससे अर्थ का अनर्थ हो सकने की संभावना हो अर्थात् अर्थ अस्पष्ट एवं संदेहात्मक हो वहाँ 'हीन' दोष माना जाता है।

(४) क्रम-भंग वर्णन को 'निनंग' दोष कहा गया है। इसका काव्यादर्श में अपक्रम नाम दिया है।

(५) छंद की शास्त्र-नियत मात्राओं से बढ़ती मात्राएँ यदि भिन्न भिन्न चरणों में मिलें तो यह 'पांगलो' दोष कहलाता है। इसे दंडी के शब्दों में 'भिन्नवृत्तिम्' का सर्वतो घृणित दोष समझना चाहिए।

(६) किसी छंद के भिन्न भिन्न चरण भिन्न भिन्न जाति के छंदों के हों तो ऐसा छंद 'जाति-विरुद्ध' छंद कहकर दूषित माना गया है।

(७) अर्थ को सीधी तरह से न कहकर उसे घुमा-फिराकर कहने का प्रयत्न करके क्लिष्ट बना देने को 'अपस' दोष कहते हैं। जैसे—सीधा 'हरि सुमर ले' न कहकर घुमाकर "अजा सहेली (गाँडर, भेड़) तास रिपु (नाहर) ता जननी भरतार (नाहर)। ताके सुत के मित्र (नृसिंह) कूँ सुमिरे क्यूँ न गँवार ॥" अर्थ क्लिष्ट करके कहना। इसी को दंडी ने अपार्थ दोष बताया है।

(८) अनभिजात संकर छंद के दोष को 'नालछेद' भी कहते हैं अर्थात् एक छंद के समाप्त होने के पूर्व ही उसमें दूसरा छंद घुसेड़ दिया जाय और आधा शास्त्रानुसार और आधा छंद संकर हो जाय वही 'नालछेद दोष' युक्त छंद होगा।

(९) जहाँ छंद के प्रथम दो चरणों में कच्ची जोड़ और दूसरे दो में पक्की जोड़ हो वहाँ 'पषतूर' दोष गिना जाता है। कच्ची जोड़ उसे कहते हैं जिसमें शब्दानुप्रास नहीं आता और पक्की जोड़ में शब्दानुप्रास रहता है। जैसे—

कच्ची जोड़—निपट विन्हे दल आया नेड़ा।
नाळि निहाड गाजिया नेड़ा॥
—रा० रतन० वचनिका ४८

पक्की जोड़-—नोबति सोर धड़ड़ि धुनि नेड़ा।
नाळि निहाड गाजिया नेड़ा॥
—वही, ४८

तथा—मारण मरण करण रण साधो।
—वही, ५६

रिणमें रहियाँ राज रहेसी।
—वही, ६७, शब्दानुप्रासयुक्त

(१०) जिसमें शब्द-योजना ऐसी बेढंगी हो कि शब्दों का दुतरफा अर्थ निकलकर भ्रम पैदा हो जाता है। यथा—

जीत लीधी जमी कठै थी जेण री।
पराजै हुई नहै फतह पाई॥

इसमें नीचे की पंक्ति का अर्थ भ्रमात्मक है। एक अर्थ तो होता है—पराजय हुई, फतह नहीं पाई। दूसरा अर्थ यह होता है—पराजय हुई नहीं, फतह पाई—अर्थात् विजय हुई। जहाँ ऐसे द्विपाक्षिक अर्थ निकलते हों वहाँ 'बहरो' दोष कहा गया है। ये दस दोष डिंगल काव्यों में परिहार्य माने गए हैं।

उपसंहार

अब यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि डिंगल भाषा एक स्वतंत्र एवं स्वतः स्थित भाषा है। वर्तमानकालीन हिंदी की तरह इसका बृहत् शब्दकोष, विशद व्याकरण एवं स्वतंत्र छंदशास्त्र है। डिंगल-साहित्य का रीति-शास्त्र भी पृथक् है। इसका साहित्य-भांडार इतना प्रचुर है कि हिंदी-साहित्य के अन्वेषकों को वहाँ से बड़ी विस्तृत सामग्री उपलब्ध हो सकती है। उस सामग्री के अनुशीलन

से हिंदी-संसार को बहुत सी नई बातें मालूम हो सकती हैं और संभव है कि उसके योग से हिंदी साहित्य इतना बृहत् हो जाय कि भारत की अन्य कोई भाषा फिर उसका मुकाबला न कर सके। खेद इतना ही है कि हिंदी-साहित्य-सेवियों का ध्यान अभी उधर नहीं गया और न उधर ले जाने का कोई प्रयत्न ही किया जा रहा है। शायद वे डिंगल को कर्णकटु, कठोर एवं कांतिगुणहीन होने का दोष लगाकर ही उसको ध्यान देने योग्य वस्तु न समझते हों। इस निर्मूल अपवाद का परिहार करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि कुछ अंशों में यह दोष डिंगल काव्य के सिर मढ़ा जाना स्वाभाविक ही है। इसका कारण यह है कि डिंगल भाषा में वीर-रस-प्रधान काव्य अधिक रचे गए हैं। उनमें कर्णकटु शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। परंतु इतने से ही यह समझ लेना कि यह भाषा शृंगाररस-पूर्ण काव्य के लिये अनुपयुक्त है और इसमें शृंगाररस-पूर्ण काव्य रचे नहीं गए, सत्यता से सर्वथा शून्य है। इसके प्रमाण में 'क्रिसन रुकमिणी री वेलि' नामक डिंगल का सर्वोत्कृष्ट शृंगाररस-पूर्ण ग्रंथ हिंदी-संसार के सामने आ चुका है। 'ढोला-मारूरा दूहा' नामक प्रेमगाथात्मक काव्य जिसमें शृंगार तथा करुण रस दोनों का संयोग है—शीघ्र ही नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित होकर हिंदी जनता के सम्मुख आनेवाला है। इन ग्रंथ-रत्नों के उच्चतम भाषा-सौंदर्य, शब्द-सौष्ठव, छंद-माधुर्य, विविध अलंकृति एवं अर्थ-गौरव से मुग्ध होकर सहृदय पाठक न केवल डिंगल भाषा-संबंधी काठिन्य एवं श्रुति-कटुत्व के ही भावों को सदा के लिये विस्मृत कर देंगे प्रत्युत यह जानकर कि डिंगल में भी संस्कृत, परिमार्जित हिंदी अथवा अन्यान्य उन्नत प्रांतीय भाषाओं के समान समस्त काव्यगुणों को धारण करने की पूर्ण क्षमता है, अत्यंत संतुष्ट होंगे।

कच्ची जोड़—निपट विन्हे दल आया नेड़ा।
नाळि निहाउ गाजिया नेड़ा॥
—रा० रतन० वचनिका ४८

पक्की जोड़—नोबति सोर धड़ड़ि धुनि नेड़ा।
नाळि निहाउ गाजिया नेड़ा॥
—वही, ४८

तथा—मारण मरण करण रण साधो।
—वही, ५६

रिणमें रहियाँ राज रहेसी।
—वही, ६७, शब्दानुप्रासयुक्त

(१०) जिसमें शब्द-योजना ऐसी बेढंगी हो कि शब्दों का दुतरफा अर्थ निकलकर भ्रम पैदा हो जाता है। यथा—

जीत लीधी जमी कठैं थी जेण री।
पराजै हुई नहै फतह पाई॥

इसमें नीचे की पंक्ति का अर्थ भ्रमात्मक है। एक अर्थ तो होता है—पराजय हुई, फतह नहीं पाई। दूसरा अर्थ यह होता है—पराजय हुई नहीं, फतह पाई—अर्थात् विजय हुई। जहाँ ऐसे द्विपाक्षिक अर्थ निकलते हों वहाँ 'बहरो' दोष कहा गया है। ये दस दोष डिंगल काव्यों में परिहार्य माने गए हैं।

अब यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि डिंगल भाषा एक स्वतंत्र एवं स्वतः स्थित भाषा है। वर्तमानकालीन हिंदी की तरह

उपसंहार

इसका बृहत् शब्दकोष, विशद व्याकरण एवं स्वतंत्र छंदशास्त्र है। डिंगल-साहित्य का रीति-शास्त्र भी पृथक् है। इसका साहित्य-भांडार इतना प्रचुर है कि हिंदी-साहित्य के अन्वेषकों को वहाँ से बड़ी विस्तृत सामग्री उपलब्ध हो सकती है। उस सामग्री के अनुशीलन

से हिंदी-संसार को बहुत सी नई बातें मालूम हो सकती हैं और संभव है कि उसके योग से हिंदी साहित्य इतना बृहत् हो जाय कि भारत की अन्य कोई भाषा फिर उसका मुकाबला न कर सके। खेद इतना ही है कि हिंदी-साहित्य-सेवियों का ध्यान अभी उधर नहीं गया और न उधर ले जाने का कोई प्रयत्न ही किया जा रहा है। शायद वे डिंगल को कर्णकटु, कठोर एवं कांतिगुणहीन होने का दोष लगाकर ही उसको ध्यान देने योग्य वस्तु न समझते हों। इस निर्मूल अपवाद का परिहार करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि कुछ अंशों में यह दोष डिंगल काव्य के सिर मढ़ा जाना स्वाभाविक ही है। इसका कारण यह है कि डिंगल भाषा में वीर-रस-प्रधान काव्य अधिक रचे गए हैं। उनमें कर्णकटु शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। परंतु इतने से ही यह समझ लेना कि यह भाषा शृंगाररस-पूर्ण काव्य के लिये अनुपयुक्त है और इसमें शृंगाररस-पूर्ण काव्य रचे नहीं गए, सत्यता से सर्वथा शून्य है। इसके प्रमाण में 'क्रिसन रुकमिणी री वेलि' नामक डिंगल का सर्वोत्कृष्ट शृंगाररस-पूर्ण ग्रंथ हिंदी-संसार के सामने आ चुका है। 'ढोला-मारूरा दूहा' नामक प्रेमगाथात्मक काव्य जिसमें शृंगार तथा करुण रस दोनों का संयोग है—शीघ्र ही नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित होकर हिंदी जनता के सम्मुख आनेवाला है। इन ग्रंथ-रत्नों के उच्चतम भाषा-सौंदर्य, शब्द-सौष्ठव, छंद-माधुर्य, विविध अलंकृति एवं अर्थ-गौरव से मुग्ध होकर सहृदय पाठक न केवल डिंगल भाषा-संबंधी काठिन्य एवं श्रुति-कटुत्व के ही भावों को सदा के लिये विस्मृत कर देंगे प्रत्युत यह जानकर कि डिंगल में भी संस्कृत, परिमार्जित हिंदी अथवा अन्यान्य उन्नत प्रांतीय भाषाओं के समान समस्त काव्यगुणों को धारण करने की पूर्ण क्षमता है, अत्यंत संतुष्ट होंगे।

डिंगल भाषा का व्याकरण

डिंगल का शब्द-कोष अपभ्रंश का शब्द-कोष ही है। कुछ अरबी, फ़ारसी तथा संस्कृत शब्द अर्वाचीन डिंगल में और मिल गए हैं, जो अपभ्रंश में नहीं पाए जाते। ये शब्द मुसलमानों के भारत में आने और उनका संसर्ग राजपूताने के राजाओं से चिरकाल तक रहने के कारण वहाँ की भाषा तथा कविता में आ गए। डिंगल और अपभ्रंश में व्याकरण-संबंधी भेद अवश्य पड़ा, जिसका उल्लेख नीचे की पंक्तियों में किया जाता है—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ

डिंगल और अपभ्रंश की वर्णमाला में कोई भेद नहीं है। केवल डिंगल में आकर कुछ वर्णों का उच्चारण बदल गया है; जैसे—

१—'ल' का उच्चारण कहीं 'ल' और कहीं वैदिक काल के 'ळ' की भाँति मूर्धन्य होता है, जैसा गुजराती, महाराष्ट्री आदि में भी मिलता है। उदाहरण—

'बंग मलामत तिबर ळिंगधर उतइ बंदइ'।

—झूलणा अकबर पातशाह रा

'समळी जीभ दिए जो सेष'।—वेलि राजा रायसिंहजी री

२—मूर्धन्य 'ष' तथा 'ख' का उच्चारण सदा 'ख' होता है और तालव्य 'श' का सदा 'स', जैसे—

भाखण (भाषण), (सदृत्त) सारिखो, सारिसो (सदृश), सिव (शिव)।

'स' का कभी कभी 'ह' उच्चारण होता है—केहरि (केसरी)।

३—तत्सम शब्दों में असंयुक्त 'स' और 'ष' का संस्कृत उच्चारण होता है; जैसे—सायंकाल, धनुष इत्यादि।

परंतु 'य' का तत्सम तथा तद्भव शब्दों में 'ज' हो जाता है; जैसे—योधा का जोधा, यशवंतसिंह का जसवंतसिंह।

संयुक्तावस्था में तत्सम तथा तद्भव शब्दों के 'य' का उच्चारण डिंगल में नहीं बदलता; जैसे—न्याय, ख्यात इत्यादि।

४—'य' के स्थान में सर्वत्र 'ज' होता है तथा 'ज' के स्थान में 'य' भी हो जाया करता है; जैसे—जवन (यवन), जम (यम), जस (यश), जादव (यादव), जुगालिया (युगालिया), योवा योग्य (जोवा योग्य)।

५—'ए' के स्थान में कभी कभी 'हे' लिखा मिलता है, जैसे—'बीकउ हेक चियारइ कारण'।

—J. A. S. B. 13, pp. 236, 238.

६—अनुस्वार और अनुनासिक के स्थान में सदा अनुस्वार का प्रयोग हुआ करता है; जैसे—सिंह का 'सीं', परियाँ का परियां, बँगलायत का बंगलायत, अङ्ग का अंग।

असंयुक्त स्वर

(अ)

नीचे लिखी अवस्थाओं में डिंगल में अपभ्रंश का अकार परिवर्तित हो जाता है।

१—शब्द के आदि में यदि सानुस्वार अकार हो तो उसका इकार हो जाता है; जैसे—अप० अंडउ डिं० इंडउ, ईंडउ

२—'अ' का प्रायः 'इ' हो जाता है; जैसे—

अप० जइसउ	>	डिं० जिसउ
,, कुँअरि	>	,, कुंइरि
,, पातक	>	,, पातिक
,, खण (चण)	>	,, खिण
(अरबी) सलाम	>	,, सिलाम

३—'अ' के स्थान में 'उ' होता है; जैसे—

अप० पहर > डिं० पुहर

„ मसाण > „ मुसाण

४—अपभ्रंश के आदि अकार का डिंगल में प्रायः लोप हो जाता है; जैसे—

अप० अच्छइ (सं० ऋच्छति) > डिं० अछइ, छइ

„ अप्पणों (सं० आत्मनः) > „ तणौ

„ अवर (सं० अपर) > „ र

५—'ह' के पूर्वस्थित स्वर का दीर्घ हो जाता है; जैसे—

अप० महारउ > डिं० माहरउ, म्हारउ, माहारउ।

(इ)

१—'इ' का डिंगल में प्रायः 'अ' हो जाता है और 'ए' का 'इ' तथा 'अ'; जैसे—इंद्र > डिं० अंद्र, अंदर।

अप० करेवउँ, करिवउँ > डिं० करवउ

(सं० एव) „ जेव्व, जे > „ जि, ज

२—अंतिम इकार के पहले यदि दीर्घ स्वर हो तो 'इ' का 'य' हो जाता है; जैसे—अप० दोइ > डिं० दोय।

(उ)

१—आदि 'उ' का प्रायः लोप हो जाता है; जैसे—

अप० उवसइ (सं० उपविशति) > डिं० वइसइ

२—'उ' का 'ओ' और 'ओ' का 'उ' प्रायः होता है; जैसे—

प्रा० दुल्लह, दुलह (सं० दुर्लभ) > डिं० दोहिल

„ सुलह (सं० सुलभ) „ सोहिल, सोहरो

अप० होइ (सं० भवति) „ हुइ

„ होंतउ „ हुंतो

संयुक्त वर्ण

१—मध्यवर्ती अकार के स्थान में 'य' होता है; जैसे—

अप० रअण (रत्न) डिं० रयण

,, वअण (वचन) ,, वयण

२—अंत्य 'इ' का 'ए' होता है; जैसे—

अप० जाणिज्जइ डिं० जाणिजे

,, कहिज्जई ,, कहिजे

३—'अउ' के स्थान में 'उ' होता है; जैसे—

अप० करअउ डिं० करु

,, कउण ,, कुण

४—अंत्य 'उ' का 'ओ' होता है; जैसे—

अप० करइज्जउ डिं० करइज्यो, करइजो, करीजो

५—'ओ' को 'औ' आदेश होता है; जैसे—

अप० पओलि डिं० पौलि

६—'इअ' का ई होता है; जैसे—

अप० दिअह डिं० दीह (दिवस)

,, पिअइ ,, पाइ (पिवति)

७—'उ' के परिवर्ती 'अ' का लोप हो जाता है; जैसे—

अप० जूअ (द्यूत) डिं० जू

,, रुअड़उ (रूपकः) ,, रूडउ

,, हूअउ (भूतकः) ,, हूउ

असंयुक्त व्यंजन

१—'ज' का प्रायः 'य' और 'य' का सर्वदा 'ज' होता है; जैसे—

अप० कहिज्जइ डिं० कहियइ (कहिजइ)

,, वाणिजउ ,, वाणियउ (वाणिजउ)

अप० यवन	डिं० जवन
,, युध	,, जुध

२—आदि 'ण' का सदा 'न' होता है; जैसे—

अप० णवि (न अपि)	डिं० नवि
,, णट्ठउ (नष्टकः)	,, नाठउ

३—'अ' या 'आ' के पूर्व प्रायः 'य' श्रुति हो जाया करती है; जैसे—

अप० जोअइ (द्योतते)	डिं० जोयइ
,, रअणि (रजनि)	,, रयणि
,, नअर (नगर)	,, नयर

४—'ल' का 'न' होता है और 'न' का कभी कभी 'ल'; जैसे—

अप० लिप्पइ (लिप्यते)	डिं० नीपइ
,, नीलूँ (नीलम)	,, लीलूँ

५—'व' का 'ब' हो जाता है; जैसे—

अप० वइसइ (उपविशति)	डिं० बइसइ
,, अवच्चउ (अपत्यकं)	,, बाछउ

६—दो स्वरों के मध्य में प्रायः 'व' श्रुति हुआ करती है; जैसे—

अप० जाइ (याति)	डिं० जावइ
,, पिअइ (पिवति)	,, पीवइ

७—अंत्य तथा मध्यवर्ती 'व' का प्रायः लोप होता है; जैसे—

अप० कान्हदेव (कृष्णदेव)	डिं० कान्हदे
अप० देवघरउ (देवगृहम्)	,, देहरउ

८—प्रायः 'वँ' का 'म' आदेश होता है; जैसे—

अप० इवँ (इमि)	डिं० इम, एम
,, किवाँड़ (कपाट)	,, किंमाड़

९—अंत्य हकार का प्रायः लोप हो जाता है; जैसे—

अप० नयणहि	डिं० नयणो
,, महु (मह्यम्)	,, मुं

१०—'ए' के स्थान में 'ह' आदेश होता है; जैसे—

अप० एक	डिं० हेक
,, एव	,, हेव

संयुक्त व्यंजन

१—अपभ्रंश द्वित्वापन्न व्यंजनों में से एक का लोप कर आदि वर्ण को दीर्घ कर देते हैं; यथा—

अप० कज्ज	डिं० काज
,, अज्ज	,, आज
,, दुज्झइ	,, दूझै
,, दिट्ठउ	,, दीठउ
,, पुत्तलि	,, पूतली

२—'ण्ण' को 'न्ह', 'न' होता है; जैसे—

अप० दिण्णउ	डिं० दीन्हउ, दीनउ
,, लिण्णउ	,, लीन्हउ, लीनउ

३—'ल्ल' को 'ल्ह' और 'ल' होता है; जैसे—

अप० मेल्लियइ	डिं० मेल्हइ, मेलइ
,, उल्लसइ	,, उल्हसइ, उलसइ

द्वित्वापन्न व्यंजनों की रचा निम्न-लिखित संख्यावाचक शब्दों में हुई है; जैसे—

अप० सत्तावीस	डिं० सत्ताईस
,, अट्ठावीस	,, अट्ठाईस
,, बहत्तरि	,, बहत्तर
,, अट्ठाणु	,, अट्ठाण, अट्ठावन

तत्सम शब्दों के संयुक्त व्यंजन नहीं बदलते, परंतु 'क्ष', 'ज्ञ' और 'न्य' का क्रमशः 'ख्य', 'न्य' और 'ज्ञ' हो जाता है; जैसे—ज्ञान—न्यान, कमलाक्ष—कमलाख्य।

वर्ण-विपर्य्यय

डिंगल में वर्ण-विपर्य्यय अर्थात् एक ही शब्द में वर्णों का स्थान-परिवर्तन बहुत कम हुआ है। इसमें अनुनासिकों, स्वरों तथा व्यंजनों का विपर्य्यय इस प्रकार होता है—

अप० काइं (कानि) डिं० कांइ
" माझइं " माहंइ

स्वरवर्ण-विपर्य्यय

अप० पुणु, पुनि (पुनर्) डिं० पिण
" बणिज " विणज

व्यंजनों में 'ह' का स्थान-परिवर्त्तन इन शब्दों में मिलता है; जैसे—

अप० दिअहाड़अउ डिं० दिहाड़उ
" परिहावइ " पहिरावइ
" मेल्हइ " में्ँलइ
" वलहु " वाहिलु
प्रा० सरिसी (सदृशी) " सहरी
अप० सम्महउ, सामहडउ, साहमउ

संप्रसारण

डिंगल में तत्सम तथा तद्भव शब्दों में संप्रसारण होता है; जैसे—

अप० गवक्ख (गवाक्ष) डिं० गउख
" देसाउर (देशापर) " देसावर
सं० स्वप्न " सुपनो

युक्त विकर्ष

संस्कृत	डिं०
अर्जुन	अरजन
कर्ण	करण
शार्ङ्ग	सारंग
संकर्षण	संकरखण

रूप-भेदात्मक विशेषताएँ

लिंग-भेद

संस्कृत की भाँति डिंगल में भी शब्दों के पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग—तीन लिंग होते हैं। तत्सम तथा तद्भव शब्दों में तो संस्कृत के शब्दों की रत्ता हो सकता है; जैसे—

सं० वार (पुँ०)	डिं० वार (पुँ०)
„ वल्ली (स्त्री०)	„ बेलड़ी, बेल (स्त्री०)

कहीं कहीं लिंग परिवर्तित भी मिलता है; जैसे—

सं० काय (पुँ०)	डिं० काया (स्त्री०)
„ कलत्र (नपुं०)	„ कलत्र (स्त्री०)
„ देह (नपुं०)	„ देह (स्त्री०)

नपुंसकलिंग शब्दों के रूप पुँल्लिंग रूपों के समान ही होते हैं।

कारक

डिंगल के कुछ कारक रूप तो सविभक्तिक हैं और कुछ परसर्ग-विशिष्ट(Post-position.)। सविभक्तिक रूप आठों कारकों में होते हैं। कुछ विभक्तियाँ दो दो तीन तीन कारकों में लगती हैं, कुछ एक ही में। कर्त्ता और कर्म में एक ही विभक्ति लगा करती है और करण तथा संबंध के स्त्रीलिंग शब्दों की विभक्ति कुछ सामान्य तथा कुछ असामान्य भी पाई जाती हैं। आठों कारकों के चिह्न उदाहरण सहित इस प्रकार हैं—

कर्त्ता और कर्म

इन दोनों कारकों में पुँल्लिग शब्द के एकवचन में 'उ' विभक्ति लगती है। यह 'उ' अपभ्रंश के 'स्यमोरस्योत्' (अर्थात् प्रथमा तथा द्वितीया के एकवचन में 'उ' तथा 'ओ' विभक्ति) का अनुकरण मात्र है; जैसे–राउ (कर्त्ता), गोरउ (कर्त्ता), भणइ, घड़उ (कर्म), तसु (वेलि २६)।

कहीं कहीं इनमें निर्विभक्तिक रूप भी होते हैं; जैसे—घड़ (कर्म), राइ (कर्त्ता), दल (कर्म), विधि (कर्म) (वेलि २४)।

डिंगल में स्त्रीलिंग शब्द कर्त्ता तथा कर्म कारकों में प्राय: इकारांत तथा आकारांत अधिक होते हैं; जैसे—

घरणि, हर अरधंगा (कर्म) कट्टारि, पूतली, रोरी (वेलि २७)

अकारांत स्त्रीलिंग रूप अर्वाचीन डिंगल के इकारांत रूपों से बने हैं; जैसे—तरवारि (प्राचीन), तरवार (अर्वा०), कट्टारि (प्राचीन) कटार (अर्वा०), जाति (प्रा०) जात (अर्वा०)।

बहुवचन

कर्त्ता कारकों के पुँल्लिंग के बहुवचन में बहुधा 'आ' होता है; जैसे—बाँकिया, घोड़ा इत्यादि।

आकारांत स्त्रीलिंग तत्सम शब्दों के रूप ज्यों के त्यों रहते हैं; जैसे—माला, नदी, सिला इत्यादि।

कर्म और संबंध के बहुवचन में बहुधा दोनों लिंगों में 'आँ' या 'याँ' होता है; जैसे—मोतियाँ(वेलि ८१),समाणियाँ (वेलि २१३), पोहपाँ, पाताँ, विरहियाँ (वेलि १८६), 'नित नित नवाँ नवाँ मंजण करताँ, मानव्याँ। भवटालिये भवांह भव कीजे भागीरथी' (गंगास्तुति प्रिथीराज री कही)।

करण

करण के एकवचन में 'इ' 'इइ' विभक्तियाँ लगती हैं। 'इ' अपभ्रंश के 'एट्टी' (अर्थात् तृतीया के एकवचन में ए) नियम के

'ए' का ह्रस्व रूप है। इसका प्रयोग डिंगल में प्रचुरता से मिलता है।

'इ' के उदाहरण—करि (हाथों से) (वेलि २), गति, मति (वेलि १९), सुखि (वेलि ३४)।

'इइ' के उदाहरण—कामिइ, हाथिइ (वेलि २), पाथिइ (आदिनाथ)।

करण कारक में बहुवचन में 'ए' विभक्ति लगती है; जैसे—करे (वेलि ८२), हाथे (वेलि १०८), मासे (J. A. S. B., 1917, pp. 242)।

कहीं कहीं करण में भी निर्विभक्तिक रूप मिलते हैं; जैसे—मसि, परि (वेलि २०), मति (वेलि १९)।

संप्रदान

'ए', 'नू', 'आँ' संप्रदान के चिह्न हैं। इनमें 'आँ' का प्रयोग सर्वनाम रूपों में बहुत मिलता है। तिहाँ, ताँ, जिहाँ, जाँ, इसके उदाहरण-स्वरूप हैं।

अपादान

संप्रदान और अपादान की विभक्तियाँ अपभ्रंश के 'हा', 'हे', 'हू', 'ए' और 'हुँ' विभक्तियों से बनी हैं। डिंगल में इनका रूप हूँत, हूँ, हुँतो, हुँती और हुँता है। उदाहरण के लिये देखिए 'हूँ', 'हूँत' (वेलि २५९), हुँतो (वेलि ९२), चिहुरे (वेलि ८१)।

संबंध

प्राचीन डिंगल में संबंध की विभक्ति 'ह' है, जो प्रायः सभी अवस्थाओं में लगा करती है। यह 'ह' अपभ्रंश के 'आमोहम्' तथा 'हुंवेदुद्भ्याम्' का विकसित रूप है। अर्वाचीन डिंगल में इसका प्रयोग नहीं होता, परंतु कविताओं में कहीं कहीं मात्रापूर्ति तथा अनुप्रास-निर्वाह के निमित्त इसकी रचना हुई है; जैसे—हलाह

(वेलि १२४), सीहतणीथह, 'सुपनहतणी' अवटालिये अवांह (गंगास्तुति प्रिथिराज री कही)।

बहुवचन में 'हाँ' लगता है; जैसे करहाँ कँठि (ऊँटों के गले में), परंतु अर्वाचीन डिंगल में इसका काम 'आँ' से लिया जाता है; जैसे—डेडराँ (वेलि ५), अहिराँ (वेलि ३२)।

इसके अतिरिक्त 'तणो', 'तणी', 'केर', 'केरउ' आदि प्रत्यय भी संबंध कारक का काम देने लगे और आगे जाकर गुजराती तथा राजस्थानी में 'रा' तथा 'को' के रूप में बदल गए।

अधिकरण

अपभ्रंश में 'सिसुपोर्हिंम्' के अनुसार बहुवचन में 'हिं' और 'ङिनेच्च' के अनुसार एकवचन में 'इ' तथा कहीं कहीं विभक्ति का लोप भी मिलता है। 'हिं' का बहुवचन में डिंगल में 'ए' हो गया; जैसे—नीसाणे (वेलि ३८), वाणे (वेलि १०)।

परंतु 'इ' का प्रयोग डिंगल में बराबर ज्यों का त्यों होता आया है। जैसे—गिरि (वेलि ४०), ललाटि (वेलि ४१), मगि (वेलि ४३), करि (वेलि ६६), अंतरइ (वेलि १११)।

संबोधन

डिंगल में संबोधन में 'रे' लगता है और प्राय: प्रथमा के एकवचन तथा बहुवचन शब्दों में लगा करता है; जैसे—

रे पापियाँ (J. A. S. B., 1919, pp. 215)

संबोधन के बहुवचन शब्दों के पहले 'हे' का प्रयोग होता है; जैसे—हे साधो।

परसर्ग-विशिष्ट विभक्तियाँ

डिंगल में कुछ परसर्ग ऐसे हैं जो विभक्तियों का काम देते हैं। डिंगल में विभक्त्यंत पदों को स्पष्ट अर्थ द्योतन करने के लिये लगा दिया करते हैं। जब कई कारकों के विभक्ति-चिह्न अपभ्रंश से

डिंगल में आते आते इतने घिस गए कि उनका अस्तित्व ही नहीं रहा और एक ही विभक्ति-चिह्न से दो दो, तीन तीन कारकों का काम लिया जाने लगा जिसके कारण अर्थ में गड़बड़ी पड़ने लगी, तब इन परसर्गों की सृष्टि की गई। धीरे धीरे ये इतने बढ़े कि प्रत्येक कारक के लिये दो दो, तीन तीन परसर्ग प्रयुक्त होने लगे। इनके प्रयोगों के अनुसार इनका विभाग इस भाँति किया गया है—

कर्म—नइ, प्रति, रहइ।

करण—करि, नइ, पाहि, साथि, सिउँ, सूँ।

संप्रदान—कन्ह, नै, प्रति।

अपादान—कन्हइ, तउ, थउ, थकउ, थकि, पासइ, लगि।

संबंध—केरउ, तणउ, चा, नउ, रउ, रहइ।

अधिकरण—कन्हइ, ताँइ, पासइ, मझारि, माँझि, माँ, माहि।

प्रत्येक परसर्ग के उदाहरण

कर्म और संप्रदान दोनों कारकों में एक से ही प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। ये प्रत्यय प्रति, नइं, रहइ आदि हैं। कर्म और संप्रदान दोनों में इनका समान रूप से प्रयोग होता है। नइं का प्रयोग प्रति और रहइ प्रत्ययों की अपेक्षा अधिक मिलता है, जैसे—'जा सुखदे श्यामा नइं जिय' (वेलि ६९), 'सूरजमल नइं दीवाणगोरी खिजमत अनायत हुइ' (बीकानेर री ख्यात)।

'प्रति' प्रत्यय का प्रयोग केवल प्राचीन जैन-ग्रंथों के सिवा डिंगल के चारणी-ग्रंथों में नहीं मिलता; जैसे—'पुहतु नरग प्रति' (सं० प्राप्तनरकं) (हेमचंद्र का योग-शास्त्र २, ९९), 'परस्त्री प्रतिइं किम सेवइ' (हेमचंद्र का योग-शास्त्र २, ९९)।

'रहइ'—यह कर्म, संप्रदान एवं संबंध तीनों कारकों में प्रयुक्त होता है; यथा—'पथिक जन रहइं प्रीतइं' (कल्याण मंदिर स्तोत्र की

सिद्धसेन दिवाकर की अवचूरि), 'मूर्ख रहइ राखउ छउ' (वही कल्याण मंदिर स्तोत्र की अवचूरि) ।

करणकारक-सूचक प्रत्ययों के उदाहरण

(१) करि—यह प्रत्यय प्राय: किसी बात पर जोर देने के निमित्त लगाया जाता है; जैसे—'मुखकरि किसूं कहीजै माधव' (वेलि ६४), 'तिणिकरि रहित' (नेमचंद्र की शशनि-शतक की टीका) ।

(२) नइं—'आदीश्वर नइं दीक्षा लीधी जाणि' (आदिनाथ-चरित्र) ।

(३) पाहि—यह चतुर्थी का प्रत्यय है, परंतु करण अर्थात् तृताया में भी प्रयुक्त होता है। इसी 'पाहि' से हिंदी का 'पय' निकला मालूम होता है। जैसे—'अनेरा पाहि हिंसा आरंभावै नहीं' (जैन-ग्रंथ) ।

(४) साथि (सं० सार्थेन)—उदाहरण, भरथराज जिन साथि बोलइ (I. A., Vol. XLVIII, pp. 22—1916.) ।

(५) आँ—चपेटां पटां झार पंजां चहोटै (सूरज-प्रकाश ४४)
लडंतौ करां बीस जाटाय लीधौ (सूरज-प्रकाश ४४)

(६) सूं (सं० साकं–अप० सहु) उदाहरण—
अवधेसरा रूप सूं रीझि आई (सूरज-प्रकाश ४१) ।
सील अवतरित लाज सूं (वेलि १०३)

(७) सिउं—कहि को लिक सिउं पूछइ वात (I. A., Vol. XLV, 1916, pp. 95) ।

संप्रदान

यह उपसर्ग संप्रदान, अपादान एवं अधिकरण तीनों में है। इसका साधारण अर्थ प्राय: पास या समीप होता है परंतु भिन्न भिन्न कारकों में प्रयुक्त होकर यह भिन्न भिन्न अर्थों का द्योतक होता है। अधिकरण में इसका अर्थ 'समीप' होता है। अपादान में

अपेक्षाकृत 'पास' और संप्रदान में चलकर किसी के समीप जाने के अर्थ का द्योतन करने लगता है।

'आविया रा कन्है' (राजा के समीप आए) 'दिम वला कन्है जाइ' 'मालोजी कन्है गया' (J. A. S. B., XV, pp. 30.)।

'नै'–'को' के अर्थ में प्रयुक्त होता है; जैसे–'स्वयं बुध मंत्रित हनै' (J. A., Vol. XLVIII. 1914, pp. 227)।

'प्रति'—(सं० प्रति) तत्सम शब्द।

'राय राणि प्रति कहइ'

'प्रभणनि युचइम मातपिता प्रति' (वेलि ३१)।

अपादान

'कन्है'—अपादान में पूछना, माँगना, सुनना और पाना आदि क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होता है; यथा—

'चुवरक कन्हि पूछइ वनधणि' (J. A. S. B. XLIII, 1914, pp. 245)

'इंद्र माँगइ जिन कन्है दक्षिणा' (,, ,, ,, ,,)

'थी'—'धुरि थी सवि तेणइ इम कहिउँ'। 'वनमाँहि थी सिराँनी पोटली' (आदिनाथ-चरित्र M. S., 161) (Iudia Office Library.)।

'पासइँ'—यह भी 'कन्है' की भाँति पूछने, माँगने इत्यादि क्रियाओं के साथ प्रयुक्त होता है; यथा—'रुकमणि राणि अंगज माँगइ आपणा प्रियने पासइँ।'

'पाहि'—यह संस्कृत के 'पक्षे' का बिगड़कर बना हुआ रूप है। अपभ्रंश में 'पक्षे' का रूप 'पक्खे' होता है, वही डिंगल में 'पासइ', 'पाहि', 'पा' आदि रूपों में प्रयुक्त होने लगा। इसका अंतिम रूप 'पा' शेखावाटी में अब तक अपादान-सूचक विभक्ति की जगह प्रयुक्त होता है; जैसे—'वीं पा पूछ लेई', 'मेरे पा आयो थो' इत्यादि।

उदाहरण—इंद्रजाल पाहि चपल (इंद्रजाल की अपेक्षा चपल)।

'लागि'—यह संस्कृत के 'लग्नास्मिन्' (लग्ने) के अपभ्रंश 'लग्गहि' का डिंगल रूप है। इसके तीन अर्थ होते हैं—'तक', 'से' और 'कारण'।

उदाहरण—'देहि संदेस लगि दुवारिका' अर्थात् 'द्वारिका तक संदेश दे आना' (वेलि ४४)। 'धुरि लगइ' (आरंभ से ही) (विद्या-विलास I. A., XLV, pp. 248.)। 'ते ताप लागि जिन धर्म गाढ़उ दुक्कर हुइ' (उस पाप के कारण जैनधर्म अत्यंत दुष्कर होता है)। 'कर्म कस्या लगि मोक्ष हुइ' (किन कर्मों के कारण मोक्ष होता है)।

हुँत, हुँति—यह संस्कृत के 'भवंत' के अपभ्रंश 'हुँत' का बिगड़ा हुआ स्वरूप है। इसका अर्थ अपभ्रंश में 'से' होता है। देखो हेमचंद्र से उद्धृत उदाहरण—'जहाँ होत ओ आग हो', जहाँ से वर आया है। 'तुम्हहँ होतउँ आग हो' वह तुम्हारे यहाँ से आया है। इसी अर्थ में यह डिंगल में भी प्रयुक्त होता है। हूँ ऊधरी त्रिकुट गढ़ हूँती' अर्थात् लंका से मेरा उद्धार किया (वेलि ६३)। 'हालियो मलयाचल हूँत हिमाचल' (वेलि २५८)। 'दखिण हूँत आवतो उता दिसि' (वेलि २५६)। 'धरम हुँता नवालइ' (धर्म से नहीं हटते हैं)। 'हूँत' का बहुवचन में 'हुँता' रूप होता है। आदर-सूचक अर्थ में भी 'हुँता' प्रयुक्त होता है। यथा—'कुससथली हुँता कुंदणपुरि' (वेलि ७२)।

संबंध

संबंध-सूचक प्रत्यय प्रायः विशेषणों से बने हैं। इनके लिंग, वचन इनकी अधिकारी संज्ञा के समान होते हैं। यदि अधिकारी संज्ञा पुँल्लिंग है तो उसका संबंध-सूचक प्रत्यय भी पुँल्लिंग-सूचक होगा। यदि संज्ञा स्त्रीलिंग है तो वह भी स्त्रीलिंग होगा। जैसे—'घोड़े का पाँव' में प्रत्यय की अधिकारी संज्ञा 'पाँव' है। 'पाँव'

पुँल्लिंग होने के कारण 'का' संबंध-सूचक प्रत्यय पुँल्लिंग हुआ। दूसरे उदाहरण 'मोह की निंद्रा' में 'निद्रा' स्त्रीलिंग होने के कारण संबंध-सूचक विभक्ति भी स्त्रीलिंग हुई। यह नियम प्रायः सभी संबंध-सूचक शब्दों के लिये लागू होता है। पहले इस कारक के 'कउ' चिह्न को लीजिए।

'कउ'—यह प्रत्यय संस्कृत के 'कृत' का अपभ्रंश रूप है जो अपभ्रंश के इसी रूप में डिंगल में पाया जाता है। प्राचीन डिंगल में यह बहुत कम देखा गया है, परंतु अर्वाचीन डिंगल में इसका प्रयोग अधिक है। राजस्थानी में यह 'को', 'का', 'की' के रूप में विद्यमान है। 'कउ' के प्रयोग के लिये कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

'मोह की निद्रा'

कहि रुकमणि प्रदुमन अनिरुध का सह सह चरिये नाम।

'केरउ'—बीम्स और हार्नली का मत है कि संस्कृत के 'कृतः' से प्राकृत में 'करिओ' हुआ, जिसका अपभ्रंश में 'केरउ' बना। कोई कोई प्राकृत के 'करिओ' को संस्कृत के 'कार्यः' से निकला बतलाते हैं। टेसिटरी महाशय एक अनुमानित शब्द 'कार्यकः' से इसे बना बतलाते हैं। इस व्युत्पत्ति का आधार केवल अनुमान है, अतः हम इसके परम मूल को ढूँढ़ने की फिक्र छोड़कर और अपभ्रंश के 'केर' अथवा 'केरक' शब्द से ही इसकी व्युत्पत्ति मानकर संतोष करें तो अच्छा हो। डिंगल के उदाहरण—'जाणे गिरिवर केरउ शृंगा', 'तूँ कवियण जण केरी माया', 'त्रिभुवन केरा नाथ' (India Antiquari, VLV, 1914, p. 249. Notes on Grammar N. O. W. R.)।

'तणउ'—सर जॉर्ज ग्रियर्सन इसे संस्कृत के 'तन' से बना मानते हैं परंतु यह स्पष्ट एवं संगत नहीं जान पड़ता। टेसिटरी महाशय ने इसकी उत्पत्ति संस्कृत के 'आत्मनकः' शब्द से बतलाई है। हेम-

चंद्र ने 'तणउ' का अर्थ 'संबंधिन्' किया है जो संस्कृत के 'आत्मनकः' का समानार्थी जान पड़ता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी यह अनुमान ठीक प्रतीत होता है। 'आत्मनकः' का अपभ्रष्ट रूप 'अप्पणउ' अपभ्रंश में मिलता है। हेमचंद्र ने इसको 'आत्मीय' का आदेश माना है। 'अप्पणउ' में आदि के 'अ' का लोप होने से 'पणउ' रूप हो सकता है। उसके (अप्पणो के) 'प' को 'त' आदेश होकर 'तणउ' बना होगा, यही संभव जान पड़ता है। डिंगल में हेमचंद्र के 'संबंधिन्' अर्थवाले 'तणउ' का संबंध कारक में बहुत प्रयोग पाया जाता है। इसके रूपों में भी संबंधी संज्ञा के लिंग के अनुसार भेद होता है और इसके रूप तणो, तणी, तणा होते हैं; जैसे—

'कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन' (वेलि ७)।

'पदमणि नाभि प्रियाग तणी परि' (वेलि २५)।

'समाचार सीता तणा भेद सारा' (सूरज-प्रकाश, पृ० ४६०)।

'तरै भूप दूजा तणा जेम पूरा' (वही, पृ० ४६०)।

'सहमीर तणउ दरियाउ सद्धि' (छंद राउ जैतसीरउ १०९)।

'चा'(चउ)—सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने इसे संस्कृत के 'कृत्यकः' के अपभ्रंश आदेश 'किच्चउ' का विकृत रूप माना है। टेसिटरी महाशय ने 'चउ' का सार्वदेशी प्रयोग न मानकर राजपूताने के उसी भाग में माना है जो महाराष्ट्र प्रांत की सीमा के समीप है। परंतु इसका प्रयोग राठौड़राज प्रिथिराजजी की 'वेलि' में भी मिलता है जो उस प्रांत के न होकर पश्चिमी राजस्थान के थे। उदाहरण—

'कुण जाणै संगी हुआ केतला देस देस चा देसपति' (वेलि २७)।

परंतु इसका प्रयोग बहुत कम पाया जाता है, यह सत्य है।

'नउ'—यह उक्त 'तणउ' का विकृत रूप मालूम होता है। प्राचीन डिंगल में और विशेषकर जैन-ग्रंथों में इसका प्रयोग अधिक देखने में आता है।

उदाहरण—'उंदालानहु चोथउ मासविहु' (आदिनाथ-चरित्र)। 'तेहनी पुत्री' (दशद्विश तंत्र)।

'रा', 'रउ'—यह 'केरउ' का कटा-छँटा रूप है और आधुनिक राजस्थानी में 'रो' के रूप में विद्यमान है। डिंगल की संबंध-सूचक 'कौ'; 'तणउ' आदि विभक्तियों की भाँति 'रउ' पर भी वाक्य में जिस शब्द के साथ कारक का संबंध होता है वह, भेद्य अनुशासन करता है और उसी के लिंग तथा वचन के अनुसार इसका भी लिंग और वचन होता है; जैसे—

'कामणि काम सुवाण कामरा' (वेलि २३)।

'लखे रामरा बाणरो सार लीधो' (सूरज-प्रकाश, पृ० ४७)।

'कनरा मौड़ खेरू करेय' (छंद राउ जैतसीरउ ७३)।

'महाराज आजरी वेढ़रा धणी राठौड़' (वचनिका राउ रतनसिंहजी री)।

अधिकरण

'मझारि'—यह संस्कृत के 'मध्य' शब्द का विकसित रूप है। अपभ्रंश में इसका रूप 'मज्झ' मिलता है। प्राचीन डिंगल तथा जैन-ग्रंथों में 'मझारि' का प्रयोग अधिक हुआ है, परंतु अर्वाचीन डिंगल में यह एक प्रकार से छूट सा गया है। उदाहरण—'बनइ मझारि', 'पेटिं मझारि' (I. A., Vol. XLIII, 1914, pp. 252$74(4).)।

'माँझि'—यह संस्कृत 'मध्ये' के अपभ्रंश 'मज्झ' का डिंगल रूप है। इसके उदाहरण जैन-ग्रंथों में ही अधिक मिलते हैं, चारणों के ग्रंथों में बहुत कम। 'पंचाख्यान' नामक जैन-ग्रंथ में इसका प्रयोग अधिकरण कारक में इस प्रकार हुआ है—'आवि घर माँझि।'

'मां'—यह अपभ्रंश 'मज्झ' से 'माह', 'म्ह' के रूपों से होता हुआ डिंगल में 'मां' रूप में अवतरित हुआ है। उदाहरण—

'सुणि सवणि वयण मनमाहि थियो सुख'। (वेलि ५२)

'तेह मानहि सण देइ' (I. A., Vol. XLIII, 1914, pp. 252 $ 74 (61).)

'मुझ्झ मा मति इसि'। (पंचाख्यान)

'माहि'—यह डिंगल के अर्वाचीन ग्रंथों में तथा प्राचीन ग्रंथों में बहुत प्रयुक्त हुआ है। यह भी संस्कृत के 'मध्य' तथा अपभ्रंश के 'मज्झ' का डिंगल रूप है। उदाहरण—बारै मास माहि दिन वारै (सूरज-प्रकाश ७९)।

विशेषण

विशेषण के विषय में विशेष विचार करना नहीं है। इनके रूप प्रायः वैसे ही हैं जैसे गुजराती और राजस्थानी में हैं। विशेषणों के लिंग, वचन, कारक विशेष्य के लिंग, वचन और कारक के समान होते हैं; किंतु स्त्रीलिंग-सूचक विशेषणों के प्रायः समस्त रूप इकारांत हुआ करते हैं। इनके रूप विशेष्य के लिंग, वचन, कारक के समान नहीं होते, किंतु स्त्रीलिंग-सूचक विशेषण प्रायः सभी इकारांत होते हैं। उनके रूप विशेष्य के लिंग, वचन, कारक के समान नहीं होते।

नीचे लिखे उदाहरण से इन नियमों का स्पष्टीकरण होता है—

एकवचन

कर्त्ता कारक—विवेक रूप्यौ हाथ्यौ, कष्ट रूपिणि सांपिणि।

कर्म कारक—तपनूँ उपदेश।

करण कारक—घणइ, आपणि बुद्धिइ करै।

संप्रदान कारक—मारिता पुरुष नइ।

अधिकरण कारक—अनैरे दिनि।

बहुवचन

कर्त्ता—सगलिइ रिद्धि, मोट का कूंडा, अहंकारना धणि कुसुमानणि मालया, मुगतीना सुख।

करण—बचनरूपिणी डोरिउ, चिकणें करमि, नरकनि ज्वालाइ। पंचमी तथा षष्ठी—देवनणां कुसुमानणि वृष्टि, घणि दिसि थि।

अव्यय

ये विशेषणों से मिलते-जुलते हैं। ये नीचे दिए जाते हैं—इम < एउअ < एव, जिम < जेउअ < येव, तिम < तेउअ < तेव, किम < केव, एम, जेम, वले, वली = फिर। किरि = मानों। जइ = यदि, जब। पुणि = फिर। परि = ज्यों, समान। इहाँ = यहाँ। जारे = जाणि। जइ = यदि, जब। ने = और। किम, नोम = कैसे। अरथि, आगइ (आगे) अग्गिन (आगहरि), उपरि, काजि (लिये) सं० कार्य्य अप० कज्जि, कारणइ (सं० कारणे), कारणि = लिये, केड़इ (पीछे), छेहि पाखलि (चौतरफ) सं० पच्चिलि, पूठइ, पूठि = पृष्ठास्मिन्, वाहिरि (वाह्य), वर्त्मनि (अप०) विच्चि = वीचइ, वीचालि। 'विण' (सं० विना), विषइ (विषय); संघातइ = साथ में (सं० संघातकि, समीपि), सीम = पर्य्यंत। तदि = तब। इ = ही। अने = और। साम्हा = सामने। तिम = तैसे। नहु = नहीं।

सर्वनाम

प्राचीन डिंगल के सर्वनाम शब्दों के रूप प्रायः अपभ्रंश के सर्वनाम शब्दों के अनुरूप ही हैं। अर्वाचीन डिंगल में उनमें बहुत कम विभेद हो गया है। आगे दिए हुए कोष्ठकों में अपभ्रंश सर्वनामों से डिंगल सर्वनामों में भेद बतलाया गया है।

व्यक्तिवाचक सर्वनाम

हूँ (अहम्)=मैं

कारक	डिंगल	अपभ्रंश
कर्त्ता	हूँ, मइँ, म्हे	मइं, हउं, अम्हइं, अम्हि
कर्म	हूँ, मूँ, मूझ, अम्ह	अम्ह, मज्झु, मइँ, अम्हइं
संबंध	मूझ, माहरो, अम्हीणि, म्हारउ	म्हारउ, मज्झु, मुहु
अधिकरण	अम्हाँ	

तूँ=तू

कारक	डिंगल	अपभ्रंश
कर्त्ता	तुम्ह, तुम्हाँ	तुहुँ, तुहूँ, तुहँ, तुम्हि
कर्म	तुम्ह, तुम्हाँ	तुहुँ पइं, तुम्ह
करण	तुम्हाँ सूँ	तुहुँ पइं, तुम्हइँ
संबंध	तूझ, ताहरो, तुम्हाँणो	तुज्झु (सं० तुभ्यम्), तुहु

निश्चयवाचक सर्वनाम

कारक	अपभ्रंश	डिंगल	अपभ्रंश	डिंगल
कर्त्ता, कर्म	एउ, एहु, इहु, इहउँ	एह, ए	आप	आ
करण	एणइ	एणइ, इणइ, इणि, एणि	आवेण	
संप्रदान	एहा, एहाँ	एहँ, इहँ	अहाँ	अहाँ
अपा० सं०	एणहि, एहो	एह, ए	आहो	
अधि०	एहि, एणहि	एहि, एणइ, इणइ, इणि, एणि	आहि, अहि, अणइ	

कारक	अपभ्रंश	डिंगल	अपभ्रंश	डिंगल
कर्त्ता, कर्म	एइ	ए	अइ (नपुं०)	
करण, सप्तमी	एणेहि	एहे, एणे		
षष्ठी	एहं	इयँ, इअँ		
पंचमी	एह	एह		

नोट—ये चक्र टेसिटरी महाशय द्वारा पुरानी पश्चिमी राजस्थानी के आधार पर बनाए गए हैं।

संबंधवाचक सर्वनाम

एकवचन जो, सो

कारक	अपभ्रंश डिंगल	अपभ्रंश डिंगल
कर्त्ता, कर्म	जो, जु, जा > जा, जु, जा	सो, सु > सोइ, सोय > सु, सा
करण	जिणि > जेणइ, जिणइ जेणिइ, जिणि	तेणइ तिणइ तिणि
संप्रदान	जा, जहं, जउ > जा, जिहिँ, जउ, जू	तहँ, ता, तउ > ता, तहँ तउ, तू
अपादान, संबंध	जसु, जासु, जेहह > जास, जस, जेह, जिह, जे	तासु, तसु, तेहो, तउ > तास, तस, तसु, तह, तेह, तिह, ते
अधिकरण	जहिँ, जहि > जहिं, जिहिं, > जेणइ, जिणइँ > जेणि, जिणि	तहँ, तहिं तहि, ताहिं ताहि तेणइ, तिणइ तेणि, तिणि

बहुवचन

कारक	अपभ्रंश		डिंगल	अपभ्रंश		डिंगल
कर्त्ता	जे, जि	>	जे, जेअ	ते	>	ते
कर्म	जेहि	>	जेहु	तेह	>	तेह
करण	जेहहिं	>	जेहि	तेहहिं	>	तेहि, तेइ
संप्रदान		>	जेणि, जिणि	तेहइँ	>	तेह, तिह,
		>	जे, जिअँ, जियँ			तेहँ, ते, तिअँ, तियँ

प्रश्नवाचक सर्वनाम तथा अनिश्चयवाचक सर्वनाम

एकवचन

कारक	अपभ्रंश	डिंगल
कर्त्ता	कणु	कावण, कउँण, कुँण, कुण (प्र० वा०)
कर्म	को	को
	कोवि	कोई, कोइ, कोवि (अनि०)
	कोइँ	कोय (अनि०) काइँ
करण	कवणइँ	कउणइँ, कउणिइँ, कुणइँ किणइँ, कणइँ, कणि, कियइँ, (अनि०)
संप्रदान	का, कहँ	कँ, किहँ
संबंध	कवणइ	कुणह (प्र० वा०)
अपादान	कहो, कहु	कह
	किणो (प्र०) केहु (प्र०)	किण (प्र० वा०) केह, कहि

कारक	अपभ्रंश	डिंगल
अधिकरण	कवणहि कहिं	कुणइँ, कुणहइँ कहिं, काहइँ (प्र० वा०), किण

बहुवचन

कारक	अपभ्रंश	डिंगल
कर्त्ता	केइ, केवि	केइ, केवि (प्र० वा०)
कर्म	केह	केह
करण	कवणहि	कुणि
संप्रदान	केहहिं	केहिं (प्र० वा०), केइ
संबंध, अपादान	केहइँ	केहँ, केह, कियँ

निजवाचक सर्वनाम के निम्न-लिखित रूप पाए जाते हैं—आप, आपण, आपणय जो संस्कृत के अस्मत् शब्द और अपभ्रंश के अप्प, अप्पण शब्दों से बिगड़े हैं। 'आपण' शब्द सर्वनाम एवं विशेषण के रूप में पाया जाता है।

आप्पणय—आपीय > अप० अप्पणप्प

कर्त्ता—आप आपण, आप, आँपँ (ब० व०)

कर्म—आपणपउँ, आपणपुँ

करण—आपणपइँ (क्रिया-विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है)

अपादान संबंध—आपणपा, आप, आपणे, आपाँ, आपणो

संप्रदान—आपणपइँ आपणइँ

क्रियाविशेषण रूप—आपहणो

परिमाणवाचक सर्वनाम

इसके तीन भेद हैं—

१—एतउ, जेतउ, तेतउ, केतउ > एतिउ, जेतिउ, तेतिउ, केतिउ (हेमचंद्र) > संस्कृत अपत्तपः, पपत्तपः इत्यादि। (देखिए Pischel's Grammar § 153)

२—एतलउ, जेतलउ, तेतलउ, केतलउ > अप० एत्तलउ, जेत्तलउ। (राजस्थानी—इतरो, जितरो)

३—एवड़उ, जेवड़उ, तेवड़उ, केवड़उ।

अपभ्रंश—एवड़उ, जेवड़उ, तेवड़उ, केवड़उ > संस्कृत अपवद्रकः, पपवद्रकः (Pischel § 534) गुज० एवड़ो, जेवड़ो।

इन तीनों विभागों के शब्द संस्कृत के यत्, यवत्, तवत्, कियत् से बने हैं तथा इनका अर्थ भी इतना, जितना, तितना, कितना, होता है।

गुणवाचक सर्वनाम

इसके दो भेद हैं। पहले भेदवालों में अंत्य सिउ लगता है; जैसे—इसउ, जिसउ, तिसउ, किसउ, तथा इसिउ, जिसिउ, तिसिउ, किसिउ और इस्यो, जिस्यो, तिस्यो, और किस्यो आदि रूप बनते हैं। ये अपभ्रंश के अइसउ, जइसउ, तइसउ से बने हैं जो संस्कृत के ईदृश्, यादृश्, तादृश्, कीदृश् के विकसित रूप प्रतीत होते हैं।

दूसरे भेदवाले गुणवाचक सर्वनामों के अंत में ड़उ प्रत्यय लगता है; जैसे—एहड़उ, जेहड़उ, तेहड़उ, केहड़उ आदि। ये भी संस्कृत के ईदृश्, यादृश्, तादृश् और कीदृश् शब्दों के परिवर्तित रूप हैं।

स्थानवाचक सर्वनाम

ये संस्कृत के अत्र, यत्र, तत्र और कुत्र शब्दों के अपभ्रंश रूप एट्टू, जेट्टू, तेट्टू और केट्टू से अठउ, जठउ, तठउ और कठउ डिंगल के रूप हैं।

समष्टिवाचक सर्वनाम

डिंगल में 'सहु' और 'सवि' समष्टि-सूचक सर्वनाम हैं जो एकवचन और बहुवचन दोनों में प्रयुक्त होते हैं। सहु शब्द संस्कृत के शश्वत् और अपभ्रंश के साहु शब्द का परिवर्तित रूप है। सहु 'प्रत्येक' के अर्थ में प्रयुक्त होता है; जैसे—सहु भलउ = सब भला है। 'सब' के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है; जैसे—'सहुलोक' = सब लोग। संस्कृत के 'सर्वे' का अपभ्रंश रूप 'सव्वि' डिंगल के 'सवि' शब्द का उत्पादक रूप है। यह 'सब' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ करता है; जैसे—सविलोक, सविजणाँ।

संयुक्त सर्वनाम

इसके तीन भेद हैं—संबंधवाचक संयुक्त सर्वनाम, अनिश्चय-वाचक संयुक्त सर्वनाम और समष्टिवाचक संयुक्त सर्वनाम।

संबंधवाचक संयुक्त सर्वनाम डिंगल के जिको, जिकाइ हैं। इनका अर्थ क्रमश: जो कोई और जो कुछ होता है।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम कोई एक, कोईक आदि हैं।

समष्टिवाचक संयुक्त सर्वनामों के रूप सहु और सवि शब्दों के साथ को, कोइ, इ-को, काइ जोड़कर बनते हैं; जैसे—सहुको, सहुकोइ, सहु-इ-को और सविकाइ। इनका अर्थ सब कोई होता है।

क्रिया-विशेषण

व्युत्पत्ति की दृष्टि से क्रिया-विशेषणों को छ: भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) दिशावाचक, (२) स्थानवाचक,

(३) कालवाचक, (४) विशेषणात्मक, (५) सीमावाचक तथा निश्चयवाचक और (६) संयुक्त क्रिया-विशेषण ।

(१) दिशावाचक क्रिया-विशेषणों में से मुख्य निम्न-लिखित हैं—

अपभ्रंश	डिंगल
निच्चइ	निश्चइ (सं० निश्चयेन)
मउड़इ	मउड़इं (सं० मृदुतकेन)
रुअड़इ	रुड़इं (सं० रूपकेन)
वेगि	बेगि (सं० वेगेन)
सहजे	सहजि (सं० सहजेन)
सच्चइ	सांची (सं० सत्यकेन)
सट्ठइ	साथइं (सं० सार्थकेन)

कुछ क्रिया-विशेषण पद भी हैं जो नीचे दिए जाते हैं—

इणइ प्रकारेण अर्थात् इसी तरह ।

इणि विधिइ अर्थात् इसी प्रकार से ।

(२) स्थानवाचक क्रिया-विशेषण—

अनेठि (अन्यस्थाने)

अरइं परइं अर्थात् आर-पार, आस-पास या चारों तरफ।

आसइ पासइ अर्थात् " " "

केड़इ अर्थात् पीछे (ही)

दूरि, दूरइ अर्थात् दूर (दूरे)

अपभ्रंश	पाक्खिलउ	डिंगल	पाखलि (सं० पक्षे)
"	बाहिरि	"	बाहरि (सं० वहिस्)
"	मज्झहि	"	माहइ (सं० मध्यस्मिन्)
"	विच्चइ	"	वीचि (सं० वर्त्मनि)
"	हेट्ठिलउ	"	हेठलि (नीचे) (सं० अधःस्थितः)

(३) कालवाचक क्रिया-विशेषण—

अपभ्रंश	डिंगल
कल्ले	कालि, कालिह (सं० कल्ले)
प्रभातइ	परभातइ (सं० प्रभातके)
राति	रातइ (सं० रात्रि)
संझा	सांझइ (सं० संध्या)

(४) विशेषणात्मक क्रिया-विशेषण—

घणु (घना या बहुत); जैसे 'सोचइ मनि घणउ', थोड़उ (थोड़ा) इत्यादि।

(५) सीमावाचक तथा निश्चयवाचक क्रिया-विशेषण—

अप० अज्जइ >डिं० आजइ, अजे (सं० अद्यापि)।

अप० एव >डिं० हेव (सं० एव)।

डिंगल में 'एव' के स्थान में इ, ज, जि, हि, उ जोड़े जाते हैं; जैसे—अठारइ (अठारहहि), त्रेवीसइ (तेवीसही), सगलइ (सबही), आजइ (आज ही), तेहज (वेही), सातंज (सात ही), एकिज (एक ही)।

यदि बल-प्रयुक्त शब्द संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण होता है तो बल-प्रयोग का चिह्न (इ, ज आदि) उसके और विभक्ति-चिह्न के बीच में लगाया जाता है; जैसे—गुरु अ-इ-नइं (गुरू ही को), सगलइ-नइं (उन सभी को), इणहि-जि-कारणि (इसी कारण)।

(६) संयुक्त क्रिया-विशेषण—

तिणि वारइ (उस समय) इत्यादि।

डिंगल में कुछ विशेषण ऐसे भी हैं जिनसे स्थान तथा समय दोनों का बोध होता है; जैसे—आगइ (आगे तथा पहले), आगिलो (पहले का तथा आगे का), पाछइ (पीछे)।

समुच्चायक शब्द

डिंगल में समुच्चायक शब्दों के चार भेद किए जा सकते हैं—(१) संयोगात्मक, (२) विरोधात्मक, (३) विभेदात्मक, (४) संकेतात्मक।

(१) संयोगात्मक शब्द दो भिन्न वाक्यों को जोड़ते हैं। वे इस प्रकार हैं—

अपभ्रंश अण्णइ डिंगल अनइ (और), (सं० अन्यानि)
,, पुणि ,, पणि (सं० पुनर्)।
,, पुणि ,, पुणि, बलि (फिर), (सं० पुनश्च)।
देखिए उदाहरण—बलि गुरु नउं स्वरूप कहइ (आदि०)।

(२) विरोधात्मक—ये पणि, पहि (वेलि, दोहला ४), पिणि, पिण आदि हैं जो तत्सम शब्द परंतु से बने प्रतीत होते हैं।

(३) विभेदात्मक समुच्चायक अव्ययों में मुख्य अव्यय किरि है। यह उत्प्रेक्षाबोधक शब्द की तरह प्रयोग में आया करता है। उदाहरण के लिये वेलि, दोहला १२, १६, २५ देखिए।

(४) संकेतात्मक समुच्चायक अव्यय—ये जइ, जउ हैं। 'जइ' संस्कृत के 'यदि' का बिगड़ा रूप है और 'जउ' संस्कृत के 'यतस्' शब्द के अपभ्रंश 'जउ' का अपरिवर्तित रूप मात्र है।

डिंगल का 'तउहि' अव्यय संस्कृत के 'ततोहि' अथवा 'तथापि' का विकसित रूप जान पड़ता है। आधुनिक राजस्थानी में यह 'तोहि' के रूप में विद्यमान है। इस 'तोहि' को अधिक जोरदार बना देने के लिये इसके आगे या पीछे 'पण' जोड़ देते हैं; जैसे—तोहि पण कोयनी आया।

डिंगल में कुछ अव्यय ऐसे भी हैं जो सदा साथ साथ प्रयोग में आते हैं; जैसे—जेणि (जो), तेणि (वे), जेह, तेह इत्यादि।

क्रिया

'भू' सहकारी क्रिया

वर्तमान काल

	एकवचन	बहुवचन
अ० पु०	हुइ, होय, होइ, हुवइ	हुई, होई, हुवई

संभाव्य भविष्यत् काल

	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०	हूजिअउ	
म० पु०	होइजे	होवे, हुवो
अ० पु०	हुए	

भविष्यत् काल

म० पु० होइसी, हुइसी, होसी (अप० होस्सहि), (सं० भविष्यसि)।

अ० पु० हुसइ (अप० होसइ), (सं० भविष्यति), हुसि, होइ-स्सहि, होस्यइ।

हेतुहेतुमद्भूत

इसके 'हूँतउ', 'हुतउ', 'हूत' और 'हतउ' रूपों में से पहला (हूँतउ) रूप डिंगल में विशेष रूप से प्रचलित है। यह रूप अपभ्रंश के 'हुँतउ' का प्रति रूप है। बाकी सब 'हुतउ' आदि रूप इसी से बिगड़कर बने हैं। इसका प्रयोग डिंगल में भी उसी अर्थ में होता है जिसमें कि अपभ्रंश में हुआ करता है।

सामान्य भूत

इसमें पुंल्लिंग एकवचन में 'होयउ' प्रयुक्त होता है तथा स्त्रीलिंग में 'हुई'।

वर्तमान काल

'छइ' इसके रूप तीनों पुरुषों में वर्तमानकाल में इस प्रकार होते हैं—

[नोट—यह 'छइ' संस्कृत के 'ऋछ्' धातु से बना है जिसका प्रयोग डिंगल में 'है' के अर्थ में होता है।]

एकवचन	बहुवचन
प्र० पु० छूं	छां
म० पु० अछइ, छइ	छउ
अ० पु० अछइ, छइ	छइ, अछइ

संस्कृत और प्राकृत के अकारांत क्रिया-पदों के 'अ' को ढिंगल में 'इ' आदेश हो गया है। डिंगल अपभ्रंश की ज्येष्ठ पुत्री होने के कारण इसमें अपभ्रंश के गुणों का समावेश अधिक है। और प्राकृत तथा अपभ्रंश के गुण इससे बिल्कुल छूट गए। अतएव डिंगल में यह इकारांत क्रिया-पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति और कई बातों के साथ अपभ्रंश से इसे दहेज में मिली और इसने इसकी रक्षा भी की। उदाहरण—

अपभ्रंश	'करइ'	डिंगल	'करइ'
"	'भणइ'	"	'भणइ'
"	'पुच्छइ'	"	'पूछइ'
"	'होइ'	"	'हुइ', 'होइ'

सामान्य भूत

डिंगल में मूल क्रिया के पीछे 'हउ', 'यउ' तथा 'इउ' लगाकर सामान्य भूतकाल के रूप बनाए जाते हैं जो अपभ्रंश के 'इउ', 'अइ' के कुछ परिवर्तित रूप मात्र हैं। उदाहरण—

अपभ्रंश कहइ > डिंगल कहिउ
" उड़िइ > " उड़िउ
" हुइ > " हुयउ

डिंगल का 'यइ' प्रत्यय अपभ्रंश के 'यइ' का विकसित रूप है, जैसे—आपियइ > आपइ, आवियइ > आवइ।

इसके अतिरिक्त डिंगल में इअउ प्रत्यय का भी प्रयोग मिलता है; जैसे—पूजियउ, जाणियउ।

संस्कृत के 'टकह' तथा 'ट' प्रत्यय के अपभ्रंश 'ट्टउ' का डिंगल में सामान्य भूतकाल 'ठउ' लगकर बनता है; जैसे—

संस्कृत दृष्टकः > अपभ्रंश दिट्ठउ > डिंगल दीठउ
" नष्टकः > " णट्ठउ > " नाठउ

पूर्वकालिक क्रिया

डिंगल में क्रिया के अंत में 'एवि', 'एविय', 'इ', 'ई', 'अ', 'य', नइ, करि आदि प्रत्यय लगाकर पूर्वकालिक क्रिया का रूप बनाया गया है; जैसे—पणमेवि, पणमेविय, ठानि, लइ, विस्तारि, मारिअ, पालिअ, बहिय तथा करीनइ, मेहलीनइ, बाँचीनइ, दोड़ि करि, वेढ़वि करि इत्यादि।

अर्हार्थक कृदंत

यह रूप क्रिया में 'इवउ', 'अवउ' जोड़कर बनाया जाता है। इसकी व्युत्पत्ति अपभ्रंश के 'एव्वउ', 'ईएव्वउ' से हुई प्रतीत होती है। उदाहरण—एक करिवउ उपाय (अर्थात् एक उपाय करना चाहिए)। ठामि धरि वावेउ (अर्थात् दोनों अपने स्थान पर रखे जायँ)।

क्रियार्थक क्रिया

यह क्रिया मूल क्रिया में 'अउँ', 'अया', 'इण' आदि प्रत्यय लगाकर बनती है; जैसे—रचण काजि, जीवण काजि, जीमवा बैठा इत्यादि।

कृदंत विशेषण

यह सामान्य क्रियार्थक कृदंत में 'हार' प्रत्यय जोड़ने से बनता है; जैसे—करणहार।

कर्मवाच्य

डिंगल में धातु में 'जइ', 'इ' लगाकर कर्मवाच्य बनाते हैं। ये अपभ्रंश के 'ज्जइ' से बने हुए रूप हैं। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) वर्तमान काल

अपभ्रंश	पिज्जइ	डिंगल	पिइजइ	(सं० पीयते)
,,	दिज्जइ	,,	दिइजइ	(सं० दीयते)
,,	किज्जइ	,,	किइजइ	(सं० क्रियते)

(२) भविष्यत् काल

भविष्यत् काल में 'ईजसी' प्रत्यय मूल क्रिया में लगकर रूप बनते हैं; जैसे—जाईजसी, करीजसी, कीजसी।

हेतुहेतुमद्भाव

इसमें 'ईज' के साथ 'तउ' जुड़कर रूप बनते हैं; जैसे—लीईजउ हुतउ, पीईजतउ हुतउ, जाईजतउ हुतउ इत्यादि।

डिंगल का मुख्य प्रत्यय 'इलउ' अपभ्रंश के 'इल्ल' से बना है और स्थानवाचक तथा समयवाचक क्रिया-विशेषणों के साथ प्रयुक्त होता है; जैसे—पूरविलउ, माहिलउ, अग्गिलउ।

कुत्सित, अल्प आदि अर्थ-द्योतक 'अलउ' तथा 'ड', 'ड़उ' स्वार्थिक प्रत्यय डिंगल में प्रयुक्त होते हैं। इनका रूप संज्ञा के लिंग और वचन के अनुसार होता है; जैसे—कीड़लउ (कीड़ा), कीड़ो, बगलउ, आंधलउ, एकलउ तथा स्त्रीलिंग में 'एतड़ो' बाटड़ी। इसके अतिरिक्त स्त्रीलिंग में 'ली' प्रत्यय भी लगता है; जैसे—कागली।

बहुवचन में 'ड़ा' और 'ला' पुँल्लिंग के प्रत्यय होते हैं तथा स्त्रीलिंग के बहुवचनों में 'याँ' प्रत्यय लगा करता है।

पुँल्लिंग

एकवचन	बहुवचन
चामड़उ	चामड़ा
बगलउ	बगलड़ा
भामतड़उ	भामतड़ा

स्त्रीलिंग

गांठड़ी	गांठड़ियाँ
बातड़ी	बातड़ियाँ
रातड़ी	रातड़ियाँ
कागली	कागलियाँ

नपुंसक के रूप डिंगल में पुँल्लिंग के रूपों के समान ही होते हैं।

डिंगल में विशेष ध्यान देने योग्य प्रत्यय 'हउ', 'अन' तथा उपसर्ग 'अण' है। 'हउ' प्रत्यय के उदाहरण प्राचीन डिंगल में कम तथा अर्वाचीन डिंगल में बहुत पाए जाते हैं; जैसे—आघउ, (दूर), उरहउ (यहाँ), परहउ (दूर) इत्यादि।

'अन' प्रत्यय प्रायः आदर-सूचनार्थ तथा संबोधनार्थ लगाया जाता है; जैसे—राजन् (हे राजा)।

'अण' उपसर्ग अपभ्रंश का 'अण' तथा संस्कृत के 'अन' का रूपांतर है। इसका प्रयोग डिंगल में बहुत होता है। यह सामान्य भूतकाल के रूपों के पहले लगता है। उदाहरण—

अण दीठउ (अनदेखा)।

अण सुणियउ (अनसुना)।

अण जाणउ (अनजाना)

(४) भारतवर्ष का इतिहास

(लगभग सन् १५० ई० से सन् ३५० ई० तक)

[लेखक—रायबहादुर पंड्या श्री बैजनाथ, काशी]

नाग-वाकाटक-साम्राज्य-काल

बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के जर्नल के मई-जून ३३ अंक में श्रीमान् के० पी० जायसवाल ने २२२ पृष्ठों में इस इतिहास को छापकर भारत के इतिहास पर बहुत नया प्रकाश डाला है। यह ग्रंथ अलग पुस्तकाकार छपेगा, पर पत्रिका के पाठकों के लिये यहाँ उस ग्रंथ का अति संक्षिप्त सार दिया जाता है। इस ग्रंथ के पाँच विभाग हैं—(१) नागवंशाधीन भारत (सन् १५० ई० से सन् २८४ ई० तक), (२) वाकाटक-साम्राज्य (सन् २८४ से सन् ३४८ ई० तक), इसमें पिछले वाकाटक राज्य (सन् ३४८ ई० से सन् ५२० ई० तक) पर एक परिशिष्ट भी शामिल है, (३) मगध का इतिहास (सन् ३१ ई० पूर्व से सन् ३४० ई० तक) और समुद्रगुप्तकालीन भारत, (४) दक्षिण भारत (सन् २४० ई० से सन् ३५० ई० तक) तथा उत्तर-दक्षिण का एकीकरण और (५) गुप्त-साम्राज्य का परिणाम।

डा० विंसेंट स्मिथ अपने भारतवर्ष के प्रारंभिक इतिहास के अंतिम संस्करण में लिखते हैं कि कुशण और आंध्र कुलों के विनाश-काल (प्रायः सन् २२० या सन् २३० ई०) से एक शताब्दी पश्चात् गुप्त-साम्राज्य के उत्थान-काल तक का समय भारतवर्ष के इतिहास में अति अंधकार का समय है। जायसवाल महाशय ने प्रस्तुत ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण अध्ययन करके इस अंधकार को बिलकुल मिटा दिया है।

कुशण-वंश का अंतिम सम्राट् वासुदेव सन् १७६ ई० तक राज्य करता था। उसी समय के लगभग भारशिव-कुल का उत्थान विंध्यदेश

और बुंदेलखंड, बघेलखंड में हुआ। ये लोग भारतवर्ष के सम्राट् हुए और इन्होंने कुशण-वंश को नष्ट कर बनारस में दस अश्वमेध यज्ञ किए। आजकल का काशी का दशाश्वमेधघाट बहुत करके इन्हीं यज्ञों से संबंध रखता है। पुराणों में लिखा है कि आंध्र और उनके समकालीन तुखार-मुरुंड (जिन्हें हम आजकल कुशान-वंश कहते हैं) के अंत होने पर किलकिला नदी के किनारे विंध्य-शक्ति का उत्थान हुआ। यह बुंदेलखंड का वाकाटक-कुल है। किलकिला नदी पन्ना के निकट है। यह कुल नागवंशोद्भव था। नागवंश का उत्थान विदिशा (भिलसा) में हुआ जो शुंगकाल में सम्राट्-प्रतिनिधि (वाइसराय) की राजधानी थी। एक वाकाटक शिलालेख में एक भारशिव सम्राट् का नाम महाराज श्री भवनाग लिखा है। पुराणों में विंध्य-शक्ति के पुत्र के राज्य का माहात्म्य समझाने के लिये नागवंश का वर्णन दिया है। ये ग्रंथ नागवंश को दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) शुंगवंश के अंत के पूर्ववाले और (२) शुंगांत के पीछे के।

यहाँ विदिशा के शुंगों से अभिप्राय है और उनके अंत से लगभग सन् ३१ ई० पू० का समय सूचित होता है।

पुराणानुसार सन् ३१ ई० पू० के नाग राजा ये थे—

(१) शेष, जिसने अपने शत्रु की राजधानी जीती।

(२) भोगिन्, शेष का पुत्र।

(३) रामचंद्र चंद्रांशु।

(४) नखवान (या नखपान) अर्थात् नहपान।

(५) धन या धर्म-वर्म्मन्।

(६) वंगर।

इसके पश्चात् शुंगवंशोत्तर नाग राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—

(७) भूतनंदी (या भूतिनंदी)।

(८) शिशुनंदी।

(६) यशोनंदी (शिशुनंदी का छोटा भाई)। बाकी राजाओं का वर्णन नहीं लिखा।

वायुपुराण में विदिशा के नाग राजाओं को वृष (अर्थात् नंदी) कहा है। जान पड़ता है कि भारशिव की उपाधि इन्हीं वृष और नंदी नामों से उत्पन्न हुई है।

पदमपवाया (प्राचीन पद्मावती) के निकट मणिभद्र यक्ष की एक मूर्ति है जिसमें राजा स्वामिन् शिवनंदी के राज्यकाल के चौथे वर्ष का वर्णन है। यह पीछे का, पुराणों में अकथित, राजा है। इसका समय ईसा की प्रथम शताब्दी जान पड़ता है। पद्मावती नाग राजाओं की राजधानी थी और शिवनंदी तब तक स्वतंत्र राजा था। पुराणों में लिखा है कि पद्मावती को विन्वस्फाणी (कनिष्क के महाक्षत्रप वनस्पर) ने जीत लिया था।

कुछ सिक्के ऐसे मिले हैं जो इन नाग राजाओं के जान पड़ते हैं। ब्रिटिश म्यूजियम में शेषदात, रामदात, शिशुचंद्रदात के सिक्के हैं। वे नाम ऊपर लिखे शेषनाग, रामचंद्र, शिशुनंदी के ही जान पड़ते हैं। दात शब्द दत्त का अपभ्रंश नहीं है पर दातृ या दात्व का अपभ्रंश है। कहीं कहीं केवल रामस् ही लिखा है और "दात" का लोप हो गया है। इस प्रकार पुराणों और सिक्कों का यह क्रम है—

पुराणों का क्रम	सिक्कों का क्रम
१ शेष नागराज	शेषदात
२ रामचंद्र	रामदात
३ शिशुनंदी	शिशुचंद्रदात
४ शिवनंदी (शिलालेख से, पुराणों में इसका नाम छोड़ दिया गया है।)	शिवदात
५ भव (नंदी ?) (पुराणों में इसका नाम नहीं लिखा।)	भवदात

विदिशा के नाग राजाओं का काल लगभग इस प्रकार होगा—

लगभग सन् ११० ई० पू० से सन् ३१ ई० पू० तक चार पुश्त पर पाँच उत्तराधिकारी।	शेष (सन् ११०ई० पू० से ९० ई० पू०) (सिक्के मिले हैं)
	भोगिन् (सन् ९० ई०पू० से ८०ई०पू०)(सिक्के नहीं मिले)
	रामचंद्र (सन् ८० ई०पू० से ५०ई० पू०)(बहुत से सिक्के)
	धर्मवर्मन् (सन् ५०ई०पू० से ४०ई०पू०)(सिक्के नहीं मिले)
	वंगर (सन् ४० ई०पू० से ३१ ई० पू०)(सिक्के नहीं मिले)

सन् ३१ ई० पू० के पीछे के राजाओं का काल इस प्रकार होगा। अब राजधानी बहुत करके पद्मावती में उठ गई थी।

लगभग सन् २० ई० पू० से १० ई० पू० तक भूतनंदी (सिक्के नहीं मिले)
” सन् १० ई० पू० से सन् २५ ई० तक शिशुनंदी (बहुत से सिक्के मिले हैं)।
” सन् २५ ई० से सन् ३० ई० तक यशोनंदी (सिक्के नहीं मिले)।

इन आठ के पश्चात् के नागराजाओं के नाम शिलालेखों और सिक्कों में इस प्रकार मिलते हैं पर उनका क्रम निश्चित नहीं है—

(९) पुरुषदात, (१०) उत्तमदात (११) कामदात, (१२) भवदात, (१३) शिवनंदी या शिवदात (लगभग सन् ५० ई० के)।

इन तेरहों राजाओं का काल लगभग सन् ११० ई० पू० से सन् ७८ ई० तक का है। सन् ८० ई० से सन् १७५ ई० तक कुशाण-राज्य हो गया और नागराजा पुरिका और मध्यप्रांत के नागपुर—नंदिवर्धन—की ओर जंगलों में सुरक्षित रहने को हट गए।

नागवंश की ज्येष्ठ शाखा और वाकाटक-कुल

पुराणों में लिखा है कि यशोनंदी के पीछे उसके वंश में और राजा होंगे—

> तस्यान्वये भविष्यंति राजानस्तत्र ये तु वै।
> दौहित्रः शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत्॥

पुरिका हुशंगाबाद या उसके निकट होनी चाहिए। इस पुराण-कथन की पुष्टि शिलालेखों से भी होती है। पुराणों में शिशुक (रुद्रसेन प्रथम) के पश्चात् विंध्यशक्ति के लड़के प्रवीर का वर्णन आता है। प्रवीर और शिशुक ने मिलकर राज्य किया। वाकाटक शिलालेख के अनुसार सम्राट् प्रवरसेन (प्रवीर) का पुत्र और रुद्रसेन (शिशुक) प्रथम का पिता गौतमीपुत्र गद्दी पर न बैठा; परंतु रुद्रसेन प्रथम, जो प्रवरसेन का पोता और भारशिव महाराज भवनाग का दौहित्र था, गद्दी पर बैठा। यह गद्दी उसे अपने नाना के नाते मिली थी, न कि दादा के नाते। रुद्रसेन को समुद्रगुप्त ने हरा दिया और मार डाला। इस प्रकार वाकाटकों के साम्राज्य का अंत हुआ। रुद्रसेन के पश्चात् उसका लड़का पृथ्वीसेन प्रथम गद्दी पर बैठा।

भारशिव-कुल के राजा और उनका काल

कौशांबी-टकसाल का एक सिक्का मिला है जिसको अभी तक देव नाम दिया गया है। जायसवाल महाशय उसे नवस् पढ़ते हैं। उसमें एक नाग भी अंकित है। आप इसे उस नवनाग राजा की मुद्रा मानते हैं जिसका वर्णन पुराण नवनाग के नाम से करते हैं। यह नवनाग या भारशिव-वंश का संस्थापक था। इस मुद्रा के अक्षर हविष्क वासुदेव के समय के हैं और नवनाग का समय सन् १४० ई० से सन् १७० ई० तक का जान पड़ता है। सन् १७५ ई० या सन् १८० ई० के लगभग एक नागराजा ने मथुरा में हिंदू राज्य की संस्थापना की। यह वीरसेन था। इसके सिक्के पंजाब और उत्तरी भारत में बहुत मिलते हैं। 'स्वामिन् वीरसेन' का शिलालेख भी मिला है। इन नवनागों का या भारशिवों का क्रम इनकी मुद्राओं के अक्षरों और कलाक्रम के आधार पर इस प्रकार माना जा सकता है—

प्राय: सन् १४० ई० से सन् १७० ई० तक	(१) नव (नाग)	(सिक्के हैं)	राज्यकाल २७ वर्ष या अधिक
" सन् १७० ई० से सन् २१० " "	(२) वीरसेन(नाग)	(सिक्के और शिलालेख हैं)	" ३४ वर्ष " "
" सन् २१० ई० से सन् २४५ " "	(३) हयनाग	(सिक्के हैं)	" ३० वर्ष " "
" सन् २४५ ई० से सन् २५० " "	(४) त्रयनाग	"	
" सन् २५० ई० से सन् २६० " "	(५) वर्हिन्नाग	"	" ७ वर्ष " "
" सन् २६० ई० से सन् २९० " "	(६) चरज नाग	"	" ३० व " "
" सन् २९० ई० से सन् ३१५ " "	(७) भवननाग	(शिलालेख हैं)	

पुराणों में भी सात नवनाग राजाओं का वर्णन है ।

नाग राजाओं की राजधानियाँ पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा में थीं। 'शेष' से 'वंगर' तक नाग आरंभ के हैं। भूतनंदी के समय से उपाधि नंदी या वृष हो गई। तब से या उनके पुनः उत्थानकाल (सन् १५० ई० से सन् १७० ई०) से ये भारशिव हो गए और पीछे से नवनाग हुए। संभवतः पद्मावती उनकी प्रथम राजधानी थी। उसके पश्चात् कांतिपुरी और पीछे से मथुरा हुई। भूतनंदी से शिवनंदी तक और उसके पचास वर्ष पीछे तक के राजा भी पद्मावती में राज्य करते थे। इसके पश्चात् पद्मावती पर कुशणों का अधिकार हुआ। सन् १५० ई० के लगभग भारशिव राजा गंगा-किनारे की कांतिपुरी में पहुँचते हैं और काशी में दस अश्वमेध यज्ञ करते हैं। बनारस का नगवा भाग कदाचित् उन्हीं के नाम से अंकित हुआ हो। कांतिपुरी से उन लोगों ने पश्चिम की ओर जाकर फिर पद्मावती और मथुरा पर अपना अधिकार जमा लिया। मिरजापुर और विंध्याचल ग्रामों के मध्य का कंतीत ग्राम पूर्वकाल की कांतिपुरी जान पड़ता है। बघेलखंड से चढ़कर भारशिव राजा वहीं निकलेंगे। बुंदेलखंड से चलते तो जमुना-किनारे जा निकलते। कंतीत के किले में एक पत्थर पर अब भी आधुनिक देवनागरी अक्षरों में कांति लिखा है। कंतीत के राजा कन्नौज और बनारस के गाहड़वाल (गहरवार ?) राजाओं के वंशज हैं। ये राजा आजकल विजयपुर और मांडा में रहते हैं।

नाग राजाओं ने अपना राज्य ३ शाखाओं में रखा था जिनमें से भारशिव सम्राट् कांतिपुरी में बने रहे। दूसरी दो शाखाएँ पद्मावती और मथुरा में थीं। कुछ गणराज्य भी नागराज्य में शामिल थे। शिलालेखों और मुद्राओं के अनुसार इन नाग राजाओं का क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है—

भारशिव, उत्थान कांतिपुरी में, लगभग सन् १४० ई० ।

नवनाग (उसकी मुद्रा पर २७ वर्ष अंकित हैं), (सन् १४० ई० से सन् १७० ई० तक)—नवनाग-वंश या भारशिव-वंश का संस्थापक ।

वीरसेन (उसकी मुद्रा पर ३४ वर्ष अंकित हैं), (सन् १७० ई० से सन् २१० ई० तक) मथुरा और पद्मावती शाखाओं का संस्थापक ।

पद्मावती (टाक-कुल)	कांतिपुरी (भारशिव-कुल)	मथुरा (यदु-कुल)
लगभग सन् २१० ई० से सन् २३० ई०तक भीमनाग	लगभग सन् २१० ई० से सन् २४५ ई० हयनाग ३० वर्ष सिक्के पर	अज्ञात
” ” २३० ” से ” २५० ई०तक स्कंदनाग	” ” २४५ ई० से सन् २५० ई० त्रयनाग	”
” ” २५० ” से ” २७० ई०तक बृहस्पतिनाग	” ” २५० ” ” ” २६० ” वर्हिन्नाग (७ वर्ष सिक्के पर)	”

वाकाटक साम्राज्य का आरंभ लगभग सन् २८४ ई०

लगभग सन् २७० ई० से सन् २९० ई० व्याघ्रनाग	लगभग सन् २६० ई० से सन् २९० ई० चरजनाग (३० वर्ष सिक्के पर)	अज्ञात
" " २९० " से " ३१० ई० देवनाग	" " २९० ई० से सन् ३१५ ई० भवनाग	लगभग सन् ३१५ ई० से ३४० ई० तक कीर्तिसेन
" " ३१० " से " ३४४ ई० गणपतिनाग	" " ३१५ ई० से सन् ३४४ ई० रुद्रसेन पुरिका में	लगभग सन् ३४० ई० से ३४४ ई० तक नागसेन

दूसरों की ओर से राज्य करनेवाले नाग-वंश

अहिछत्र-कुल	अंतर्वेदी-वंश	स्रुघ्न-वंश	चंपावती-वंश
सन् ३२४ई० से ३४४ई० के लगभग अच्युतनंदी	राजधानी इंद्रपुर (= इंदोरखेरा बुलंदशहर)	लगभग सन् ३२८ ई० से ३४८ ई० तक नागदत्त	अज्ञात
	सन् ३२८ई० से ३४८ई० के लगभग मतिल	सन् ३४८ ई० से ३६८ ई० तक महाराज महेश्वरनाग	अज्ञात

गणपति नाग का इतिहास एक मैथिल संस्कृत ग्रंथ 'भावशतक' में मिलता है। उसकी राजधानी पद्मावती थी। वह धाराधीश था। उसका टाक वंश और करपटि गोत्र था। उसका पिता जालप और उसका दादा विद्याधर, ये दोनों राज-सिंहासन पर नहीं बैठे थे। जम्मू और पंजाब के टाक नाग प्रसिद्ध हैं। करपटि का वर्णन महाभारत में भी है। नाग-कुल पंजाब से राजपूताना में आया हुआ मालूम होता है। मालवगण के समान इनका राज्य भी आरंभ में प्रजातंत्र राज्य था। कुशण-काल में लगभग सन् ८० ई० के पद्मावती और विदिशा के त्यागने पर नंदिनाग राजा मध्यप्रांत में चले गए जहाँ वे दुर्गम पहाड़ों में ५० वर्ष से अधिक राज्य करते रहे। नागपुर, नगर्धन में उनका राज्य था। इस समय से मध्यप्रांत का इतिहास बुंदेलखंड के आर्यों से मिल गया और वह संबंध आधुनिक काल तक चला आया है। अजंता की कला भारशिव और वाकाटक की ही कला है। अजंता सातवाहन के अधिकार से भारशिव वाकाटकों के अधिकार में लगभग सन् २५०-२७५ ई० में आई।

समुद्रगुप्त के समय में भी कुछ नाग खंडभूपाल (छोटे राजा) थे। चंद्रगुप्त द्वितीय ने नागकन्या कुबेरनागा से विवाह किया था। ये महादेवी थीं और प्रभावती गुप्ता की माता थीं। बस्तर के शिलालेखों के नागवंशी राजा भी मध्यप्रांत के नागवंशी राजाओं की संतान जान पड़ते हैं।

मगध और पद्मावती में कुशण-राज्य

(लगभग सन् ८० ई० से सन् १८० ई० तक)

पुराणों में मगध और पद्मावती का पूरा इतिहास देने के अभिप्राय से वनस्पर (= विश्वफटि = विश्वफाणि = विंबस्फटि) का इतिहास भी दिया है। वनस्पर कनिष्क का क्षत्रप था और खरपल्लान

उसका महाक्षत्रप था। उसका काल सन् ९० ई० से सन् १२० ई० तक माना जा सकता है। इसी के वंशज बनाफर ठाकुर बुंदेलखंड के होंगे जो राजपूतों से किसी प्रकार नीचे माने जाते हैं और जिन्हें राजपूत-कुलों में विवाह करने में कठिनाई पड़ती है। उसके मुख की आकृति हूणों के समान मंगोल थी। उसने प्रजा को ब्राह्मण-रहित कर दिया। उच्च वर्ण के हिंदुओं को गिराकर उसने नीच वर्ण के हिंदुओं और विदेशियों को उच्च पदों पर स्थापित किया। क्षत्रियों को मिटाकर उसने एक नई शासक जाति बनाई। उसने अपनी प्रजा को ब्राह्मण-धर्म-रहित कर दिया। उसने कैवर्त (केवट) और अस्पृश्य पंचकों में से शासक नियत किए। मद्रक, पुलिंद, शक आदि नीच जातियों को पंजाब से लाकर उत्तर भारत में जमाया और बढ़ाया। इस प्रकार कुशाण-काल में बहुत अत्याचार हुआ। ब्राह्मण-व्यवस्था में उन्हें उच्च पद न मिलने के कारण उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और उसे बढ़ाया। गर्गसंहिता, गुणाढ्य और अल्बेरूनी इस शक अत्याचार का वर्णन करते हैं। महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८८ और १९० में भी इस काल की स्थिति का वर्णन है। इसलिये हिंदुओं को अपने को इस अत्याचार से मुक्त करना और अपने धर्म की रक्षा करना अत्यावश्यक हुआ।

भारशिवों के बड़े कार्य और उनका साम्राज्य

भारशिवों ने योगी और संहारकारी शिव की आराधना की। लोगों में यह विश्वास फैला कि स्वयं शिवजी अपने देश और अपनी प्रजा की रक्षा करने पर आरूढ़ हुए हैं। आर्यावर्त का सारा राज्य हिंदू-राज्य है, इसमें म्लेच्छ राज्य न रहने पावे। इन विचारों से प्रोत्साहित हो नाग राजा भारशिव बने और शिव का संहारकारी उद्देश्य पूरा करने पर उद्यत हुए। उनके नाम वीरसेन, स्कंदनाग,

भीमनाग, देवनाग, भवनाग—उनके विचारों और समय की आवश्यकता का बोध कराते हैं। वीरसेन के समय में कुशण लोगों को गंगा की तरैटो से निकालकर सरहिंद तक हटा दिया गया। समुद्रगुप्त के पूर्व ही पंजाब का विशेष भाग भी मुक्त कर दिया गया था। भारशिव योगी शिव के अनुयायी थे और उनके राज्य में भी सादगी थी। उन्होंने अपने लिये कुछ ग्रहण नहीं किया। प्रजातंत्र राज्यों को स्वतंत्र कर दिया और अन्यान्य छोटे राज्यों को स्वतंत्र कर उनका एक गण अपने आसपास बनाया। नाग-साम्राज्य में बौद्ध-धर्म की अवनति हुई क्योंकि वह अत्याचारी कुशण शकों का धर्म था। भारशिवों ने आर्यावर्त को स्वतंत्र कर उसमें हिंदू-धर्म की फिर वृद्धि की और चार शताब्दियों तक बंद रहने पर भी फिर दस अश्वमेध यज्ञ किए।

भारशिवों के साम्राज्य में बिहार, संयुक्तप्रांत, बुंदेलखंड, मध्यप्रांत, मालवा, राजपूताना और पूर्व पंजाब शामिल थे। नाग राजाओं की मुद्राओं में प्राकृत भाषा का उपयोग हुआ है। नागर और नागरी शब्दों का उपयोग भी तभी से आरंभ हुआ। गुप्तकाल में गाय-बैल पवित्र माने जाते हैं। इसका आरंभ नागों के समय में हुआ जान पड़ता है। कुशण लोग गाय-बैल मारते थे। भारशिवों के समय में नंदी उनका पवित्र चिह्न था। आधुनिक हिंदू-धर्म की नींव नाग सम्राटों ने डाली और उस पर गुप्त सम्राटों ने भित्ति की स्थापना की।

वाकाटक-राज्य (सन् २४८ ई० से सन् २८४ ई० तक)

वाकाटक-साम्राज्य (सन् २८४ ई० से सन् ३४८ ई० तक)

वाकाटक शिलालेखों से सिद्ध है कि समुद्रगुप्त की विजयों के कोई सौ वर्ष पूर्व इस वंश का उत्थान हुआ था। इस कुल का

प्रथम राजा विंध्यशक्ति भारद्वाजगोत्रांतर्गत विष्णुवृद्ध गोत्र का एक ब्राह्मण था और यह उसका अभिषेक का नाम था। दूसरा राजा प्रवरसेन प्रथम था जिसने चार अश्वमेध यज्ञ करके भारत-सम्राट् की उपाधि धारण की। इसका राज्य-काल इतना लंबा हुआ कि इसके पीछे इसके लड़के गौतमीपुत्र को गद्दी न मिल इसके पोते रुद्रसेन प्रथम को गद्दी मिली। स्वयं गौतमीपुत्र का विवाह भारशिव क्षत्रिय सम्राट् भवनाग की कन्या से हुआ था। रुद्रसेन प्रथम का पुत्र पृथ्वीसेन प्रथम हुआ और उसके काल तक इस कुल को सौ वर्ष हो चुके थे। पृथ्वीसेन ने कर्णाटकांतर्गत कुंतल देश को और कदंब राज्य को जीता। इसका लड़का रुद्रसेन द्वितीय हुआ जिसे चंद्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) और कुवेरनाग महादेवी की कन्या प्रभावती गुप्ता ब्याही थी। इसने अपने पति के मरने पर अपने अल्पवयस्क पुत्र युवराज दिवाकरसेन और तदनंतर दूसरे पुत्र दामोदरसेन प्रवरसेन की ओर से राज्य का भार, कोई २० वर्ष तक, सँभाला। समुद्रगुप्त ने वाकाटक-राज्य को जीत लिया था पर गुप्ताधिपत्य कबूल कर लेने पर उसने उस राज्य के अधिकार ज्यों के त्यों रहने दिए थे। उस राज्य की सीमा अजयगढ़, पन्ना के आसपास बुंदेलखंड से आरंभ होकर सारे मध्यप्रांत और बरार को घेरती हुई कोंकन के उत्तर भाग त्रिकूट को लाँघकर समुद्र तक पहुँची थी। दक्षिण कोशल, आंध्रदेश, पश्चिमी मालवा और निजाम हैदराबाद का उत्तरी भाग, ये उसके करद राज्य थे। समुद्रगुप्त के समय में इस राज्य की सीमा कुछ काल के लिये घट गई होगी परंतु वह शीघ्र ही पूर्व स्थिति को प्राप्त हो गई थी, क्योंकि पृथ्वीसेन प्रथम ने कदंब राज्य को जीतकर अपने अधीन कर लिया था।

अश्वमेध बंद होने के कोई ५०० वर्ष के पीछे पुष्यमित्र और श्री शातकर्णि प्रथम ने दो अश्वमेध यज्ञ करने की प्रथा चलाई थी पर

प्रवरसेन प्रथम ने चार अश्वमेध यज्ञ किए। इसमें उसे ४०-५० वर्ष अवश्य लगे होंगे। पुराणों में इसका राज्य-काल ६० वर्ष लिखा है। वाकाटक-राज्य की उत्पत्ति किलकिला नदी के आस-पास हुई। यह नदी पन्ना में है। वाकाटक शब्द का अर्थ 'वाकाट' या 'वकाट गाँववाला' होता है। ओरछा राज्य की टहरोली तहसील में, चिरगाँव झाँसी के पास, एक गाँव वागाट है। संभवतः यह ग्राम पुराना वाकाट है। प्रवरसेन प्रथम की राजधानी चनका नगरी थी जो कदाचित् आजकल का गंज नचना ग्राम है। यह पन्ना से २५ मील आग्नेय कोण में और नगौध से १५ मील नैर्ऋत्य में है। यहाँ पृथ्वीसेन प्रथम के समय के तीन शिलालेख मिले हैं। यहाँ के दो मंदिरों की चौखट पर गंगा-यमुना की मूर्त्तियाँ हैं जो वाकाटकों के विशेष चिह्न थे।

प्रवरसेन प्रथम और रुद्रसेन प्रथम के सिक्के मिलते हैं। विंध्यशक्ति भारशिवों के आधिपत्य में था। उसने अपनी अलग मुद्रा न चलाई होगी। पृथ्वीसेन के सिक्के भी मिलते हैं। इनके सिक्कों पर पहाड़, चक्र और पाँच शाखाओंवाला वृक्ष और दूसरी ओर वृषभ के संकेत रहते हैं।

इन राजाओं का काल-क्रम इस प्रकार ठहराया जा सकता है—

१	विंध्यशक्ति	सन् २४८ ई० से सन् २८४ ई०
२	प्रवरसेन प्रथम (प्रवीर)	सन् २८४ ई० से सन् ३४४ ई०
३	रुद्रसेन प्रथम (पुरिका और चनका में)	सन् ३४४ ई० से सन् ३४८ ई०
४	पृथ्वीसेन प्रथम (समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय का समकालीन; कुंतल का विजेता)	सन् ३४८ ई० से सन् ३७५ ई०
५	रुद्रसेन द्वितीय, प्रभावती गुप्ता से विवाहित	सन् ३७५ ई० से सन् ३९५ ई०

६ प्रभावती गुप्ता कार्यकर्त्री

(अ) युवराज दिवाकरसेन की ओर से जो लगभग १३ वर्ष की वय में मर गया।	सन् ३८५ ई० से सन् ४०५ ई० तक
(ब) और उसके भाई दामोदरसेन प्रवरसेन द्वितीय की ओर से	सन् ४०५ ई० से सन् ४१५ ई० तक
७ प्रवरसेन द्वितीय बालिग होने पर, शिलालेखों से इसका राज्यकाल कम से कम २३ वर्ष का ठहरता है।	सन् ४१५ ई० से सन् ४३५ ई० तक
८ नरेंद्रसेन नं० ७ का पुत्र, ८ वर्ष की वय में गद्दी पर बैठा, कुंतलराजकन्या अभिभ्भटा से विवाहित, कोशला, मेकला, मालवा का अधिपति।	सन् ४३५ ई० से सन् ४७० ई० तक
९ पृथ्वीसेन द्वितीय (नरेंद्र का पुत्र)	सन् ४७० ई० से सन् ४८५ ई० तक
१० उसका भाई देवसेन (भोगरत होने के कारण राज्य छोड़ दिया)	सन् ४८५ ई० से सन् ४९० ई० तक
११ उसका बेटा हरिसेन (कुंतल, अवंति, कलिंग, कोशल, त्रिकूटलाट आंध्र का विजेता)	सन् ४९० ई० से सन् ५२० ई० तक

वाकाटक-राज्यकाल के तीन बड़े विभाग हो सकते हैं—(१) साम्राज्य-काल, (२) गुप्त-समकालीन और (३) गुप्तों के पीछे का (नरेंद्रसेन से हरिसेन तथा कदाचित् और पीछे तक)।

प्रथम साम्राज्य-काल का आरंभ प्रवरसेन प्रथम से होकर रुद्रसेन प्रथम के राज्य के साथ उसका अंत हो जाता है।

वाकाटकों की रीति यह थी कि वे राज्य के विविध प्रांतों में अपने निज राजकुमारों अथवा दूसरे संबंधियों को राज्याधिकार दे देते थे। इनकी शक्ति के और केंद्र माहिष्मती (नर्मदा पर),

मेकला, कोशला और विदूर थे। माहिष्मती या माहिषी में तीन मित्र गणराज्य थे। मेकला में सन् २७५ ई० से सन् ३४५ ई० तक ७ राजा हुए। कोशला में ९ (भागवत के अनुसार सात) राजा हुए जिन्हें 'मेघ' उपाधि दी है। संभवतः ये खारवेल-वंश के रहे होंगे, क्योंकि खारवेल-कुल को महामेघ कहते थे। विदूर (निजाम का विदर) में नल-वंश का अधिकार था। पूर्वीय पंजाब में जालंधर के सिंहपुरवाले यादव-वंश के राजा थे जिन्हें भारशिव, वाकाटक और गुप्तों ने बनाए रखा क्योंकि इन्होंने कुशणों को हटाया था और ये सीमा पर थे। माद्र लोग इनके पश्चिम में थे।

वाकाटक-सम्राट् ने तीन बातें स्थापित कीं। विंध्यशक्ति चालीस वर्ष तक निरंतर लड़ता रहा और भारशिवों के साम्राज्य की वृद्धि करता रहा। उसके आदर्श और उत्साह को विरासत में पाकर प्रवरसेन प्रथम ने सारे भारत में एक हिंदू-साम्राज्य और शास्त्रों के अधिकार की स्थापना करने का निश्चय स्थापित किया। सन् २५० ई० के लगभग संस्कृत के प्रचार के विषय में एक बड़ा आंदोलन आरंभ हुआ और ५० वर्ष में उसने उस सिद्धि को प्राप्त किया जहाँ से उसे गुप्त सम्राटों ने अपनाया। 'कौमुदी-महोत्सव' नाटक सन् ३०० ई० के लगभग एक स्त्री द्वारा प्रायः एक ही बैठक में और वाकाटक-राज्य के एक करद राज्य में लिखा गया था। उससे तत्कालीन साहित्य के विकास का हाल जान पड़ता है। इस स्त्री-लेखक के ग्रंथों की संस्कृत अपनी मातृ-भाषा के समान सरल थी। संस्कृत की योग्यता में वह कालिदास और भास की बराबरी करती थी। संस्कृत तब कचहरी की भाषा बन गई थी। प्राप्त वाकाटक शिलालेख आरंभ से ही संस्कृत में मिलते हैं। प्रवरसेन प्रथम के समय ही से दस्तावेज संस्कृत में लिखे जाने लगे थे। वर्णाश्रम-धर्म पुनः स्थापित हो गया था। वाकाटक-काल की जनता कुशण-

काल के दुराचारों को धो बहाने का प्रयत्न कर रही थी। उनके शिल्प-कार्यों में गंगा-यमुना की मूर्तियाँ राज-चिह्न बन गई थीं। भारशिवों ने तो गंगा को अपनाया था। उसे विदेशियों से स्वतंत्र कर भारशिवों ने अपनी मुद्राओं में स्थापित किया था। यमुना को भी उन्होंने अपने मंदिर-शिल्प में स्थान दिया। पर वाकाटकों ने इन दोनों को अपने राजचिह्न बनाया। उन्होंने गंगा-यमुना प्रदेश में सनातन धर्म की पुनः स्थापना की। वाकाटक लोग स्वयं सुंदर आकृति के थे। अजंता के लेख में देवसेन और हरिसेन की सुंदरता का वर्णन है। वाकाटक-काल में शिल्प और चित्रण-कला की पुनः जाग्रति हुई। ये लोग सदैव शैव बने रहे। केवल प्रभावती-गुप्ता और चंद्रगुप्त द्वितीय की प्रेरणा से एक पुश्त के लिये रुद्रसेन द्वितीय वैष्णव हो गया था। वाकाटक-काल के मंदिरों में शिव के रुद्र रूप की स्थापना थी। नाग-वाकाटक-काल का खास धर्म शैव है और गुप्त-काल का वैष्णव।

लगभग सन् ४५५ ई० में नरेंद्रसेन के काल में पुष्यमित्र गण-राज्य ने बगावत का डंका बजाया। पटुमित्र और पद्ममित्र दूसरे दो मित्र राज्य इनके साथी थे। ये मांधाता के निकट पश्चिमी मालवा में कहीं थे और वाकाटकों के मातहत थे। इन्होंने वाकाटक और गुप्त-साम्राज्यों को गिराने की चेष्टा की। अपरांत (ताप्ती, पश्चिमी खानदेश और बंबई के उत्तर के समुद्र) के दहसेन त्रैकूटक ने भी बगावत के लिये सिर उठाया था। इसने विजय प्राप्त किए बिना ही अश्वमेध यज्ञ कर डाला और अपनी मुद्रा चलाई, पर नरेंद्रसेन ने शीघ्र ही इसे दबा दिया। पुष्यमित्रों को भी सन् ४५६ ई० के पूर्व ही हरा दिया गया। नरेंद्रसेन को उसके श्वशुर कुंतलाधिप की सहायता थी। नरेंद्रसेन, पृथ्वीसेन द्वितीय और हरिसेन तीनों बलवान् और सिद्धिप्राप्त राजा थे। हरिसेन के

राज्य का अंत सन् ५२० ई० के लगभग हुआ। इससे आगे का वाकाटक-वंश का इतिहास नहीं मिलता। हरिसेन के साम्राज्य में इतनी समृद्धि थी कि उसका मंत्री हस्तिभोज अजंता की १६वीं सुंदर गुफा बौद्ध भिक्षुओं को अर्पण कर सका। उसी के कुलवालों ने १३ वीं गुफा भी बनवाई थी। ये मलाबार के ब्राह्मण थे जो ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्रियों से विवाह करते थे। वाकाटक राज्य उत्तर और दक्षिण का मिलाप-स्थान था। पल्लव लोग वाकाटकों की ही शाखा के थे। वाकाटक सेना में सवारों का प्रधान और बलवान् अंग रहता था। ऐसा जान पड़ता है कि वाकाटकों का अंत चालुक्यों द्वारा हुआ होगा। पुलकेशिन् प्रथम ने सन् ५५० ई० के लगभग वातापि (बीजापुर जिले) में अश्वमेध यज्ञ किया। तभी से वाकाटकों का अंत हुआ होगा।

सन् २४८ ई० का संवत्

प्रवरसेन प्रथम के सिक्के पर संवत् ७६ लिखा है, रुद्रसेन के सिक्के पर १००। प्रवरसेन प्रथम के चार पुत्र शिकमी राजा थे। महाराज श्री भीमसेन कौशांबी का राज्यकर्त्ता कदाचित् प्रवरसेन का पुत्र था। उसके शिलालेख में संवत् ५२ लिखा है। इस संवत का आरंभ प्रवरसेन के पिता के राज्याभिषेक-काल से (सन् २४८ ई० से) हुआ जान पड़ता है। वाकाटक राजा गुप्त संवत् का उपयोग कभी नहीं करते थे। इसलिये यह वाकाटक या चेदि संवत् है जो ५ सितंबर सन् २४८ ई० को आरंभ हुआ।

मगध (सन् ३१ ई० पू० से सन् ३४० ई० तक) और गुप्तकालीन भारत सन् ३५० ई० का

काण्वों के पीछे मगध में पुराणों के अनुसार आंध्रों (सातवाहनों) का अधिकार हुआ। उनके सिक्के भीटा (जिला इला-

हाबाद) और पटना में मिले हैं। काण्वों के (सन् ३१ ई० पू०) पीछे सातवाहन पाटलिपुत्र में ५० वर्ष से अधिक न रह सके होंगे। लिच्छवि-वंशज जयदेव द्वितीय के नेपाल के शिलालेख (श्रीहर्ष संवत् १५३=सन् ७५८ ई०) में लिखा है कि जयदेव प्रथम की २३ पुश्त पूर्व उसका पुरखा सुपुष्प लिच्छवि पुष्पपुर में जन्मा था। जयदेव प्रथम का काल सन् ३३० से ३५५ ई० तक निश्चित किया गया है। इस हिसाब से प्रति पीढ़ी को १५ वर्ष देने पर सुपुष्प सन् ई० के आरंभ काल में हुआ होगा। कैडफाइसिस और वीमा कैडफाइ-सिस के उत्तर भारत के आक्रमण-काल में सातवाहन सम्राट् ने पाटलिपुत्र का त्याग किया होगा और लिच्छवियों ने उसको कुछ काल के लिये ग्रहण किया होगा। उसी सदी के अंत में कनिष्क के प्रतिनिधि वनस्पर के आने पर पाटलिपुत्र में लिच्छवियों के अधिकार का अंत हुआ होगा।

भारशिवों के समय में मगध में फिर सनातनी क्षत्रिय-कुल का अधिकार था जिसे 'कौमुदी-महोत्सव' में मगध-कुल और समुद्रगुप्त ने कोट-कुल कहा है। इन मगध राजाओं के नाम के अंत में 'वर्मन्' रहता था। इस कुल का आरंभ सन् २००-२५० ई० के लगभग हुआ होगा।

गुप्तों का प्रादुर्भाव सन् २७५ ई० के लगभग मगध में कहीं हुआ था। पिछले लेखों से जान पड़ता है कि महाराजगुप्त की जमींदारी इलाहाबाद के निकट रही होगी। उसका लड़का घटोत्कच था और उसके लड़के चंद्र ने गुप्त नाम को उपाधि में परिणत किया। चंद्रगुप्त के समय में पाटलिपुत्र का राजा सुंदरवर्मन् सु-गांग प्रासाद से राज्य करता था। खारवेल-लेख और मुद्राराक्षस में भी सु-गांग का जिक्र है। सुंदरवर्मन् वृद्ध था और उसका पुत्र बालक था। इस पुत्र के जन्म के पूर्व उसने चंद्रसेन को गोद लिया था। चंद्रसेन

ने सुंदरवर्मन् को लड़ाई में मारकर अपना राज-वंश स्थापित किया। 'कौमुदी-महोत्सव' में लिच्छवियों की गणना म्लेच्छों में हुई है और चंद्रसेन को कारस्कर जाति का बताया है। "धारण" गुप्तों की उप-जाति थी। प्रभावतीगुप्त के लेख से उसका धारण गोत्र प्रकट होता है। यह उसके पिता का गोत्र था। उसके पति का गोत्र विष्णु-वृद्ध था। कारस्कर को बौधायन नीच जाति बताता है जिनके यहाँ ब्राह्मणों को न जाना चाहिए और जिनके यहाँ से लौटने पर विशेष शुद्धि की आवश्यकता होती है। वह कारस्कर के साथ आरट्टों का वर्णन करता है। हेमचंद्र शाल्वों को कार उपत्यका के निवासी बताता है। कारपथ या कारापथ हिमालय के नीचे है। शाल्व, माद्रों की एक शाखा, स्यालकोट में थी।

एक व्याकरणकार चंद्रगोमिन एक दृष्टांत में लिखता है कि जार्त (राजा) ने हूणों को हराया। शाल्व, जार्त या जार्तिक (आज-कल के जाट) ये माद्र ही थे। इस प्रकार गुप्त पंजाब के कारस्कर जाट थे। आधुनिक कक्कर जाट उन्हीं गुप्तों की जाति के हैं। यह जाति बहुत नीची तो न रही होगी, नहीं तो सुंदरवर्मन् चंद्रसेन को गोद क्यों लेता। कारस्करों में चार जाति-भेद और वर्णाश्रम-व्यवस्था न थी, इसी से लोग इनसे नाराज थे। वनस्पर ने भी पंजाब से माद्रकों को लाकर अपना राज-कर्मचारी बनाया था।

चंद्रगुप्त प्रथम की पंजाबी पोशाक से जान पड़ता है कि उसे पंजाब छोड़े बहुत काल नहीं बीता था। संभवत: किसी भारशिव राजा ने गुप्त को बिहार और कौशांबी के बीच में कोई जमींदारी दी हो। चंद्रगुप्त से प्रजा असंतुष्ट थी और वह प्रजा को सताता था। 'कौमुदी-महोत्सव' में भी लिखा है कि उसने बड़े बड़े लोगों को कारावास में डाल दिया था। लोग उसे पितृ-घातक समझते थे। उसकी स्त्री अनार्य लिच्छवि-वंश की थी। इसलिये प्रजा ने विद्रोह

कर कुमार कल्याणवर्मन् को पंपासर से लाकर पाटलिपुत्र के सु-गांग प्रासाद में अभिषिक्त किया। चंद्रगुप्त इस समय रोहतास और अमरकंटक के बीच में शबरों से लड़ रहा था। इस घटना का समय सन् ३४० ई० के लगभग है। अभिषिक्त होने पर कल्याण-वर्मन् का विवाह मथुरा की राजकन्या से हुआ। इस प्रकार गुप्त लोग बिहार से सन् ३४० ई० से सन् ३४४ ई० तक बहिष्कृत रहे। इसका बड़ा भारी परिणाम हुआ। गुप्त लोग हिंदुओं के हिंदू-धर्म, गो और ब्राह्मण, साहित्य, भाषा, स्मृति, शिल्प, देश-संस्कृति, हिंदू भारतवर्ष की जातीय सभ्यता आदि के संरक्षक और उद्धारक बन गए। उन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाया। विष्णु की भक्ति करते करते वे स्वयं विष्णु रूप बनने की चेष्टा करने लगे। वे अपने को इस ईश्वर के भू-प्रतिनिधि मानने लगे।

सन् ३५० ई० का भारत और समुद्रगुप्त का साम्राज्य

इलाहाबाद के स्तंभ पर समुद्रगुप्त के जीवन-काल में ही उसकी जीवन-घटनाओं का लेख लिखा गया था। उसमें गुप्त-साम्राज्य के आरंभ-काल के सब राज्यों और राज्यकर्ताओं का पूरा पूरा ब्योरा है। पुराणों में उससे भी अधिक ब्योरा है। मत्स्यपुराण का वर्णन आंध्रों के पतन के समय (उनके अनुसार लगभग सन् २३८ ई०) तक ही जाता है। वायुपुराण और ब्रह्मांडपुराण इस वर्णन को आगे तक ले जाते हैं। वे विंध्यशक्ति और विदिशा, नाग और नवनाग अर्थात् भारशिवों का भी वर्णन करते हैं। विष्णुपुराण और भागवत में कुछ ऐसी बातें लिखी हैं जो दूसरे पुराणों में नहीं मिलतीं। संभवतः उनके पास इसके लिये कुछ विशेष आधार था। पुराणों के अनुसार गुप्तों के राज्य में आर्यावर्त के सिवा और तीन बड़े प्रदेश थे।

आर्यावर्त में अनुगंगा-प्रयाग, साकेत और मगध सम्मिलित थे। तीन बड़े प्रदेश यें थे—(१) दक्षिणापथ या मणिधान्य, विंध्य के

दक्षिण में जिसमें नैषध टाढुक (देवगिरि), शैशिक (माहिष्मती के निकट) और कालतोयक (गुजरात और अपरांत के मध्य में) थे; (२) कोशल, आंध्र, पौंड्र, ताम्रलिप्त, समुद्र तटस्थ देश और चंपा; (३) गुह, कलिंग, माहिषिक, महेंद्र।

इनके सिवा इन समकालीन राजाओं के भी नाम दिए हैं—

कनक जो स्त्री-राज्य, भोजक, त्रैराज्य और मुशिक राज्य का अधिपति था। मुशिक राज्य हैदराबाद और मूसी नदी के आस-पास का प्रदेश था। त्रैराज्य में चोल, पांड्य और केरल राज्य सम्मिलित थे। स्त्री-राज्य से कर्णाटक या कुंतल देश का संकेत है। कनक इस प्रकार दक्षिण का सम्राट् था। यह पुराणों का कनक कदंबकुल के मयूरशर्मन् का पुत्र कंगवर्मन् जान पड़ता है। इसे वाकाटक-वंशज पृथ्वीसेन प्रथम ने हराकर पदच्युत किया था। इसका काल सन् ३४८-३४६ ई० के आसपास का है।

आर्यावर्त और दक्षिण में समुद्रगुप्त की लड़ाइयाँ

समुद्रगुप्त की प्रथम लड़ाई अच्युत, नागसेन और गणपति नाग से हुई। इस जीत से उसके भाग्य ने फिर पलटा खाया और कोट-वंशज राजा को कैदकर वह फिर पुष्पपुर में प्रवेश कर सका। गणपति नाग धाराधीश था। अच्युतनंदी अहिच्छत्र में नाग-वंशज राजा था। नागसेन मथुरा के कीर्तिसेन का पुत्र जान पड़ता है जो मगध के कल्याणवर्मन् का श्वशुर था। यह लड़ाई कौशांबी के निकट हुई होगी जिसमें ये तीनों राजा मारे गए थे। इसका समय सन् ३४४-४५ ई० या उसके लगभग होगा और यह लड़ाई वाकाटक-सम्राट् प्रवरसेन प्रथम की मृत्यु के कुछ ही पीछे हुई होगी। समुद्रगुप्त की दक्षिण की चढ़ाई वाकाटकों की दक्षिण की शक्ति तोड़ने के निमित्त हुई थी, क्योंकि कौशांबी की लड़ाई से उनकी उत्तर की शक्ति नष्ट हो गई थी।

इसमें कांची, आवमुक्त, वेंगी (गोदावरी और कृष्णा के मध्य का देश) और पलक प्रधान व्यक्ति थे। समुद्रगुप्त ने इन शक्तियों को कोलेर झील के युद्ध में हराया। आवदेश की राजधानी पिठुंडा गोदावरी के निकट थी। पलक गुंटूर बैजवाड़ा के निकट था। इस लड़ाई का नाम कुराल की लड़ाई हो सकता है। इसका समय सन् ३४५-४६ ई० के लगभग था।

इस विजय से लौटकर समुद्रगुप्त ने यमुना और विदिशा के मध्यस्थ वाकाटकों के असल देश को जीतने का संकल्प किया। यह लड़ाई विशेषतया बुंदेलखंड में हुई। रणक्षेत्र एरन में रहा होगा। एरन सागर जिले में बीना नदी की मोड़ पर है। यहाँ समुद्रगुप्त का कीर्ति-मंदिर है। उस तिथि से एरन गुप्तों का "स्वभोगनगर" हो गया। एरन से मालवा और बुंदेलखंड दोनों ओर सरलता से पहुँच सकते हैं। पिछले गुप्तों के समय में यहाँ फिर लड़ाई हुई थी और हूणों की लड़ाई में गुप्तों का सरदार गोपराज यहाँ मारा गया था। समुद्रगुप्त की एरन की लड़ाई में रुद्रदेव मारा गया था जो रुद्रसेन प्रथम मालूम पड़ता है। इसका वर्णन पहले हो चुका है।

समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के इन राजाओं को हराया था—रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चंद्रवर्मन्, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युतनंदी और बलवर्मन्।

गणपतिनाग से बलवर्मन् तक के राजा प्रथम लड़ाई में हराए गए थे। बलवर्मन् संभवतः पाटलिपुत्र का राजा था। यह नाम कल्याणवर्मन् के अभिषेक का नाम हो सकता है। बाकी राजा दूसरे आर्यावर्त युद्ध में हराए गए थे। नागदत्त महाराज महेश्वर-नाग का पिता और एक शिकमी राजा था। इसकी नागवाली मुद्रा लाहौर के पास मिली है। मतिल बुलंदशहर जिले में राज्य करता था। चंद्रवर्मन् पूर्व पंजाब में रहा होगा। संभवतः समुद्रगुप्त

की लड़ाई नागदत्त और चंद्रवर्मन् के साथ मथुरा के पश्चिम में अलग हुई होगी। इस तृतीय आर्यावर्त-युद्ध का काल सन् ३४९-३५० ई० के लगभग होगा।

सीमाप्रांत के राजाओं और गणराज्यों की अधीनता

इन तीन युद्धों के पश्चात् समुद्रगुप्त की सीमा के राज्य भी उसके अधीन हो गए—(१) समटाट, (२) देवाक, (३) कामरूप, (४) नेपाल, (५) कर्त्तृपुर (काँगड़ा)। ये सब कर देने लगे। इस प्रकार गंगा के मुहाने से राज्य-सीमा आरंभ हो लुशाई, मणिपुर, आसाम और भूटान, शिकिम, नेपाल को घेरती हुई शिमला, काँगड़ा के उत्तर होती हुई पूर्व पंजाब तक पहुँची थी।

समुद्रगुप्त ने कई नष्ट-मुकुट राजाओं को फिर सिंहासनारूढ़ किया था। उसकी शांतिप्रिय व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि "दैव-पुत्र शाहानुशाही-शक-मुरुंड" कुशण राजा ने भी गुप्ताधिपत्य स्वीकार कर लिया और उसका काश्मीर, रावलपिंडी और पेशावर-वाला राज्य-विभाग गुप्तराज्यांतर्गत हुआ। पर शकाधिपति की शक्ति नष्ट नहीं हुई थी।

मालव, आर्युनायण, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सहसानीक, काक, खर्परिक आदि गणराज्य गुप्त-राज्य की सीमा पर न होकर उसके अंतर्गत और उसके अधीन थे। मालवगण की राजधानी कर्कोट नगर में थी जो जयपुर राज्य में है। उनके उत्तर में यौधेय भरतपुर से सतलज के नीचे के भाग तक फैले हुए थे। मालव और यौधेयों के बीच में आर्युनायण का गणराज्य था। इसके सिक्के अलवर, आगरा के निकट मिले हैं। यौधेयों के उत्तर में माद्रक लोग हिमालय तक फैले हुए थे। मद्र देश झेलम और रावी के मध्य में था। सहसानीक और काक भिलसा के पास थे।

आधुनिक काकपुर, जो भिलसा से २० मील पर है, उनका गाँव था। साँची पहाड़ को काकनाद कहते हैं। एक सहसांक महाराज ने चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में उदयगिरि पहाड़ में चंद्रगुप्त मंदिर बनवाया था। पुष्यमित्र आदि तीन मित्र-राज्य ही आभीर-गणराज्य थे और उनका स्थान पश्चिम मालवा में था। भागवत में सौराष्ट्र और अवंति के आभीरों का तथा अरवली के शूर और मालवों का स्वतंत्र गणराज्यों के रूप में वर्णन है। ये शूर ही यौधेय हैं। इनका स्थान पश्चिमी राजपूताना था। शक लोगों की गणना प्रारंभ में शास्त्रकारों ने शूद्रों में की है। वे लोग स्त्री-बालक-गो-घातक, ब्राह्मण-घातक, पर-दारा-द्रव्यहारक थे। इनका नाम यौन था न कि यवन। सिंध, अफगानिस्तान, काश्मीर इन म्लेच्छ यौनों के अधीन थे। कच्छ सिंध में ही शामिल था।

फरदर इंडिया

समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में भारतवर्ष है जिसमें भारतीय प्रजा रहती है। इस भारतवर्ष के नव भाग हैं। समुद्र से घिरे रहने के कारण वे परस्पर अगम्य हैं। इंद्रद्वीप, कसेरु, ताम्रपर्णी, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गांधर्व, वारुण और यह नवाँ भारतवर्ष ये नव भाग हैं, ऐसा वर्णन मत्स्यादि पुराणों में लिखा है। इंद्रद्वीप बर्मा या ब्रह्मदेश माना जाता है। मलय प्रायद्वीप में बुद्धगुप्त नामक एक हिंदू "महानाविक" का शिलालेख ईसा की चौथी शताब्दी का मिला है। इसलिये बहुत संभव है कि कसेरु या कसेरुमत् द्वीप से स्ट्रेट सैटिलमेंट का अर्थ हो। ताम्रपर्णी सीलोन या लंका का पुराना नाम है। नागद्वीप निकोबार टापू है। गभस्तिमान्, सौम्य, गांधर्व और वारुण से भारतीय द्वीप-समुदाय का संकेत होता है। सुमात्रा, जावा में भारतीय प्रजा चौथी शताब्दी में

उपस्थित थी। यह निश्चय है कि तृतीय और चतुर्थ शताब्दियों में पुराणों को फ़रदर इंडिया के हिंदू उपनिवेशों का हाल मालूम था और वे उनको भारतवर्ष का भाग मानते थे। इस समय भारतवर्ष में सीलोन समेत और आठ द्वीप सम्मिलित थे। समुद्रगुप्त का आधिपत्य इन सब पर था, यह बात उसके इलाहाबादवाले स्तंभ-लेख के "सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिः" शब्दों से सिद्ध होती है। इनके लिये और प्रमाण भी हैं।

समुद्रगुप्त हिंदू आदर्शों का पालन करता था। उस आदर्श के अनुसार भारत-साम्राज्य की पश्चिमी सीमा अफ़गानिस्तान थी। समुद्रगुप्त इससे आगे नहीं बढ़ा, यद्यपि उस समय की पारस देश की निर्बल अवस्था के कारण उसे वह देश जीत लेना अति सरल बात थी।

दक्षिण भारत (सन् १५० ई० से सन् ३५० ई० तक) और उत्तर तथा दक्षिण भारत का एकीकरण

पुराणों के अनुसार आंध्रों के नीचे तीन और राजवंश थे—(१) आंध्रभृत्य, ७ पुश्त और १०० या १०५ वर्ष; (२) आभीरवंश ७ या १० पुश्त, ६७ वर्ष; (३) श्रीपार्वतीय १०० या १०५ वर्ष।

आंध्रभृत्यों से उन सातवाहन खंड भूपालों का अर्थ है जिनके वंश में चुटुकुल के दो हारीतपुत्र [कन्हेरी, कानड़ा (वनवासी) और मैसूर (मलवल्ली) शिलालेखवाले] हुए। इन शिलालेखों का समय सन् २०० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता।

ये दो राजा हारीतपुत्र विष्णुस्कंद और उसकी लड़की का लड़का हारीतपुत्र शिवस्कंदवर्मन् वैजयंतीश्वर थे। चुटुकुल का

अर्थ छोटी शाखा का जान पड़ता है। ये सम्राट् सातवाहनों की छोटी शाखा के थे। पुराणों के अनुसार इनका अंत सन् २५० ई० के लगभग हुआ। इनका राज्य १०० या १०५ वर्ष चला। इसलिये उसका आरंभ सन् १५० ई० के लगभग हुआ। यह काल सातवाहनों के लिये बड़े संकट का था। रुद्रदामन् ने हिंदू-धर्म-पालन की प्रतिज्ञा की थी और उसके कारण सौराष्ट्रवालों ने उसे अपना राजा बनाया था। उसी प्रतिज्ञा (जूनागढ़ शिलालेख) से उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी क्योंकि और किसी शक राजा को प्रजा ने इस प्रकार नहीं अपनाया था। वह संस्कृत और शास्त्रों का अच्छा ज्ञान रखता था। उससे सातवाहनों को बड़ा भय था। उसने उन्हें दो बार हरा भी दिया था पर शास्त्र-मर्यादा का पालन कर उन्हें राज्यभ्रष्ट नहीं किया था। इस हार के कारण सातवाहनों को अपनी व्यवस्था बदलनी पड़ी। कदाचित् इसी कारण चुटुकुल और दूसरे अधीनस्थ राजाओं की उत्पत्ति हुई। चुटुकुल का काम पश्चिमी समुद्र-तट की रक्षा करना था। उनकी राजधानी वनवासी (कानड़ा) में वैजयंती थी। सातवाहन और यह चुटु-कुलवाले मानव्य गोत्र के ब्राह्मण थे। पल्लवों ने चुटुकुल का अंत तृतीय शताब्दी के पिछले भाग में किया।

आभीर लोग गणराज्य के थे। इनके राजा ईश्वरसेन का लेख नासिक में मिला है। उसका पिता राजा न था। उसका समय सन् २३६ ई० या सन् २३९ ई० है। आभीरों का अंत सन् २४८ ई० के लगभग हुआ। संभवतः सातवाहनों ने आभीरों का गणराज्य रुद्रदामन् से सुरक्षित रखने के लिये उसकी राज्य-सीमा पर स्थापित किया हो।

श्रीपर्वत कृष्णा नदी पर गुंटूर जिले में नागार्जुनकोंडा के निकट था। नागार्जुनकोंडा पहाड़ों से घिरा है। पहाड़ों पर दुर्ग थे।

यहाँ १८ शिलालेख पाली-प्राकृत भाषा में लिखे मिले हैं। उनमें के १५ महाचैत्य के खंभों पर हैं। नागार्जुन की मृत्यु श्रीपर्वत पर ही हुई थी। यहाँ का राजवंश इक्ष्वाकु-कुल का था। ये राजा हिंदू धर्म के थे, पर इस वंश की बहुत सी रानियाँ बौद्धमतावलंबिनी थीं। इस वंश की राजधानी विजयपुर के पास ही थी। इस वंश के राजा श्रीचाटमूल प्रथम ने अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञ किए थे। वंग, वनवास, चीनचीलाट, काश्मीर, गांधार, लंका आदि देशों के बौद्ध साधु नागार्जुन पहाड़ की यात्रा करने आते थे। संभवतः जब सातवाहनों ने उत्तर भारत के साम्राज्य को प्राप्त किया था उसी समय यह कुल उत्तर से दक्षिण को आया होगा। एक इक्ष्वाकु रानी रुद्रधर भट्टारिका महाराज उज्जयिनी की पुत्री थी। यह इक्ष्वाकुवंश पूर्व सीमा की रक्षा करता था। इस वंश का अंत सन् २७० ई० के लगभग हुआ था। इस घराने के राजा ये थे—

चाटमूल प्रथम सन् २२०–२३० ई०
पुरीशदत्त " २३०–२५० "
चाटमूल द्वितीय " २५०–२६० "

पल्लव-वंश और उसकी उत्पत्ति

जो वाकाटकों और गुप्तों ने उत्तर भारत में किया उसे पल्लवों ने दक्षिण में साधा। वाकाटकों ने उत्तर में संस्कृत का प्रचार किया और पल्लवों ने वही काम दक्षिण में किया। वाकाटकों के समान उन्होंने भी शैवधर्म को राजधर्म बनाया। गुप्तों ने जैसे वैष्णवधर्म की जड़ जमाई वैसे ही पल्लवों ने शैवधर्म को दीर्घायु दी। वाकाटकों और गुप्तों ने जैसे सारे उत्तर भारत को एक बनाया वैसे ही पल्लवों ने सारे दक्षिण भारत को एक कर दिया। यह एकता विजयनगर के समय तक चली आई। वाकाटकों और गुप्तों ने

उत्तर भारत में सुंदर इमारतें बनवाईं। वैसे ही पल्लवों ने दक्षिण में किया। उन्होंने दक्षिण में उत्तर का हिंदू-धर्म फैलाकर सारे भारत-वर्ष का एक धर्म कर दिया। जिस एकता को अशोक न साध सका था उसे पल्लव और वाकाटकों ने साध लिया। उन्होंने कांची को दूसरी काशी बना दिया और दक्षिण भारत भी उनके समय में उत्तर भारत के समान पवित्र पुण्य-भूमि बन गया। आर्यावर्त और दक्षिणापथ के बदले अब भारतवर्ष कन्याकुमारी तक फैल गया।

पल्लव लोग ब्राह्मण थे जो कठिन वीर-कार्य करके क्षत्रिय बन गए। इस वंश का आदिपुरुष वीरकूर्च था जिसने नाग-सम्राट् भारशिव नाग की कन्या से विवाह कर राजपद प्राप्त किया। आंध्र देश में इसके पूर्व कोई नाग-वंश न था। पल्लव लोग अपने सन् ३०० ई० के लेखों और दानपत्रों में अपने को भारद्वाज गोत्र के और द्रोणाचार्य तथा अश्वत्थामा के वंशधर बतलाते हैं। यही गोत्र विंध्यशक्ति का था। उनके लेखों की भाषा प्राकृत या संस्कृत है न कि द्रविड़। वाकाटकों के समान वे भी शैव थे। इन और दूसरे कई प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पल्लव वाकाटकों की एक शाखा थे। वाकाटकों का मूलग्राम वागाट अभी तक द्रोणाचार्य का ग्राम कहलाता है। इस प्रकार पल्लव न तो विदेशी थे न द्रविड़, वरं वे उत्तर के कुलीन ब्राह्मण थे जिनका व्यवसाय क्षत्रियों के सदृश था। पल्लव शब्द का अर्थ शाखा है और ये भारद्वाज-गोत्रज वाकाटक सम्राटों की शाखा थे। पल्लवों की मुद्रा में गंगा और यमुना के चिह्न हैं जो वाकाटकों की मुद्रा में भी हैं। मकरध्वज या मकरतोरण भी दोनों के समान चिह्न हैं। दोनों के यहाँ वाम ओर देखता हुआ शिव का नंदी है।

इस कुल का वंश-वृक्ष इस प्रकार है—

(१) वीरकूर्चवर्मन् कुमारविष्णु कांची में, लगभग सन् २६५-२८० ई०।

(२) स्कंदवर्मन् प्रथम=शिव, सन् २८० ई० से सन् २६५ ई०।

(३) वीरवर्मन्, लगभग सन् २६५-२६७ ई०।

(४) स्कंदवर्मन् द्वितीय=विजय, सन् २६७-३३२ ई०।

(५) पुत्र सिंहवर्मन् प्रथम, लगभग सन् ३३२-३५४ ई०।

(६) पुत्र स्कंदवर्मन् तृतीय, लगभग सन् ३४४ ई० से सन् ३४६ ई०।

(७) नं० ५ का भाई विष्णुगोप प्रथम, लगभग सन् ३४६ ई०।

(७क) पुत्र सिंहवर्मन् द्वितीय, लगभग सन् ३४६-३६० ई०।

(८) पुत्र (विजय) विष्णुगोप द्वितीय।

(९) बुद्धवर्मन्।

(१०) कुमारविष्णु।

(११) नंदिवर्मन्।

(१२) सिंहवर्मन्।

वीरकूर्च कुमारविष्णु ने सन् २६५ ई० के लगभग अश्वमेध यज्ञ किया और कांची जीती। उसके पुरुषा नाग-सम्राटों के सेनापति थे। शिवस्कंदवर्मन् ने भी अश्वमेध यज्ञ किया।

दक्षिण के शिकमी ब्राह्मण राज्य—गंग और कदंब-वंश

पल्लवों के आधिपत्य में काण्वायण ब्राह्मणों का एक राज्य स्थापित हुआ जिन्होंने अपने आदिस्थान के कारण अपना नाम गंग-वंश रखा। ये संभवतः मगध के काण्वायण राजाओं की शाखा थे क्योंकि सातवाहन उनके अंतिम राजा सुशर्मन् को कैद करके दक्षिण में ले आए थे। सातवाहन स्वयं कुछ चुने हुए ब्राह्मण-कुलों से कन्या लेते थे। इक्ष्वाकु वंश और कुछ दर्जे तक कदंब-वंश भी इसी प्रथा का पालन करते थे।

गंग-वंश का वंश-वृक्ष इस प्रकार है—

कोंकणिवर्मन् धर्माधिराज सन् ३००-३१५ ई० ।

|

माधव प्रथम महाधिराज सन् ३१५-३३० ई० ।

|

ऐयावर्मन् (अरि या हरिवर्मन्) गंगराज सन् ३३०-३४५ ई० ।

|

माधव द्वितीय, महाराज सिंहवर्मन् सन् ३४५-३७५ ई० ।

|

अविनीत कोंगणि महाधिराज (कदंब राजा ककुस्थवर्मन् की लड़की और कृष्णवर्मन् की बहन से विवाहित) सन् ३७५-३९५ ई० ।

कदंब अपने लेखों में अपने को हारीतपुत्र मानव्य बताते हैं। वनवासी आंध्र (चुटुकुल) भी हारीतपुत्र मानव्य थे। कदंब चुटु सातकर्णियों के वंशज थे। पल्लवों ने इक्ष्वाकुओं और चुटु-मानव्यों को राज्य-च्युत किया था। प्रसंग पाकर मयूरशर्मन् मानव्य ने अपने पूर्वजों के स्थान को पुनः प्राप्त कर कदंब कुल की स्थापना की। कंग उसका लड़का था। उसने ब्राह्मण उपाधि शर्मन् का त्याग कर क्षत्रिय उपाधि वर्मन् धारण की। उसके काल में कदंब राज्य ने बहुत शक्ति प्राप्त की। पुराण उसे कान या कनक कहते हैं। उसने पल्लवों को जीतने का प्रयत्न किया। स्त्रीराज्य, मुशिक, भोजक और विष्णुपुराण के अनुसार त्रैराज्य भी उसके आधिपत्य में थे। पृथ्वीसेन वाकाटक ने उसे हराकर पद-च्युत किया। उसके पीछे कदंब वाकाटक-राज्यांतर्गत बने रहे।

उपसंहार—गुप्त-साम्राज्य का फल

समुद्रगुप्त की विजयों का हाल तो सबको ज्ञात है। पर उसने इस विषय में अति नहीं की। अपने दो-तीन युद्धों के सिवा उसने बाकी विजयों को शांति और संधियों द्वारा ही प्राप्त किया। शांति द्वारा ही उसने शाहानुशाही, पर्वतस्थ देश, गणराज्य और उपनिवेशों

में अपना आधिपत्य जमाया। दक्षिण भारत और उपनिवेशों पर आधिपत्य जमाने के कारण उसके अधिकार में इतना सुवर्ण आ गया जितना भारत में उससे पूर्व कभी नहीं आया था। वाकाटकों के द्वारा दक्षिण से संबंध बना रहा और इनका अधिकार समुद्रगुप्त ने शीघ्र ही इन्हें लौटा दिया था। इसके पश्चात् इसके उत्तराधिकारी के राज्य में भी सुवर्ण की आय वैसी ही बनी रही। उसके एरनवाले लेख में लिखा है कि सुवर्ण-मुद्रा के दान करने में समुद्रगुप्त ने राम और पृथु को भी दबा दिया, उसके लड़के ने प्रजा को सुवर्ण देने में पूर्व सब ऐतिहासिक व्यक्तियों को पीछे कर दिया। चंद्रगुप्त द्वितीय की लड़की लिखती है कि मेरे पिता ने कई हजार करोड़ सुवर्ण-मुद्राओं का दान किया और इसकी पुष्टि युवानच्वांग द्वारा भी होती है। अमोघवर्ष भी अपने शिलालेख में लिखता है कि कलियुग में गुप्त राजा बड़े दानी थे।

इन राज्यों में प्रजा उदार और उच्च विचार की बन गई। प्रजा ने बड़े बड़े कार्य किए। साहित्य की बहुत वृद्धि हुई। साहित्यज्ञों ने विदेशों में अपना आधिपत्य जमाया। कुमारजीव ने अपने साहित्य-बल से चीन को जीता। वहाँ उसने बौद्ध भाष्य तथा अन्य ग्रंथ चीनी भाषा में लिखे। धर्मोपदेशक कौंडिन्य ने कंबोडिया में आर्य शिष्टाचार और आर्य सामाजिक व्यवस्था स्थापित की। कला, साहित्य, मूर्ति-कला, सबमें बड़ी उन्नति हुई। संस्कृत राज-भाषा हो गई। उसने एक नया ही स्वरूप धारण कर लिया। उसमें भी साम्राज्य की झलक दिखने लगी जैसी गुप्त-मुद्राओं और मूर्तियों में दिखती थी। गुप्तकालीन मूर्तियों में देवी और देवता वीर्यवान्, शक्तिमान् और प्रभाशाली देख पड़ते हैं।

पर इस उन्नति का बीज भारशिवों ने और विशेष कर वाकाटकों ने ही बोया था। वाकाटकों ने सारे भारतवर्ष का साम्राज्य स्थापित

किया था और शास्त्रों को उनका योग्य स्थान दिया था। सब ज्ञान और कलाओं का पुनरुत्थान सन् २४८ ई० के लगभग आरंभ हुआ था। हिंदुओं ने बौद्ध-धर्म का त्याग कर दिया था क्योंकि उससे लोग दुर्बल और पुरुषार्थहीन हो जाते थे। समुद्रगुप्त ने देवताओं के स्वामी विष्णु की भक्ति बढ़ाई। भारशिवों ने गंगा-यमुना को स्वतंत्र भारतवर्ष का संकेत बनाया था। समुद्रगुप्त ने भी इन संकेतों को अपनाया पर मस्तकों से नाग-चिह्न हटा दिए। विष्णु की भक्ति सारे भारतवर्ष में और फरदर इंडिया में फैल गई। स्त्रियों का मान बढ़ा। जैसा मान समुद्रगुप्त ने दत्तदेवी का किया वैसा और किसी ने अपनी स्त्री का नहीं किया।

---

(५) कौटिल्य-काल के गुप्तचर

[लेखक—श्री वृंदावनदास बी० ए०, एलू-एल० बी०, झाँसी]

प्राचीन भारत में गुप्तचर-विभाग राज्य-शासन का एक मुख्य अंग था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि शासन-संबंधी कोई भी विभाग गुप्तचरों की सहायता के बिना विधिपूर्वक चलता ही न था। राजकीय प्रत्येक विषय में राजा और उसके मंत्रियों को गुप्तचरों से सहायता लेनी पड़ती थी।

कौटिल्य ने गुप्तचर के लिये 'गूढ़पुरुष' शब्द का प्रयोग किया है। इसके लिये आजकल की बोलचाल का शब्द 'जासूस' है। गुप्तचर दो प्रकार के होते थे—(१) स्थायी और (२) भ्रमणशील। कौटिल्य ने इन दोनों को क्रमशः 'संस्थाः' और 'सञ्चाराः' लिखा है।

स्थायी गुप्तचर पाँच प्रकार के होते थे। उनके नाम क्रमशः (१) कापटिक, (२) उदास्थित, (३) गृहपतिक, (४) वैदेहक और (५) तापस हैं।

'कापटिक' बड़ा चतुर एवं कुशल होता था। इसमें विशेषता यह थी कि यह जिससे बात करता उसके हृदय में घुसकर उसके मन का हाल जान लेता था[1]।

'उदास्थित' को राज्य द्वारा बहुत सा धन तथा शिष्य मिलते थे। अनेक साधनों से सुसज्जित होकर 'उदास्थित' कृषि, पशु-पालन एवं वाणिज्य आदि करता था। इस प्रकार अनेक उद्योग-धंधों द्वारा उपार्जित धन से 'उदास्थित' बहुत से परिव्राजकों का निर्वाह करता

(१) परमर्मज्ञः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः।

था। जो परिव्राजक गुप्तचर की वृत्ति ही ग्रहण करना चाहते थे उनको 'उदास्थित' कार्य में संलग्न करता था।[१]

कृषक की वृत्ति से गिरे हुए परन्तु पवित्र आचरणवाले गुप्तचर को 'गृहपतिक' कहते थे।[२] इस गूढ़पुरुष को भी बहुत सी भूमि कृषि के लिये दी ज़ाती थी। उसी भूमि पर वह कृषि करके धनोपार्जन करता था तथा उस धन से 'उदास्थित' की भाँति अनेक गुप्तचरों का पालन करता था।

अपनी वृत्ति से पतित परंतु प्रतिभाशाली एवं शुद्ध व्यवसायी गूढ़पुरुष को 'वैदेहक' कहते थे।[३] यह भी राज्य द्वारा प्राप्त किए हुए धन एवं भूमि से व्यवसाय करके धनोपार्जन करता तथा उस धन से 'उदास्थित' और 'गृहपतिक' की भाँति अपने नीचे अनेक गुप्त-चर नियत करता था।

पाँचवाँ गूढ़पुरुष 'तापस' नगर के बाहर एक तपस्वी की भाँति रहता था।[४] वह जनता के सम्मुख एक मास अथवा दो मास में एक बार आहार करता था। परंतु अप्रकट रूप से वह सब कुछ नित्य खा लेता था। 'वैदेहक' और 'गृहपतिक' उसके शिष्य बन जाते तथा उसको "असौ सिद्धस्सामेधिकः" कहकर घोषित करते। अपने भविष्य को जानने के अभिप्राय से आए हुए व्यक्तियों से यह छद्मवेषी सिद्धराज शासन-संबंधी बातों तक की घोषणा कर देते। जिन मनुष्यों को उनकी वीरता, योग्यता अथवा राजभक्ति के लिये

---

(१) प्रव्रज्याप्रत्यवसितः प्रज्ञाशौचयुक्त उदास्थितः।

(२) कर्षको वृत्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिकव्यंजनः।

—कौटिलीय अर्थ० १ अधि० ११ अध्याय।

(३) वाणिजको वृत्तिक्षीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो वैदेहकव्यंजनः।

(४) मुंडो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यंजनः।

—कौटिलीय अर्थ० १ अधि० ११ अध्याय।

राज्य की ओर से पुरस्कार दिया जाने को होता उनके विषय में यह भविष्यद्वक्ता गुप्त रीति से राजा से परामर्श करके पहले ही से घोषणा कर देते।

इन पाँचों प्रकार के गुप्तचरों का कार्यक्षेत्र भिन्न भिन्न था। 'वैदेहक' दुर्गों में, 'तापस' दुर्ग के बाहरी भागों में, 'कर्षक' और 'उदास्थित' देहात में और वनवासी गुप्तचर वन में रहते थे।[1]

गुप्तचरों की इन पाँचों संस्थाओं को राजा द्वारा यथेष्ट धन-मान मिलता था। ये राज्य-कर्मचारियों के आचरण का पता लगा देते थे और इसके वेतन-स्वरूप इनको राजा की ओर से प्रचुर धन एवं सम्मान मिलता था।[2]

भ्रमणशील गुप्तचर चार प्रकार के होते थे—(१) सत्रिन्, (२) तीक्ष्ण, (३) रसद, (४) भिक्षुकी। 'सत्री' हस्तलाघव, अंतरचक्र, इंद्रजाल और जादूगरी आदि में कुशल होता था। 'तीक्ष्ण' नामक गुप्तचर बड़े वीर होते थे जैसा कि उनके नाम से ही प्रकट है। वे निर्भयतापूर्वक बड़े वीभत्स जंगली पशुओं से भी मुकाबिला कर सकते थे। 'रसद' बड़े आलसी, कुटिल एवं मित्रों का भी अहित करने में न चूकनेवाले होते थे। 'तीक्ष्ण' तथा 'रसद' आवश्यकता पड़ने पर गुप्त रीति से अनेक हत्याएँ कर डालते थे। किसी मनुष्य को विष देना, किसी के गृह में अग्नि लगा देना उनके बाएँ हाथ का खेल था। 'भिक्षुकी' एक सम्मान्य स्त्री थी जिसका अंतःपुर

---

(१) दुर्गेषु वाणिजस्संस्था दुर्गान्ते सिद्धतापसाः।
कर्षकोदास्थिता राष्ट्रे राष्ट्रान्ते व्रजवासिनः॥
कौटि० अर्थ० १ अधि० १२ अध्याय।

(२) पूजिताश्चार्थमानाभ्यां राज्ञा राजोपजीविनाम्।
जानीयुः शौचमित्येताः पंच संस्थाः प्रकीर्तिताः॥
कौटि० अर्थ० १ अधि० ११ अध्याय।

में प्रवेश था। गृहस्थों के घरों में, जहाँ पुरुषों की गति नहीं हो सकती यह प्रवेश कर लेती तथा वहाँ का अंतर्गत वृत्तांत ले आती।

स्थायी गुप्तचरों (संस्थाः) को भ्रमणशील गुप्तचरों (संचाराः) से अधिक वेतन मिलता था। यद्यपि इन दोनों प्रकार के गुप्तचरों का कार्यक्षेत्र भिन्न था तथापि ये लोग परस्पर मैत्रीपूर्वक कार्य करते थे। कौटिलीय समस्त गुप्तचरों का नाम उनके वेषों, गुणों और कार्य्यों को दृष्टि में रखकर दिया गया है। इनका छद्मवेष अनेक प्रकार का होता था। ये कुवड़े, बौने, बहिरे, गूँगे, अंधे, जड़, नट, नर्तक, गायक, वादक आदि चाहे जो कुछ बन जाते थे।

बहुधा कार्य-विशेष के करनेवालों में उसी कार्य में दक्ष एक गुप्तचर रखा जाता था जिससे कि वह उस काम को करता हुआ उस विभाग के कर्मचारियों का संपूर्ण वृत्तांत जान ले। जैसे, रसोइयों में एक रसोइया, खाट बिछानेवालों में एक खाट बिछानेवाला, पाँव दाबनेवालों में एक पाँव दाबनेवाला, भिश्तियों में एक भिश्ती गुप्तचर नियत किया जाता था। 'भिक्षुकी' भ्रमणशील चरों द्वारा संगृहीत समस्त समाचार को 'संस्थाओं' के समीप पहुँचा देती थी। स्थायी गुप्तचर भी इन समाचारों की पुष्टि के निमित्त अपने निजी गुप्तचर भेजते थे।[1]

यों तो राजकीय प्रत्येक विभाग में ही गुप्तचरों का कार्य महत्त्वपूर्ण था परंतु फिर भी कुछ विभागों में गुप्तचरों द्वारा किए हुए कार्य का संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर किया जाता है।

(१) राजकीय अनेक विभागों में नियुक्त नव-अमात्यों[2] की राज्यभक्ति एवं जनता के प्रति उनके व्यवहार की परीक्षा करना।

---

(१) संस्थानामंतेवासिनः संज्ञालिपिभिश्चारसंचारं कुर्युः।
कौटि० अर्थ० १ अधि० १२ अध्याय।

(२) नये नियुक्त किए हुए अधिकारी, जिनको उपधाओं में उत्तीर्ण होने पर ही अधिकार दिए जाते थे।

गुप्तचर इन नव-नियुक्त अमात्यों के मार्ग में अनेक प्रलोभन रखकर उनको पथ-विचलित करने की चेष्टा करते। यह प्रलोभन "धर्म, अर्थ, काम और भय" संबंधी चार प्रकार के होते थे। इनको कौटिल्य ने क्रमशः धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा कहा है। इन्हीं उपधाओं द्वारा नव-अमात्यों की शुद्धि की जाती थी। जो अमात्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते उन्हीं को उच्च पद मिलता था।

धर्मोपधा द्वारा परीक्षा की जाने का दृष्टांत इस प्रकार है,—किसी कारणवश किसी पुरोहित को राजा पृथक् कर देता था। यह पुरोहित छद्मवेषी गुप्तचर ही होता था। इस प्रकार निकाला हुआ पुरोहित कुछ साथियों के साथ अन्य मंत्रियों के समीप जाकर कहता, "यह राजा अधार्मिक है, हम सबको उचित है कि इसके स्थान पर एक अन्य कुलीन और धर्मात्मा राजा स्थापित करें।" यदि इस पर वह सहमत न हुआ तो उसको अमात्य नियुक्त किया जाता था।

इसी प्रकार पृथक् किया हुआ एक छद्मवेषी सेनापति प्रत्येक अमात्य को धन-प्राप्त्यर्थ राजा का वध करने के लिये भड़काता था। इस लोभ का प्रतिकार करनेवालों को ही पवित्र आचरणयुक्त समझा जाता था। इसको अर्थोपधा कहते थे।

कोई संभ्रांत, लब्धप्रतिष्ठ, अंतःपुर में प्रवेश करनेवाली महिला मंत्रियों में से प्रत्येक के पास जाती और कहती, "अमुक रानी तुमसे प्रेम करती है, उसको प्रसन्न करने पर वह तुम्हें अतुल धन-संपत्ति से संतुष्ट करेगी।" इस प्रस्ताव को ठुकरानेवाले सदाशय और सच्चरित्र समझे जाते थे। इसको कामोपधा कहते थे।

इसी प्रकार भयान्वित करके पथ-भ्रष्ट करने की चेष्टा करने को भयोपधा कहते थे।

धर्मोपधा द्वारा परीक्षित अमात्यों को न्यायालयों में, अर्थोपधा द्वारा शुद्ध ठहराए हुए अमात्यों को 'सन्निधातृ'[1] अथवा 'समाहर्तृ'[2] के नीचे, कामोपधा की कसौटी पर ठीक उतरे हुए अमात्यों को अंतःपुर की रक्षा पर तथा भयोपधा के विजेता-अमात्यों को राजा के निकटवर्ती किसी पद पर नियुक्त किया जाता था।[3] सभी प्रलोभनों के विजेता को प्रधान मंत्री का पद दिया जाता था तथा उन व्यक्तियों को, जो किसी भी आकर्षण का निरोध न कर सकते थे, मजदूरी करने के लिये खानों और वनों में नियुक्त किया जाता था।

एक एक अमात्य पर, एक दूसरे को न जाननेवाले, अनेक गुप्तचर लगाए जाते थे। कम से कम तीन गुप्तचरों की समान-सूचना होने पर कार्रवाई की जाती। 'त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः।'

(२) विभिन्न विभागाध्यक्षों एवं उनके अधीनस्थ कर्मचारियों के आचरण (शौचाशौच) की परीक्षा करना। राजकीय कर्मचारियों के लिये शास्त्रों में 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। कौटिल्य के मतानुसार तीर्थ १८ होते थे। वे क्रमशः (१) प्रधानमंत्री, (२) पुरोहित, (३) सेनापति, (४) युवराज, (५) दौवारिक, (६) प्रशास्तृ, (७) अंतर्वंशिक, (८) समाहर्तृ, (९) सन्निधातृ, (१०) प्रदेष्टृ, (११) नायक, (१२) पौरव्यावहारिक, (१३) कार्मांतिक,

---

(१) सन्निधातृ कौटिल्य-कालीन एक उत्तरदायी अधिकारी होता था।

(२) समाहर्तृ भी उस काल का एक उत्तरदायी अधिकारी था। यह अधिकारी आधुनिक 'कलक्टर' के समान था।

(३) तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकंटकशोधनेषु स्थापयेत्।
अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्तृसन्निधातृनिचयकर्मसु।
कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यंतरविहाररक्षासु।
भयोपधाशुद्धानासन्नकार्येषु राज्ञः।

कौटि० अर्थ० १ अधि० ११० अध्याय।

(१४) मंत्रपरिषदध्यक्ष, (१५) दंडपाल, (१६) दुर्गपाल, (१७) अंतपाल, (१८) आटविक थे। राज्य का संपूर्ण कार्य इन १८ पदाधिकारियों द्वारा ही संपादित होता था। स्थायी तथा भ्रमण-शील गुप्तचर इन अधिकारियों की दिनचर्या एवं कार्यों पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि रखते थे।

(३) नागरिकों और देहातियों[1] का वृत्तांत जानना। गुप्त-चरों द्वारा जनता में प्रचार किया जाता था कि राजा में अनेक गुण हैं, राज्यशासन बड़ा न्यायपूर्ण है, बड़े छोटे में कोई भेद नहीं है। आतंक अथवा अन्याय है ही नहीं। शास्त्रानुसार उचित रूप से लिए हुए कर को राजा प्रजा के रक्षार्थ व्यय करता है। इस प्रकार जनता में राज्य-भक्ति के भावों का प्रसार किया जाता। राज्य में प्रचलित अपवादों अथवा किंवदंतियों को गुप्त-चर मालूम करते थे। वे विशेष रूप से इस बात का ध्यान रखते थे कि राज्य में अराजकता तो नहीं है।

कौटिल्य के निम्न-लिखित दो वाक्यों से ही जनता के प्रति राजा के गुप्तचरों का व्यवहार बहुत स्पष्ट हो जाता है—

'तुष्टानर्थमानाभ्यां पूजयेत्।

अतुष्टान् सामदानभेददंडैस्साधयेत्।'

कौटिल्य के कथनानुसार असंतुष्ट प्रजाजन चार प्रकार के होते थे। (१) क्रुद्धवर्ग, (२) भीतवर्ग, (३) लुब्धवर्ग, (४) मानिवर्ग। गुप्तचर क्रुद्धवर्ग से कहते कि धैर्य रखो, सब ठीक हो जायगा। भीतवर्ग को इस प्रकार समझाते कि वह और भी भया-न्वित हो जावे और ऐसा होने पर उसको दूसरे देश अथवा राज्य में

---

(१) कौटिल्य ने नागरिकों और देहातियों के लिये 'पौर' 'जानपद' शब्दों का क्रमशः प्रयोग किया है।

जाने को कहते। लुब्धकों को यह कहते, "यह राजा नीचों को धन देता है, और उनको ही विशिष्ट अधिकार प्रदान करता है। तुमको चाहिए कि किसी अन्य दानशील राजा के देश में जाकर रहो।" मानिवर्ग से कहते, "यह राजा नीचों को ही सम्मानित करता है अतः तुम्हारे जैसे उच्चाशय और सज्जन पुरुषों की गति यहाँ कहाँ है? अतः तुमको चाहिए कि किसी अन्य देश में जाकर रहो।"

राजद्रोहियों के प्रति गुप्तचरों का बड़ा नृशंस व्यवहार था। भ्रमणशील गुप्तचर (संचाराः) विद्रोहियों को नाना प्रकार की यातनाएँ देते तथा बहुतों का गुप्तरीति से वध करते अथवा करा डालते थे।

(४) समीपवर्ती राजाओं तथा शत्रु, मित्र, मध्यम अथवा तटस्थ राष्ट्रों का वृत्तांत जानना। गुप्तचर समीपवर्ती राजाओं का ही नहीं वरन् उनके १८ तीर्थों (अधिकारियों) का हाल भी मालूम करते थे।[१] निकटस्थ राज्यों की आर्थिक अथवा सैन्य-संबंधी स्थिति को दृष्टि में रखकर ही स्वराष्ट्र का समुचित प्रबंध किया जाता था। इन राष्ट्रों में कुबड़े, बौने, षंढ, शिल्पवती स्त्री, मूक तथा अनेक प्रकार के गुप्तचर वहाँ का वृत्तांत जानने के लिये नियुक्त किए जाते थे।

अंतर्गृहचरास्तेषां कुब्जवामनषण्ढकाः।
शिल्पवत्यः स्त्रियो मूकश्चित्राश्च म्लेच्छजातयः॥ (कौटि० अर्थ०)

(५) दूसरे राष्ट्रों द्वारा नियुक्त किए गए गुप्तचरों को स्थानीय गुप्तचर ढूँढ़ते थे। जिस प्रकार का गुप्तचर होता उसको उसी प्रकार के गुप्तचर ढूँढ़ लेते थे।[२]

---

(१) एवं शत्रौ च मित्रे च मध्यमे चावपेच्चरान्।
उदासीने च तेषां च तीर्थेष्वष्टादशस्वपि॥
कौटि० अर्थ० १ अधिकरण १२ अध्याय।

(२) परस्य चैके बोद्धव्याः तादृशैरेव तादृशाः।
चारसंचारिणस्संस्था गूढाश्चागूढसंज्ञिता॥
कौटि० अर्थ० १ अधि० १२ अध्याय।

(६) यदि एक शक्ति-संपन्न राजा किसी निर्बल राजा पर आक्रमण करता तो वह निर्बल राजा गुप्त उपायों द्वारा उसको परास्त करने की चेष्टा करता। ये गुप्त उपाय गुप्तचरों द्वारा ही प्रयोग में लाए जाते।

(७) युद्ध के समय भी गुप्तचरों की बड़ी आवश्यकता रहती थी। वे उस समय ज्योतिषी बन जाते तथा अपने पक्षवाले सैन्यदल से कहते कि तुम्हारी विजय होगी। परपक्ष में प्रवेश करके अनेक कूट उपायों से वहाँ की सेना में परस्पर वैमनस्य करा देते।

(८) ऐसे गुप्तचर भी होते जो दूसरे राज्य में किसी पद पर नियुक्त होते हुए वहाँ का गुप्त वृत्तांत अपने देश में पहुँचाते। इन गुप्तचरों को उभय-वेतन कहते थे।

(९) परिगणना के संबंध में उसकी सत्यता का निर्णय करना। गुप्तचर 'स्थानिकों' तथा 'गोपों' द्वारा तैयार किए हुए लेखों की प्रामाणिकता की गुप्तरीति से परीक्षा करते थे।

(१०) दूसरे राज्य से आए हुए गुप्तचरों को कार्य न करने देना तथा उनको पकड़वा देना।

(११) राजा की शरीर-रक्षा इन्हीं गुप्तचरों पर निर्भर थी।

तत्कालीन गुप्तचरों और अर्वाचीन गुप्तचरों में थोड़ा सा भेद था। आजकल के गुप्त-चर शासन की सुविधा के लिये केवल सब प्रकार की समाचार-सामग्री ही संग्रह करते हैं परंतु उस काल में वे इसके अतिरिक्त कुछ कार्य भी करते थे। वे राजा के शत्रुओं तथा राजद्रोहियों को अनेक प्रकार की यातनाएँ पहुँचाते अथवा उनका निर्दयतापूर्वक गुप्त रीति से वध कर डालते थे। आजकल के गुप्तचर राज्यद्रोहियों का केवल पता ही चला सकते हैं, वे अपने निश्चयानुसार उनका वध नहीं कर सकते और न उनको उनकी राज-द्रोहिता के कारण स्वयं किसी प्रकार का दंड ही दे सकते हैं। दंड देने का कार्य तो आजकल न्यायालयों को ही है।

---

(६) कौटिल्य का धन-वितरण और समाज

[लेखक—श्री भगवानदास केला, वृंदावन]

इस लेख में हम यह विचार करना चाहते हैं कि भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र'-रचयिता आचार्य कौटिल्य के समय में—अब से लगभग सवा दो हजार वर्ष पूर्व—धन-वितरण की दृष्टि से भारतीय समाज की क्या स्थिति थी, और कौटिल्य ने इसके संबंध में कैसे कैसे नियम निर्धारित किए थे। पहले धन-वितरण के महत्त्व का विचार कर लें।

धन-वितरण का महत्त्व; आधुनिक असमान वितरण—धन-वितरण का प्रश्न समाज के लिये कितने महत्त्व का है, इस विषय में, संक्षेप में, यह कह देना पर्याप्त है कि इसके हल होने पर ही समाज का बहुत कुछ सुख-दुख निर्भर है। आजकल चारों ओर जो कलह या अशांति का साम्राज्य है, उसका एक मुख्य कारण धन-वितरण की असमानता है। धनवान् देशों में प्राय: थोड़े से आदमी बेहद धनिक हैं, तो असंख्य जनता जीवन-निर्वाह के साधारण साधनों से भी वंचित है। कृषि-प्रधान स्थानों में दरिद्र, रोग-ग्रसित किसानों और लोभी जमींदारों के झगड़े नित्य की घटनाएँ हैं। औद्योगिक केंद्रों में मजदूरों और पूँजीपतियों का संघर्ष अधिकाधिक विकराल रूप धारण करता जाता है। मशीनों ने बेकारी बहुत बढ़ा दी है। उधर कारखाने के मालिक श्रमजीवियों को कम से कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक काम लेना चाहते हैं। मजदूर देखते हैं कि जहाँ हमें प्रतिदिन पाँच सात आने मिलते हैं, पूँजीपति को इससे सैकड़ों गुना लाभ या बचत रहती है,

वह अधिकाधिक धनवान् होता जाता है और हम दिन पर दिन अधिक ऋण-ग्रस्त और संकटापन्न होते जाते हैं। वे राज्य का ध्यान इस ओर दिलाने की चेष्टा करते हैं, और यथेष्ट व्यवस्था न होने पर संगठित आंदोलन तथा व्यापक हड़ताल करते हैं। ऐसी बातों से, बहुत से देशों की कुल धन-राशि बहुत बढ़ी-चढ़ी होने पर भी सर्व-साधारण की सुख-शांति दुर्लभ हो रही है।

प्राचीन व्यवस्था; पूँजीवाद का अभाव—प्राचीन भारत में ऐसा न था। इसका एक मुख्य कारण यह था कि उस समय यहाँ पूँजीवाद का अभाव था। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करनेवाले कल-कारखाने नहीं थे, गृह-शिल्प का खूब प्रचार था। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र से ज्ञात होता है कि यद्यपि उस समय भी भिन्न भिन्न व्यवसाय-संघों में बहुत से आदमी मिलकर काम करते थे, तथापि उनमें स्वामी भृत्य का संबंध न था, सब समान थे। हाँ, राज्य के कारखानों में मजदूर माल तैयार करके अधिकारियों के हवाले कर देते थे, परंतु उन्हें अपने भरण-पोषण की चिंता नहीं करनी पड़ती थी; उनके भोजनादि का सामान राज्य से मिलता था। कौटिल्य ने प्रत्येक श्रमजीवी के लिये, नकद वेतन के अतिरिक्त, निश्चित परिमाण में 'भक्तान्न' या भत्ते की व्यवस्था की है।

व्यापार का नियंत्रण—आजकल बिक्री के पदार्थों पर अधिक से अधिक मुनाफा लेकर धन संग्रह करना व्यापार-कुशलता का लक्षण समझा जाता है। कौटिल्य को यह बात पसंद नहीं थी। वह व्यापार का उद्देश्य धनोपार्जन करना नहीं, सार्वजनिक हित समझता था। उसके विचार से अ-मर्यादित मुनाफा लेना चोरी और डकैती के समान था। उसने ऐसा मुनाफा लेनेवाले व्यापारियों को 'चोर न कहे जानेवाले चोर' की संज्ञा दी है। उसने वस्तुओं के मूल्य, मुनाफे की निर्धारित दर के अनुसार, निश्चित

करने का आदेश किया है, जिससे लोभी व्यापारी भोले-भाले ग्राहकों को न ठग सकें। कौटिल्य साधारणतया तैयार वस्तुओं की बिक्री से होनेवाला लाभ उनकी लागत का पाँच प्रति सैकड़ा, और विदेश से आनेवाली वस्तुओं से दस प्रति सैकड़ा निश्चित करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य कौटिल्य व्यापारियों के बहुत अधिक धनवान् होने, तथा समाज में व्यापार द्वारा धन का असमान वितरण होने का मार्ग यथासंभव बंद कर देता है।

समानता का भाव—प्राचीन काल में यदि कोई व्यक्ति औरों की अपेक्षा अधिक धनवान् हुआ भी तो वह अपना धन समाज के हितार्थ ही तो खर्च करता था। वह सर्व-साधारण के लिये शिक्षा, स्वास्थ्य, तथा अन्य सुविधाओं के लिये अनेक प्रकार के आयोजन करता था। जब धनवानों को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ या ऐश्वर्य के लिये धन संचित करने की तृष्णा न हो, जब वे गुरुकुलों में अन्न आदि भिजवावें, तीर्थों में 'सदाव्रत' खोलें, स्थान स्थान पर कुएँ अतिथिशाला या धर्मशाला आदि बनवाएँ, और सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने के लिये सर्व-साधारण से मिलने जुलने में संकोच न करें, तो किसी को उनसे ईर्ष्या क्यों हो! यह कहावत कि 'घी गिरा तो चावलों में ही तो गया' उस समय पूर्णतया चरितार्थ होती थी। सर्व-साधारण को संतोष रहता था कि धनवानों के पास गया हुआ धन आखिर हम सभी के काम तो आता है।

यद्यपि उपर्युक्त बातें प्रायः लोगों की स्वेच्छा से ही होती थीं, तथापि तत्कालीन नियम भी जनता को इस ओर सावधान रहने की प्रेरणा करते थे। कौटिल्य ने 'नागरिक' अर्थात् नगराधिकारी के कार्यों के प्रसंग में लिखा है कि 'जो पुरुष अत्यधिक व्यय करनेवाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाला हो उसकी सूचना 'गोप' अथवा 'स्थानिक' अधिकारी को दी जाय।' इससे स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ,

ऐश्वर्य या भोग-विलास आदि में अधिक व्यय करने को कौटिल्य एक अपराध मानता है और इस प्रकार धन वितरण की असमानता के अनिष्टकारी प्रदर्शन को रोकता है।

प्राचीन संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था—प्राचीन संस्कृति भी ऐसी थी कि वह धन-वितरण की असमानता को रोकती थी तथा उसे कष्टप्रद नहीं होने देती थी। उस समय धन की विशेष प्रतिष्ठा नहीं थी; प्रतिष्ठा थी गुणों की। हर एक आदमी रुपये पैसे के पीछे नहीं दौड़ता था। धन के लिये जुआ, सट्टा, फाटका, झूठा मुकद्दमेबाजी और छल कपट नहीं करता था। इसका एक कारण यहाँ की प्रचलित वर्ण-व्यवस्था थी, जिसका कौटिल्य ने समर्थन ही किया है। तदनुसार समाज का सर्वोपरि अंग ब्राह्मण थे, जो निर्धनता का जीवन बिताते हुए भी राज-दर्बार तक में सम्मानित थे। यही नहीं, वे अपने परामर्श से राज-कार्य का संचालन तक कराते थे। ब्राह्मणों से नीचे, दूसरा दर्जा क्षत्रियों का था। ये भी देश-रक्षा के महत्त्व-पूर्ण कार्य में योग देने के लिये समाज में आदर-मान के अधिकारी होते थे, धन के कारण नहीं।

जिस वैश्य वर्ग का कार्य धनोत्पादन करना था, और जो प्रायः धनवान् होता था, उसका प्राचीन समाज में प्रथम नहीं, द्वितीय भी नहीं, तृताय स्थान था। फिर, जब ये अपने उपार्जित धन का उप-योग सर्व-साधारण के हितार्थ करते रहते थे तो किसी को इनके धन से डाह होना अस्वाभाविक ही था। शूद्र शारीरिक श्रम से अपना निर्वाह करते थे, और जैसा कि पहले कहा गया है, उस समय श्रम-जीवियों को आजकल की तरह भोजन-वस्त्र का अभाव नहीं रहता था; कौटिल्य ने 'भक्तान्न' की व्यवस्था करके उन्हें इस विषय में निश्चिंत कर रखा था।

सारांश—इस प्रकार, कौटिल्य के समय में, तथा उसके नियमों के अनुसार, देश में गृह-शिल्प का पर्याप्त प्रचार था; पूँजीवाद का अभाव था, धनवानों की अपने अन्य बंधुओं से यथेष्ट सहानुभूति थी, तथा ऐसी संस्कृति और वर्ण-व्यवस्था थी जिसमें धनहीन व्यक्ति भी अपने गुणों के कारण यथेष्ट मान-प्रतिष्ठा पाते थे। धन का वितरण बहुत कुछ समान था, और जो थोड़ी बहुत असमानता थी वह लोगों में असंतोष पैदा करनेवाली या उन्हें कष्ट देनेवाली नहीं होती थी। सर्व-साधारण का जीवन सुखी और शांतिमय था।

---

(७) राजस्थानी साहित्य और उसकी प्रगति

[लेखक—श्री पुरुषोत्तमदास स्वामी, विशारद, बीकानेर]

राजस्थानी भाषा उस भाषा को कहते हैं जो आजकल राजस्थान, मालवा, दक्षिण हिसार और भिवाणी में बोली जाती है। राजस्थानी के नाम से प्रतीत होता है कि यह नाम प्राचीन नहीं बल्कि आधुनिक है। राजस्थानी डिंगल, मारवाड़ी या राजपूतानी के नाम से भी प्रसिद्ध है। डिंगल नाम प्राचीन जान पड़ता है। मारवाड़ी यह नाम भ्रामक है। मारवाड़ी शब्द का राजस्थानी भाषा के लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता; क्योंकि यह राजस्थानी की एक शाखा मात्र है। राजस्थान राजपूताना भी कहलाता है अतः वहाँ की बोली का नाम स्वभावतः राजपूतानी हो सकता है।

राजस्थानी बहुत प्राचीन भाषा है। इसकी उत्पत्ति अपभ्रंश से हुई है। भाषाएँ सदा बदलती रहती हैं। संस्कृत से प्राकृत और पाली की उत्पत्ति हुई तथा प्राकृत से अपभ्रंश की। जब साहित्यिक भाषा व्याकरण से जकड़ दी जाती है तब वह बंधन उसके लिये घातक सिद्ध होता है। बोलचाल की भाषा अपनी स्वच्छंद गति से चलती रहती है। अपभ्रंश से क्रमशः राजस्थानी, गुजराती एवं व्रजभाषा की उत्पत्ति हुई। राजस्थानी अपभ्रंश की जेठी बेटी है अतः यह सबसे अधिक पुरानी है। राजस्थानी का उत्पत्ति-काल दसवीं शताब्दी माना जाता है।

सुविधा के लिये हम राजस्थानी को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

प्राचीन राजस्थानी—(डिंगल भाषा)—१०वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक।

माध्यमिक राजस्थानी—(डिंगल तथा जन-प्रचलित राजस्थानी)-१६वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक।

आधुनिक राजस्थानी—(जन-प्रचलित राजस्थानी)—१६वीं शताब्दी से वर्त्तमान समय तक।

जब तक व्रज भाषा की उत्पत्ति नहीं हुई तब तक राजस्थानी ही युक्तप्रांत, मध्यभारत आदि प्रदेशों में बोलचाल की भाषा रही। यही कारण है कि कबीर की कविता में राजस्थानी की झलक साफ दिखाई देती है। कबीर की कविता को राजस्थान प्रांत के लोग युक्तप्रांतवालों की अपेक्षा आसानी से समझ सकते हैं। उस भाषा का नाम अवश्य ही राजस्थानी नहीं था—हो भी नहीं सकता; क्योंकि वह राजस्थान तक तो परिमित थी नहीं। उसका प्राचीन नाम क्या था या था ही नहीं, यह बात अभी तक प्रकाश में नहीं आई। संभव है, खोज करने से पता चल जाय।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, डिंगल नाम कुछ प्राचीन मालूम पड़ता है। संभव है, प्रारंभ से यही नाम रहा हो। अब हमें देखना यह है कि इसका डिंगल नाम क्यों पड़ा और इसका अर्थ क्या है। कई विद्वानों का मत है कि डिंगल शब्द निरर्थक है तथा परवर्त्ती भाषा व्रज के पिंगल नाम से तुक मिलाने के लिये इस शब्द की सृष्टि की गई। पर हम इससे सहमत नहीं। राजस्थानी भाषा व्रज से कहीं प्राचीन है अतः केवल नाम-साम्य के लिये डिंगल शब्द की सृष्टि होना हमें तो कम से कम जँचता नहीं। उस पर भी पिंगल शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं जिसके कारण वह किसी भाषा का नाम हो सके। पिंगल छंदःशास्त्र को कहते हैं। क्या व्रजभाषा में छंदःशास्त्र ही का वर्णन है? क्या यह नहीं हो सकता कि डिंगल के आधार पर पिंगल शब्द की रचना हुई हो? डिंगल डिम् + गल से बना है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि है तथा

गल का गले से तात्पर्य है। डमरू की ध्वनि रणचंडी का आह्वान करती है तथा वह वीरों को उत्साहित करनेवाली है। डमरू वीर-रस के देवता महादेव—प्रमथ—का बाजा है। गले से जो कविता निकलकर डिम् डिम् की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे उसी को डिंगल कहते हैं। राजस्थानी साहित्य—विशेषकर डिंगल साहित्य—में ऐसी ही वीररस-पूर्ण रचनाओं की अधिकता है अतः डिंगल का यही अर्थ हमें समुचित प्रतीत होता है। डमरू का भाषा-शास्त्र में भी बड़ा महत्त्व है। इसी से 'अ इ उ ण् ऋ लृ क्' आदि वर्णों की उत्पत्ति हुई है। डिंगल शब्द की सुंदरता से आकृष्ट होकर संभवतः परवर्त्ती भाषा व्रज का नाम पिंगल रख लिया गया।

समय परिवर्त्तन-शील है। राजस्थानी का वह विशाल साम्राज्य क्रमशः क्षीण होने लगा। एक नई भाषा की—जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है—उत्पत्ति हुई जिसको आजकल व्रज-भाषा कहते हैं। उसने राजस्थानी को हटाकर युक्तप्रांत, मध्य भारत आदि को अपना क्षेत्र बना लिया। लोग धीरे धीरे इस ओर आकृष्ट होने लगे तथा इसमें साहित्य लिखा जाने लगा।

भाषा के अनुसार राजस्थानी के निम्नलिखित विभाग किए जाते हैं—

(१) **मालवी**—यह दक्षिण राजस्थान तथा मालवा प्रांत में बोली जाती है। इसमें साहित्य की रचना बहुत ही कम हुई है।

(२) **मेवाती**—यह दक्षिण हिसार, भिवानी आदि जिलों की बोली है। यह भाषा बड़ी कर्कश है। साहित्य की रचना इसमें अभी तक नहीं हुई। संभव भी नहीं कि यह साहित्य की भाषा बने। यह इसके उपयुक्त ही नहीं है।

(३) **ढूँढाड़ी (जयपुरी)**—मारवाड़ी के बाद इसकी गणना होती है। इसका अलवर, जयपुर तथा हाड़ोती प्रांत में

प्रचार है। इसमें काफी साहित्य है। अभी तक गद्य की जितनी रचनाएँ हुई हैं सब इसी भाषा में हैं।

(४) **मारवाड़ी**—राजस्थानी भाषा की मुख्य शाखा यही है। यह जोधपुर राज्य, बीकानेर आदि समस्त पश्चिमोत्तर, दक्षिण और मध्य राजस्थान की बोली है। इसका प्रचार इतना अधिक है कि लोग राजस्थानी भाषा की जगह इसी को प्रयोग में लाते हैं। यही भाषा साहित्यिक राजस्थानी होने के उपयुक्त है। इसका साहित्य बहुत विशाल है। मेवाड़ी, थली आदि इसकी शाखाएँ हैं तथा उन सब में साहित्य प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। जोधपुर की—जो मारवाड़ भी कहलाता है—बोली बड़ी ही मधुर है। बीकानेर तक पहुँचते पहुँचते वह कुछ कर्कश सी हो जाती है।

इन विभागों में से हम मारवाड़ी को राजस्थानी भाषा की खड़ी बोली और ढूँढाड़ी को व्रजभाषा मान सकते हैं, यद्यपि अधिकांश कविता मारवाड़ी में लिखी गई है तथा गद्य-साहित्य ढूँढाड़ी में है जो कि खड़ी बोली और व्रजभाषा का बिलकुल उलटा रूप है।

अब यहाँ पर साहित्यिक विभाग के अनुसार प्राचीन, माध्यमिक एवं आधुनिक राजस्थानी साहित्य का कुछ दिग्दर्शन करा देना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्राचीन राजस्थानी
(१०० वि० से १६०० वि०)

इस काल का मुख्य ग्रंथ कविवर चंद बरदाई-विरचित पृथ्वीराज रासो है। आज-कल रासो का जो रूप मिलता है वह बहुत बड़ा है तथा उसमें बहुत सा प्रक्षिप्तांश मिलाया गया है। अभी रासो की एक हस्त-लिखित प्रति मिली है जो तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी की लिखी हुई है तथा उसमें रासो अपने असली रूप में मिलता है। रासो की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में हुई है। खुमान रासो तथा

वीसलदेव रासो और भी अधिक पुरानी रचनाएँ हैं। वीसलदेव रासो का निर्माण सं० १०७३ वि० में हुआ है[1]। सूरजप्रकाश, वीर-मायण आदि इस काल की मुख्य रचनाएँ हैं। कई अभी तक अंध-कार में पड़ी हुई हैं। न जाने कब प्रकाश में आएँगी। यहाँ प्राचीन राजस्थानी के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

वायसु उड्डावंतिए पिउ दिट्ठउ सह सत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड़त्ति॥

नायिका काग को उड़ा रही थी कि सहसा उसने पति को आते हुए देखा। उसे इतनी प्रसन्नता हुई कि वियोग के कारण जो शरीर सूखकर काँटा सा हो गया था वही इतनी वृद्धि को प्राप्त हो गया कि हाथ में पहनी हुई चूड़ियाँ तड़ककर आधी पृथ्वी पर और आधी फूटकर बिखर गईं।

अम्मि पओहर वज्जमा निच्चु जे सम्मुह थंति।
महु कंत हो समरंगणइ गयघड़ भज्जिउ जंति॥

अरी माँ! मेरे पयोधर (स्तन) वज्र के सदृश हैं जो नित्य ही मेरे स्वामी के पास रहते हैं; इसलिये समरांगण में हाथी भाग जाते हैं। क्या ही अनोखी सूझ है!

पुत्तें जाएँ कवण गुणु अवगुणु कवण मुयेण।
जा बप्पी की भुँहड़ी चंपिज्जई अवरेण॥

उस पुत्र के उत्पन्न होने से ही क्या लाभ तथा उसके मर जाने से क्या हानि होती है जिसकी पैतृक भूमि को दूसरे लोग भोगते हों?

गयउ सु केहरि पिअहु जलु निच्चिंतइँ हरिणाइँ।
जसु केरएँ हुँकारडएँ मुहहुं पडंति तृणाइँ॥

---

(१) वीसलदेव रासो की एक हस्त-लिखित प्रति मिली है जिसमें इसका रचना-काल १०७३ बतलाया गया है।

जिससे तुम भयभीत होते थे वह केशरी चला गया; अतः हे मृग! निश्चिंत होकर जल पिओ। उस सिंह की गर्जना मात्र से तुम्हारे मुँह से तृण भूमि पर गिर पड़ते थे।

पहिआ दिट्ठी गोरड़ी दिट्ठी मग्गु निअंत।
अंसू सासेहिं कंचुआ तितुव्वाण करंत॥

प्रेमी अपनी प्रेमिका से मिलने स्वदेश को जा रहा है। रास्ते में उसे एक पथिक मिला। उससे वह पूछता है—क्या तुमने उस गोरी को—मेरी पत्नी को—देखा? पथिक उत्तर देता है—हाँ, मैंने उसे मार्ग की ओर देखते हुए तथा अश्रुधारा से अपनी कंचुकी को भिगोते हुए एवं अपने उच्छ्वासों से सुखाते हुए देखा है। प्रेम तथा विरह का कितना सुंदर उदाहरण है।

माध्यमिक राजस्थानी

(१६०० वि० से १९०० वि०)

यह काल राजस्थानी का प्रौढ़ काल है। इसका साहित्य इस काल में उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गया था। डिंगल-साहित्य का प्रचार सर्व-साधारण में न रहा। डिंगल केवल साहित्य ही की भाषा रह गई। जनता से दूर हो जाने के कारण वह सुबोध न रही।

भक्ति, प्रेम आदि भावों का प्रचार करनेवालों ने जनता की भाषा जन-प्रचलित राजस्थानी को अपनाया। वे इस भाषा में कविता करने लगे। डिंगल तथा इस प्रचलित राजस्थानी साहित्य ने इस काल में विशाल रूप धारण किया। गद्य का निर्माण भी इसी समय हुआ। यद्यपि यों तो पत्रादि में राजस्थानी गद्य का उदाहरण हमें बहुत प्राचीन काल में मिलता है पर गद्य में साहित्य की रचना इसी समय से प्रारंभ हुई। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गद्य-साहित्य की अधिकांश रचना ढूँढाड़ी या जयपुरी में हुई है।

डिंगल की रचनाओं में मुख्य ग्रंथ ये हैं—पृथ्वीराज-कृत कृष्ण रुक्मणी री बेलि, वीठू सूजे का छंद, राउ जइतसी रउ; वचनिका रा० रतनसिंहजी री महेसदासोतरी खिड़िये जगे री कही, (इसमें गद्य तथा पद्य दोनों का मिश्रण है), अचलदास खीची री वचनिका आदि।

प्रचलित राजस्थानी की अधिकतर रचनाएँ प्रेम, भक्ति, करुणा आदि हृदय के कोमल भावों को व्यक्त करनेवाली हैं। इनकी भाषा सुबोध एवं भाव उच्च कोटि के हैं। जनता में ऐसी रचनाओं का बड़ा आदर हुआ; फलस्वरूप इनमें से आज भी घर घर इस तरह की कविता का अधिकांश पाठ होता है। प्रचार की दृष्टि से ये कवि डिंगल कवियों की अपेक्षा अधिक सफल हुए। इनमें से मुख्य कवि रैदास, मीराँ, चंद्रसखी, दादू दयाल, पद्म भगत आदि हैं। इस काल की मुख्य रचनाएँ ये हैं—नरसी महेता को माहेंरो (एक लकड़हारे का बनाया हुआ—इसका राजस्थान में बहुत प्रचार है); ढोला-मारू रा दूहा (एक मार्मिक प्रेम गाथा—इसमें लगभग सब हृद्गत भावों का सुंदर रूप से समावेश किया गया है), कवि छीहल-कृत पंचसहेली रा दूहा आदि।

इस काल की गद्य-रचनाओं में राजस्थान के वीरों के चरित्रों की कथाएँ मुख्य हैं। इनको 'बात' कहते हैं। ऐसी अनेक रचनाएँ राजस्थान के पुस्तकालयों में—जहाँ हस्त-लिखित पुस्तकों का संग्रह हो—प्रचुर मात्रा में मिलेंगी। काल्पनिक वीरों की भी कथा 'बात' रूप में मिलेगी। राजस्थानी गल्पों का आरंभिक युग यहीं से प्रारंभ होता है। मुख्य 'बातें' ये हैं—जगदे पँवार री बात, ऊमादे भटियाणी री बात, सुद बुद सबलंगा री बात, रिसालू कंवर री बात, ढोला मारवणी री बात इत्यादि।

इसी काल में किसी अज्ञात कवि ने राजिया, जेठवा किसनिया, बींजरा को संबोधन करके नीति-संबंधी सोरठों की रचना की जो अभी तक समय समय पर कहे जाते हैं।

यहाँ पर कुछ उदाहरण दिए जाते हैं। स्थानाभाव-वश हम अर्थ नहीं दे सकते। थोड़ा शब्दार्थ देकर संतोष कर लेते हैं—

पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण[1], निसा तणौ[2] मुख दीठ[3] निठ[4]।
चंद्र किरणि कुलटा सु निसाचर, द्रवड़ित[5] अभिसारिका द्रिठ[6] ॥
अनिपँखि[7] बंधे[8] चक्रवाक असंधे[9] ,निसि संधे[10] इसि अहो निसि।
कामिणी कामि तणी[11] कामागनि, मन लाया[12] दीपकाँ मिसि ॥

—बेलि क्रिसन रुकमणी री

राड़ि[13] म[14] करि इक तरफ रहि आगै पीछै आव।
जोइ[15] दिली फिरि जाइस्याँ[16] परसे असपति[17] पाव ॥
जसवंत सुणे जवाब जब, आगा[18] कहियो एम[19]।
मो थाँ आडौ[20] मेल्हिऔ[21] कहौ जाँण द्यूँ केम[22] ॥

—वचनिका रा० रतनसिंघजी री

या ब्रज में कछु देख्यो री टोना।
ले मटकी सिर चली गुजरिया आगे मिलै बाबा नंदजी को छोना।
दधि को नाम बिसर गई सजनी ले लेहु री कोइ स्याम सलोना ॥

× × × ×

---

(१) देखने के लिये। (२) का। (३) देखा। (४) कठिनता से। (५) दौड़ने लगे। (६) दृष्टि। (७) दूसरे पक्षी। (८) संयोग को प्राप्त हुए। (९) वियोग हुआ। (१०) रात्रि की संधि में रात्रि तथा दिवस का इस तरह संयोग हुआ। (११) प्रज्वलित हुई। (१२) जलाए हुए। (१३) झगड़ा। (१४) मत। (१५) देखकर। (१६) लौट जायँगे। (१७) अश्वपति, सम्राट् शाहजहाँ। (१८) सामने। (१९) इस तरह। (२०) सामने, विरुद्ध। (२१) भेजा है। (२२) बतलाओ, कैसे जाने दूँ।

मनैं[1] चाकर राखोजी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।
बिंद्रावन[2] की कुंज-गलिन मैं थारी लीला गासूँ॥
हरे हरे नित बन्न बनाऊँ विच विच राखूँ क्यारी।
साँवरिये रा दरसण पासूँ पहन कुसुंभी[3] सारी॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर सदा रहोजी धीरा।
आधीरात प्रभु दरसन दैहैं प्रेम-नदी के तारा॥

—मीराबाई

सदा ज नवळो[4] नेह जिण तिण सूँ करणो नहीं।
आगलड़ाँ[5] रो छेह[6] आप[7] तणो दीजै नहीं॥
आसी सावण मास, बरखा[8] रुत आसी भळे[9]।
साईना[10] रो साथ भळै न आसी बांजरा॥
जिण मारग केहर[11] बुवो[12] लागी वास[13] तिणाँह[14]।
ते खड़[15] ऊभा सूखसी[16] नहिं चरसी हिरणाँह॥
पंथी एक सँदेसड़ो बावळ[17] ने कहियाह।
जायाँ[18] थाळ न बज्जिया टामक[19] टहटहियाह॥
सरवर हंस मनायले नेड़ा[20] थका[21] न छोड़।
जासूँ लागया फूटरा[22] बाँसूँ खेंच[23] न तोड़॥

---

(१) मुझको। (२) वृंदावन। (३) कुसुंभी—कसूँमल रंग की; यह रंग गहरा लाल होता है तथा यह राजस्थान का जातीय रंग है। (४) नया। (५) पहले किए हुए प्रेम का। (६) विरक्ति। (७) अपनी तरफ से। (८) वर्षा ऋतु। (९) फिर। (१०) साथी। (११) सिंह। (१२) गया। (१३) गंध। (१४) तृणों को। (१५) घास के खेत। (१६) खड़े खड़े सूख जायगा। (१७) पिता। (१८) उत्पन्न होने पर। (१९) बड़े बड़े ढोल बज रहे हैं। (२०) पास। (२१) होते हुए। (२२) अच्छे, सुंदर। (२३) प्रेम का नाता खींचकर मत तोड़ डालो।

इला[1] न देणी आपणी रणखेताँ भिड़ जाय[2] ।
पूत सिखावै पालणो[3] मरण वडाई माय ॥
हंसा, सरवर ना तजो जे जळ खारो होय ।
डाबर डाबर[4] डोलता[5] भलो न कहसी कोय ॥
कहो लूवाँ[6] कित जावसो पावसधर[7] पड़ियाह[8] ।
हिये नवोढ़ा नार रे बालम[9] बीछड़ियाह[10]॥
पान झड़ंता[11]देखकर हँसी ज कूंपळियाह[12]।
मो बीती सो बीतसी धीरी[13] बापड़ियाह[14]॥

× × ×

ढोलो[15] हल्लाणो[16] करे धण[17] हल्लिवान देहि ।
झब झब[18] झूँवै[19] पागड़े[20] डब डब नयण भरेहि ॥
सीयाळै[21] तउ[22] सी[23] पड़इ उनाळइ[24] लू बाइ[25] ।
बरसाळइ[26] भुंई[27] चीकणी[28] चालण रुत्ति[29] न काइ ॥
राति सखी इणि ताल[30] महँ काइ ज कुरळि[31] पाँखि[32] ।
उवै[33] सरि हूँ घरि आपणै दुहूँन मेली आँखि ॥
राति जु सारस कुरळिया गूँजि रहे सब ताळ ।
जिण की जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण[34] हवाळ[35] ॥

---

(१) भूमि । (२) भिड़ जाना । (३) पालने में । (४) तलैया । (५) भटकते । (६) उष्ण हवा, लू । (७) पृथ्वी पर । (८) पड़ने पर, आने पर । (९) पति से । (१०) बिछुड़ी हुई । (११) गिरते । (१२) कोंपलें (नवीन पत्ते) । (१३) ठहर जाओ । (१४) बेचारी । (१५) ढोला, नायक । (१६) जाना चाहता है । (१७) पत्नी, स्त्री । (१८) आतुर होकर । (१९) पकड़ती है, झूमती है । (२०) पागड़े को, ऊँट पर चढ़ने पर, पैर रखने की एक लोहे की वस्तु । (२१) शरत्काल में । (२२) तो । (२३) सर्दी । (२४) ग्रीष्म काल । (२५) चलती है । (२६) वर्षाकाल । (२७) पृथ्वी । (२८) चिकनी । (२९) ऋतु, काल । (३०) सरोवर, तालाब । (३१) करुण रव किया । (३२) पक्षी । (३३) वह । (३४) क्या । (३५) दशा ।

बावहिया[1] निलपंखिया[2] बाढ़त[3] दइ दइ लूण।
मै प्रिउ की प्रिउ मेरुवा तू प्रिउ कहइ स कूण[4] ॥

कितनी मार्मिक उक्तियाँ हैं! विरह का इससे अधिक क्या सजीव वर्णन हो सकता है? ऐसे ही रत्नों से राजस्थानी साहित्य भरा पड़ा है। खेद है, स्थानाभाव के कारण अधिक उदाहरण देना संभव नहीं।

यहाँ पर गद्य का भी एक उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

"इणि भाँति सूँ च्यारि राणी त्रिण्हि[5] खवासि[6] द्रब्ब नाळेर[7] उछाळि[8] बळण[9] चाली। चच्छळाँ[10] चढि महा सरवर री पाळि[11] आइ ऊभी रही। किसड़ी हैक[12] दीसै। जिसड़ी[13] किरतिआँ[14] रो झूँबकौ[15]। कै मोतिआँ री लड़ी। पवंगाँ[16] सूँ ऊतरि महा प्रवीत[17] ठौड़ि ईसर गौरिज्या पूजी। कर जोडि कहण लागी। जुगि जुगि औ होज[18] धणी[19] देज्यौ। न माँगाँ वात दूजी। पछै जमी अकास पवन पाणी चंद सूरिज नूँ परणाम करि आरोगी दोळो[20] परिक्रमा दीन्हो। पछै आपरै पूत परिवार नै छेहलो[21] सीखमति आसीस दीन्हो॥"

—वचनिका रा० रतनसिंघजी री

---

(१) पपीहा। (२) नीले पंखवाला। (३) नमक डालकर विरह के घाव को बढ़ाता है। (४) मैं अपने प्रीतम की हूँ तथा प्रीतम मेरे हैं, तूं पिउ पिउ कहनेवाला कौन है? (५) तीन। (६) दासी, गोलियाँ। (७) नारियल। (८) उछालकर। (९) जलने को, सती होने को। (१०) घोड़ों पर। (११) तट पर। (१२) कैसी दिखाई देती है? (१३) जैसे। (१४) कृत्तिकाएँ। (१५) गुच्छा, समूह। (१६) घोड़ों पर से। (१७) प्रीति-पूर्वक। (१८) यहीं। (१९) पति। (२०) वृत्ताकार, गोलाकार। (२१) अंतिम।

आधुनिक राजस्थानी

(१६००,......)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, माध्यमिक काल राजस्थानी का प्रौढ़ काल था। जितनी उन्नति उसे करनी थी वह कर चुकी। धीरे धीरे इसका पतन होना शुरू हुआ। लोग हिंदी की ओर आकृष्ट होने लगे तथा अपनी मातृभाषा को हेय दृष्टि से देखने लगे। इसका फल यह हुआ कि राजस्थानी में साहित्य का बनना एकदम बंद सा हो गया।

इस काल के मुख्य कवि तथा लेखक श्री शिवचंद्र भरतिया हैं। इन्होंने राजस्थानी गद्य-साहित्य को एक नवीन रूप दिया है अतः राजस्थानी साहित्य इनका हमेशा के लिये आभारी रहेगा। आपने केसर-विलास, कनकसुंदर, मोत्याँ री कंठी, बुढ़ापे री सगाई आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है। इन्होंने उपन्यास, कविता, नाटक, कहानी, प्रहसन आदि सब की रचना की है तथा अधिकांश में ये सफल भी हुए हैं। खेद है, ये अधिक काल तक राजस्थानी की सेवा न कर सके तथा कराल काल ने राजस्थानी की गोद में से इन्हें जबर्दस्ती छीन लिया।

राजस्थानी में एक मासिक पत्र भी निकला था पर वह अधिक काल तक नहीं चल सका। राजस्थानियों के लिये यह अत्यंत लज्जा की बात है।

आज-कल कई लेखक प्राचीन साहित्य का उद्धार करने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं। आशा है, इस दिशा की ओर भी राजस्थानी विद्वानों का ध्यान आकर्षित होगा।

ऊपर राजस्थानी साहित्य का कुछ संक्षिप्त रूप में दिग्दर्शन कराया गया है। इससे पाठकों को ज्ञात होगा कि राजस्थानी का साहित्य कितना समृद्ध है। इस साहित्य को प्रकाश में लाने की

अत्यंत आवश्यकता है। राजस्थान दानवीर है। इसके धनिक यदि तनिक भी इस ओर ध्यान दें तो यह कार्य बहुत कुछ अंशों में पूर्ण हो सकता है।

राजस्थानी साहित्य को समझने के लिये निम्न-लिखित ग्रंथों के निर्माण की अत्यंत शीघ्र आवश्यकता है—(१) राजस्थानी का कोश, (२) राजस्थानी साहित्य और भाषा का इतिहास तथा (३) राजस्थानी का व्याकरण।

आज-कल लोगों का उत्साह फिर इस ओर होने लगा है। वे जानने लग गए हैं कि उनके यहाँ रत्नों का भांडार भरा पड़ा है; केवल कुछ परिश्रम की आवश्यकता है। वे राजस्थानी के महत्त्व से परिचित होने लगे हैं। इन सब बातों को देखते हुए प्रतीत होता है कि राजस्थानी का भविष्य उज्ज्वल एवं आशापूर्ण है।

(८) बेलि क्रिसन रुकमणी री[1]

(राठौड़राज प्रिथीराज री कही)

[लेखक—श्री राजवी अमरसिंह, बीकानेर]

राजस्थानी भाषा का साहित्य अमूल्य रत्नों की खान है। परंतु यह होते हुए भी उनकी झलक सूर्य के प्रकाश में बाह्य जगत् को अब तक नहीं मिली। कुछ लोगों की यह धारणा सी हो गई है कि राजस्थान की प्राकृतिक परिस्थिति को देखते हुए वहाँ के रहनेवालों के हृदय भी उग्रता और रूखेपन से भरे होते हैं, उनके पास हृदय के कोमल भावों को व्यक्त करने के लिए न तो उपयुक्त शब्द ही हैं, न उन भावों को हृदय में उभारनेवाली परिस्थिति। वहाँ हरियाली नहीं, वरन् कोसों तक रेतीले टीले ही टीले नजर आते हैं, तो फिर उनके हृदय में सरसता कहाँ? वहाँ कोयल नहीं, पर कौवों का प्राचुर्य है, तो फिर वहाँ की भाषा और भाषण में रमणीयता कैसे हो? वहाँ कमल नहीं है, वसंत नहीं है, तो फिर उनमें हृदय की मस्ती से उत्पन्न भावुकता की स्फूर्त्ति कहाँ? वहाँ मीन और खंजन नहीं है, तो फिर वहाँ की रमणियों की आँखों में स्वाभाविक चंचलता कहाँ से हो? वहाँ पपीहा नहीं है, तो फिर वहाँ के विरही जनों में हृदय को पिघलानेवाला करुण क्रंदन कहाँ? वहाँ फूल नहीं है, तो फिर वह मृदु मुसकान कैसे हो? वहाँ हाथी नहीं हैं—वहाँ की रमणियाँ गजगामिनी कहाँ से हों? और इसी की समता में कोई यह भी कह बैठता है कि वहाँ सिंह नहीं, पर ऊँट बहुत हैं, तो फिर वहाँ के रहनेवाले वीर कैसे हों? हाँ, ऊँटों की तरह भार

(१) हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी० द्वारा प्रकाशित।

ढोने के उपयुक्त हो सकते हैं। परंतु यह अपवाद झूठा ही प्रतीत होता है, उपयुक्त नहीं; क्योंकि उनकी यह धारणा निराधार है। जहाँ वे अपने हृदय में ये बातें लाते हैं वहाँ वे यह क्यों नहीं सोचते कि वहाँ के राजपूत सिंह से अधिक बलवान् हैं, अतः उन्हें उससे कुछ सीखने की जरूरत ही नहीं। वहाँ मोर उन्हें मृदु भाषण का, कुंज पत्ती करुण क्रंदन का, कपोत दांपत्य प्रेम का, मृग-शावक अपनी भय से विकृत आँखों की गति और उछल-कूद का, मतीरा सरसता का और ऊँट सहनशीलता का पाठ पढ़ाता है। वहाँ महाराणा प्रताप और दुर्गादास जैसे वीर, मीराँबाई, रैदास और दादू दयाल जैसे भक्त, चंद और महाराज प्रिथीराज जैसे कवि हो गए हैं। वहाँ की भूमि रेतीली और रास्ते काँटों से परिपूर्ण हैं, पर उसी के पुत्रों ने भारत के सिर को ऊँचा रखा है और अपने विजेताओं के सामने हम उन्हीं के बूते पर गर्व से बोल सकते हैं। वहाँ के मैदान, रेत के टीले और किलों का एक एक पत्थर राजपूत वीरों की कहानियाँ कहने को अब भी तैयार है। वही राजस्थान भारत की रंगभूमि है और वही ऐतिहासिक घटना-चक्रों का स्थल। अभी तक उन लोगों के सामने जो राजस्थानी साहित्य रखा गया है उसमें अधिकांश तलवारों की चमचमाहट, वीर हृदयों का सामरिक उत्साह, रमणियों का अपने सतीत्व की रक्षा के लिए आत्म-बलिदान, राजपूत प्रतिज्ञा की दृढ़ता और भयंकर युद्धों की दिल दहलानेवाली उद्दंडता का ही वर्णन है। परंतु राजस्थानी साहित्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय तो भारत की इस ऐतिहासिक भूमि का साहित्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण, आदर्श और पथ-प्रदर्शक है। इसमें सभी रसों में चमत्कार-पूर्ण रचना हुई है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए हम कुछ वीर, करुण, शांत और शृंगार रसों के छंद उद्धृत करते हैं जिनसे न केवल उपर्युक्त आक्षेप का ही परिहार

हो जायगा वरन् साहित्यिकों को राजस्थानी के काव्य-भांडार की कुछ झलक भी मिलेगी।

स्वभाव-वीर राजपूत माता अपने पुत्र को पालने में ही आदर्श बलिदान का महत्त्व बता रही है।

इळा[1] न देणी आपणी, रण खेताँ भिड़ जाय।
पूत सिखावे पालणे, मरण बड़ाई माय॥

और भी—

पंथी, हेक[2] सँदेसड़ौ,[3] बावळ नै कहियाह।
जायाँ थाळ न बज्जिया, टामक[4] ठहठहियाह[5]॥
ढोल सुणंताँ माँगळी, मूछाँ भौंह चढंत।
चँवरी[6] ही पहचाणियो, कँवरी मरणो कंत॥
स्याम उबारण[7] साँकड़े,[8] रजपूताँ आ[9] रीत।
जब लग पाँणी आवटे,[10] तब लग दूध निचीत॥
कंथ लखीजै उभय कुळ, नहीं घिरंती छाँह।
मुड़ियाँ मिलसी गींदवो,[11] मिळे न धण री बाँह॥

करुणरस के भाव भी निम्न-लिखित दोहों में कवियों ने बड़े ही सुंदर ढंग से व्यक्त किए हैं—

आसी साँवण मास, बरखा रुत आसी भळे[12]।
साँईनाँ रो साथ, भळे न आसी बींझरा॥

आपद्ग्रस्त द्रौपदी की प्रार्थना में कैसा मीठा व्यंग कवि ने व्यक्त किया है—

मो मन खाधो[13] मोच,[14] आव कह्यो आयो नहीं।
साड़ी रो नहिं सोच, सोच विरद रो साँवरा॥

---

(१) पृथ्वी। (२) एक। (३) संदेश। (४) ढोल। (५) बज रहे हैं। (६) विवाह-मंडप। (७) बचाना। (८) विपत्ति। (९) यह। (१०) जलता है। (११) तकिया। (१२) फिर। (१३) हुआ। (१४) कुंद।

मिनियाँ[1] मंजारीह, अगन प्रजाळी ऊबरयाँ[2]।
बीती सो बारीह, सुणै क बैरो[3] साँवरा ॥
देखे भीसम द्रोण, जेठ करण देखे जठै[4]।
कै[5] हर, बरजै कोण, लाज रुखाला[6] लाज लै ॥
सासू सिंतर साज, पूतज लाई पारका।
जै री पारख आज, (मैं) साँची पाई साँवरा ॥
पैली केस खिंचाविया, पछे बधायो चीर।
आयो स्यान गमायकर, आखर जात अहीर ॥

राजस्थानी साहित्य में नीति और शांतरस का अंग भी भरा-पूरा है। यहाँ कुछ फुटकर कविताएँ उद्‌धृत करते हैं—

झाड़ जोख झख भेक, वारिज के भेळा बसै।
इसकी भँवरो एक, रस की जाँणे राजिया ॥
पाटा पीड़ उपाव, तन लागाँ तरवारियाँ।
वहै जीभ रा घाव, रती न औखद राजिया ॥
स्याळां संगति पाय, करक छंछेड़े[7] केहरी।
हाय कुसंगत हाय, रीस न आवे राजिया ॥
उपजावे अनुराग, कोयल मन हरखित करे।
कड़वो लागे काग, रसना रा गुण राजिया ॥
हुवै न बुझणहार, जांणे गुण कीमत जठे।
बिन गाहक वोपार, रुक्यो[8] गिणीजै राजिया ॥
आँधो नाग अभागियो, मदवो मायादार।
परतन चाले पाधरा, समझावो सो बार ॥

---

(१) मंजारी के बच्चे। (२) बचे। (३) बहरा। (४) जहाँ। (५) कहो। (६) रक्षक। (७) दाँतों से हड्डी का मांस उतारने का प्रयत्न करना। (८) नष्ट।

और भी—

नैण पदारथ नैण रस, नैणां नैण मिलंत।
अणजांण्यां सूँ प्रीतड़ी, पैली नैण करंत॥
नैण पटक दूँ ताल में, छींट छींट हुय जाय।
मैं तने नैणाँ कद कयो, मन पैली मिल जाय॥
नैण म्हारा लालची, देखण चाहै तुज्झ।
ना तूँ मिलै न म्हैं सुखी, याही वेदन मुज्झ॥
सखि, इक सज्जन मैं कियो, जेहो चंद अकास।
सिर बदनामी दे गयो, कदे न बैठो पास॥
जिण सूँ लाग्यो जोय, मन सोही प्यारो मनाँ।
कारण और न कोय, जात-पाँत रो जेठवा॥
कह बीजो सुण सोरठी, प्रीत किता[1] मण होय।
लागतड़ाँ लेखो नहीं, टूट्याँ टाँक[2] न होय॥
तीतरपंखी बादळी, बिधवा काजळ-रेख।
वा बरसै वा घर करै, ईमें मीन न मेख॥
नागा नागरवेल, पसरै पण फूलै नहीं।
बाळपणे री प्रीत, बिछड़े पण भूलै नहा॥
नैण लगे तो लगण दे, तूँ मत लगियो चित्त।
वे छूटेंगे रोय के, (तूँ) बध्यो रहेगो नित्त॥
सम्मन अपणे चोर कूँ, सब कोइ डारे मार।
मो मन चोर मिलावही, सरबस डारूँ वार॥
जुग[3] बिछड़त सारी[4] मरत, कठिन काठ की प्रीत।
माँणस बिछड़े ना मिले, सम्मन औ बिपरीत॥

---

(१) कितने। (२) रत्ती या छोटी से छोटी नाप। (३) जोड़ी।
(४) चौपड़ के गोटके।

जोबन गयो सो भल हुई, सिर री टली[1] बलाय।
जणे जणे रो रूसणो, यो दुख सह्यो न जाय॥
कौ लूँवाँ कित जाँवस्यो, पावस घर पड़ियाँह[2]।
हिये नवोढ़ा नार रे, बालम बीछड़ियाँह॥
बरसाँ बीस पचीस में, जाग सके तो जाग।
जोबन दूध उफाँण ज्यूँ, जासी ठिकाणे लाग॥

रसराज श्रृंगार के विवरण में फुटकर उदाहरण न देकर हम यहाँ महाराज प्रिथीराज के काव्य "क्रिसन रुकमणी री बेलि" के विषय में कुछ उल्लेख करते हैं। हिंदी-साहित्यज्ञों के लिये यह काव्य एक अमूल्य रत्न है; परंतु अभाग्यवश अभी तक इसकी ख्याति नहीं हुई है। कई वर्षों तक तो यह पुस्तक योंही पड़ी रही। फिर स्वर्गीय महाराज श्री जगमालसिंहजी ने इस काव्य को प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया, परंतु दुर्भाग्यवश वे इसका अनुवाद ही कर पाए थे कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। अपने को इस काम के करने में असमर्थ जान उन्होंने यह काम ठाकुर रामसिंहजी एम० ए० तथा पं० सूर्यकरणजी पारीक एम० ए० को सौंपा। उन्होंने हाल ही में इस काव्य को—गवेषणापूर्ण भूमिका, हिंदी अनुवाद, पाठांतर, शब्द-कोष, टिप्पणी तथा संस्कृत और ढूँढाड़ी टीकाओं सहित—हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित कराया है। जब यह पुस्तक पाठकों के सामने आई तब हमें आशा हुई कि कोई सत्समालोचक अवश्य इस पर कुछ लिखेगा, क्योंकि किसी काव्य की समालोचना करने के लिये अनुभव, विद्वत्ता और प्रतिभा की आवश्यकता होती है। समालोचक का काम कवि के भावों को व्यक्त करना और उसके गुण-दोषों का निदर्शन करना है। वह कवि के

---

(१) दूर हुई। (२) आने पर।

आंतरिक भावों को पाठकों के सम्मुख इस प्रकार खोलकर रख देता है कि समझने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती; परंतु प्रत्येक "व्यक्ति" समालोचक नहीं हो सकता। इसी लिये अँगरेजी साहित्य में समालोचकों का उतना ही आदर होता है जितना कवियों का। यदि देखा जाय तो कवियों के सुयश-परिमल को सत्समालोचक-रूपी मलय-समीर ही चारों ओर फैलाने में समर्थ होती है। शेक्स-पियर (Shakespeare) सत्समालोचकों की ही बदौलत आज विश्व-कवियों में ऊँचे आसन पर विराजमान है। उपन्यास-सम्राट् प्रेमचंदजी ने 'हंस' में इस पुस्तक के विषय में कुछ लिखा था, जिसे देखकर आशा हुई कि और भी कोई समालोचक इसमें हाथ बँटा-एगा; परंतु ज्यों ज्यों समय बीतता गया आशा निराशा के रूप में परिवर्त्तित होने लगी।

भाषा का यह नियम है कि साहित्य की भाषा बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न और कठिन होती है। यही बात 'बेलि' की भाषा और बोलचाल की राजस्थानी के विषय में पूर्णतः सिद्ध होती है। कई भाषाओं का ज्ञान होने के कारण कवि ने गुजराती, मराठी, अरबी, फारसी, संस्कृत इत्यादि के शब्दों का प्रयोग भी किया है। इसकी भाषा सरल और बोधगम्य नहीं है। इसी लिये इस पर संस्कृत तथा ढूँढाड़ी में टीकाएँ भी हो चुकी हैं। परंतु भाषा ही के कारण हम इन्हें मिश्र-बंधुओं की भाँति निम्न श्रेणी के कवि मानने को तैयार नहीं हैं। यदि ऐसी ही बात है तो आचार्य कवि केशव-दास को कहीं स्थान ही न मिलेगा। फिर भी इनकी भाषा अपने स्वाभाविक रूप से चलती है और उसकी गति के लिये कवि को शब्दों की तोड़-मरोड़ नहीं करनी पड़ी है। हाँ, कहीं कहीं छंदःशास्त्र के नियम का उल्लंघन जरूर हुआ है। ग्रंथ में वयणसगाई का, जिसे शब्दानुप्रास कह सकते हैं, बड़ा ध्यान रखा गया है।

उपमा और रूपकों की तो यह पुस्तक खान ही है। अलंकार अधिकांश में स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं; उन्हें जबरदस्ती ठूँसने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसका कथानक भागवत के आधार पर है, परंतु कहीं कहीं पर कवि ने आवश्यकता के अनुसार इसे कल्पना के रंग में रँग डाला है।

महाराज एक राज-घराने में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने मुगल सम्राट् अकबर की सेना का संचालन भी किया था। इसलिये युद्ध का वर्णन उन्होंने वैसी ही कुशलता से किया है जैसा कि कोई वीर राजपूत कवि कर सकता है। यद्यपि शृंगाररस-प्रधान ग्रंथ में वीररस का उत्कृष्ट वर्णन करने से रस-भंग होता है परंतु महाराज को कथा-सूत्र के निर्वाह के लिये युद्ध का वर्णन करना पड़ा। वर्णन करते समय वे यह बात भूल गए और अपने काल्पनिक जगत् में स्वयं युद्ध के भावों से उत्तेजित होकर उन्होंने यह वर्णन कर ही डाला। इस वर्णन को पढ़ने से पाठकों को महाराज की रस-शास्त्र की अज्ञानता का संदेह होता है, परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। महाराज ने इस रस-विरोध को हटाने का प्रयत्न करने में बड़ी चतुराई दिखाई है। जहाँ से शृंगार का क्रमशः पतन होता है वहीं से वीररस शुरू होता है और धीरे धीरे शृंगार का अंत होने पर वीररस प्रधान हो जाता है और फिर धीरे धीरे गिर जाता है। इससे पाठकों को यह उतना बुरा नहीं मालूम होता जितना एकदम वीररस का वर्णन करना होता।

महाराज के विद्वान् होने में हमें कोई संदेह नहीं है। उनको संस्कृत-साहित्य और काव्य, दर्शन, ज्योतिष और संगीत इत्यादि का अच्छा ज्ञान था। वे स्वयं लिखते हैं कि इस 'बेलि' का अर्थ ज्योतिषी, वैद्य, पुराणों के ज्ञाता, योगी, संगीतज्ञ, तार्किक; चारण, भाट और सुकवि सब इकट्ठे होकर ही कर सकते हैं। महाराज के

समकालीन कवि आढ़ा दुरसा और रामा गाडण ने इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा की है, यहाँ तक कि वे उसे "पाँचवें वेद" तथा "उगणी-सवें पुराण" तक कह बैठे हैं। रामा गाडण कहता है—

*रुखमण गुण रचण स्रंगार महारसि वेलि बीज तरि बाण बखाण।
पाँचवो वेद भाखियो पीथल, पढ़ियो उगणीसवों पुराण ॥

× × × ×

मैं कहियो हर भगत प्रिथीमल, स्रवणे वयण कहण ततसार।
रामो कहै प्रिथी महाराजा, आखर व्यास तणो अवतार ॥

महाराज प्रिथीराज की यह विशेषता है कि वे थोड़े से शब्दों में अपने हृदय की संपूर्ण सरलता और तन्मयता को केंद्रीभूत कर देते हैं। उनकी एक एक पंक्ति में हृदय के अनेकानेक आवेग-प्रवेग——शरीर में नाड़ी की तरह——अंतर्हित रहते हैं। उनकी कविता उनके हृदय की वस्तु है। उनमें जीवन के विविध उद्गार बिना किसी आडंबर के बड़ी सरलता तथा स्वाभाविकता से व्यक्त हुए हैं। उनमें न तो अलंकारों की कृत्रिम रुनझुन है न भावों का कृत्रिम प्रदर्शन। जिस प्रकार रंग-बिरंगे बादल आकाश में उछलते-कूदते गरजते-तड़पते स्वयमेव उमड़-घुमड़ पड़ते हैं उसी प्रकार उनकी कविता में उनके भाव भी शब्द-रूप में छंदों के आकाश-पथ में नाना भाँति विचरते रहते हैं। उनकी कविता इतनी ही स्वच्छंद और उछलती-कूदती हुई है जितनी हिमालय के उत्तुंग शृंगों से निकली हुई किसी स्वच्छंद-गामिनी सरिता का प्रवाह।

महाराज एक राजपूत राजा के पुत्र होने के कारण विलासिता के आवरण में पले हुए थे; परंतु विलासिता ने उनके संस्कारों को बिगाड़ा नहीं, प्रत्युत उनके हृदय में सांसारिक प्रेम और सौंदर्य के प्रति

* M. S. 21 राज्य लाइब्रेरी, बीकानेर।

उपमा और रूपकों की तो यह पुस्तक खान ही है। अलंकार अधिकांश में स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं; उन्हें जबरदस्ती ठूँसने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसका कथानक भागवत के आधार पर है, परंतु कहीं कहीं पर कवि ने आवश्यकता के अनुसार इसे कल्पना के रंग में रँग डाला है।

महाराज एक राज-घराने में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने मुगल सम्राट् अकबर की सेना का संचालन भी किया था। इसलिये युद्ध का वर्णन उन्होंने वैसी ही कुशलता से किया है जैसा कि कोई वीर राजपूत कवि कर सकता है। यद्यपि शृंगाररस-प्रधान ग्रंथ में वीररस का उत्कृष्ट वर्णन करने से रस-भंग होता है परंतु महाराज को कथा-सूत्र के निर्वाह के लिये युद्ध का वर्णन करना पड़ा। वर्णन करते समय वे यह बात भूल गए और अपने काल्पनिक जगत् में स्वयं युद्ध के भावों से उत्तेजित होकर उन्होंने यह वर्णन कर ही डाला। इस वर्णन को पढ़ने से पाठकों को महाराज की रस-शास्त्र की अज्ञानता का संदेह होता है, परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। महाराज ने इस रस-विरोध को हटाने का प्रयत्न करने में बड़ी चतुराई दिखाई है। जहाँ से शृंगार का क्रमशः पतन होता है वहीं से वीररस शुरू होता है और धीरे धीरे शृंगार का अंत होने पर वीररस प्रधान हो जाता है और फिर धीरे धीरे गिर जाता है। इससे पाठकों को यह उतना बुरा नहीं मालूम होता जितना एकदम वीररस का वर्णन करना होता।

महाराज के विद्वान् होने में हमें कोई संदेह नहीं है। उनको संस्कृत-साहित्य और काव्य, दर्शन, ज्योतिष और संगीत इत्यादि का अच्छा ज्ञान था। वे स्वयं लिखते हैं कि इस 'बेलि' का अर्थ ज्योतिषी, वैद्य, पुराणों के ज्ञाता, योगी, संगीतज्ञ, तार्किक; चारण, भाट और सुकवि सब इकट्ठे होकर ही कर सकते हैं। महाराज के

समकालीन कवि आढ़ा दुरसा और रामा गाडण ने इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा की है, यहाँ तक कि वे उसे "पाँचवें वेद" तथा "उगणी-सवें पुराण" तक कह बैठे हैं। रामा गाडण कहता है—

*रुखमण गुण रचण स्रंगार महारसि वेलि बीज तरि बाण बखाण।
पाँचवो वेद भाखियो पीथल, पढ़ियो उगणीसवें पुराण॥

× × × ×

मैं कहियो हर भगत प्रिथीमल, स्रवणे वयण कहण ततसार।
रामो कहै प्रिथी महाराजा, आखर व्यास तणो अवतार॥

महाराज प्रिथीराज की यह विशेषता है कि वे थोड़े से शब्दों में अपने हृदय की संपूर्ण सरलता और तन्मयता को केंद्रीभूत कर देते हैं। उनकी एक एक पंक्ति में हृदय के अनेकानेक आवेग-प्रवेग—शरीर में नाड़ी की तरह—अंतर्हित रहते हैं। उनकी कविता उनके हृदय की वस्तु है। उनमें जीवन के विविध उद्गार बिना किसी आडंबर के बड़ी सरलता तथा स्वाभाविकता से व्यक्त हुए हैं। उनमें न तो अलंकारों की कृत्रिम रुनझुन है न भावों का कृत्रिम प्रदर्शन। जिस प्रकार रंग-बिरंगे बादल आकाश में उछलते-कूदते गरजते-तड़पते स्वयमेव उमड़-घुमड़ पड़ते हैं उसी प्रकार उनकी कविता में उनके भाव भी शब्द-रूप में छंदों के आकाश-पथ में नाना भाँति विचरते रहते हैं। उनकी कविता इतनी ही स्वच्छंद और उछलती-कूदती हुई है जितनी हिमालय के उत्तुंग शृंगों से निकली हुई किसी स्वच्छंद-गामिनी सरिता का प्रवाह।

महाराज एक राजपूत राजा के पुत्र होने के कारण विलासिता के आवरण में पले हुए थे; परंतु विलासिता ने उनके संस्कारों को बिगाड़ा नहीं, प्रत्युत उनके हृदय में सांसारिक प्रेम और सौंदर्य के प्रति

---

* M. S. 21 राज्य लाइब्रेरी, बीकानेर।

अनुराग का ऐसा अंकुर जमा दिया जो ज्ञान और विवेक के प्रकाश में प्रस्फुटित होकर अंत में कृष्ण-भक्ति के प्रफुल्ल पादप के रूप में प्रकट हुआ। शृंगाररस-प्रधान काव्य में जो सफलता महराज को मिली है उसका मुख्य कारण यह है कि वे सौंदर्योपासक और आदर्श-प्रेमी थे तथा उन्होंने सौंदर्य और प्रेम के तत्त्व का खूब अनुभव किया था। उनकी धर्मपत्नी महारानी चंपादे परम सुंदरी, चतुर और गुणवती थीं। ऐसा स्त्री-रत्न पाकर महाराज का वीर हृदय भी प्रेम की मदिरा से लबालब भरे छलकते हुए पात्र की तरह भर गया। फिर क्या था, अपने पत्नी-प्रेम के उद्गारों को कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम में रँगकर 'बेलि' के रूप में, मदिरा से भरे हुए पैमाने के समान, पाठकों के सामने रख दिया। आदर्श प्रेम ही उनका ध्येय है। प्रेम की तल्लीनता उनकी कविता में सर्वत्र समान रूप से पाई जाती है।

बेलियो गीत में बद्ध 'बेलि' संगीतमय ग्रंथ है। संगीतमय होने से अन्य राजस्थानी कवियों की भाँति रूखापन इन्हें छू तक नहीं गया है। इसमें कवि ने सभी जगह अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है; सभी कल्पनाएँ इनके अखंड वस्तु-भांडार एवं सांसारिक अनुभवों पर आश्रित हैं। मौलिकता इनका प्रधान गुण है। इनकी कल्पनाएँ अत्यंत स्वाभाविक तथा हृदयग्राहिणी होने के कारण बहुत ही रोचक लगती हैं।

यहाँ पर बेलि में वर्णित प्रेम-पद्धति के संबंध में दो शब्द कह देना अनुचित न होगा। दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से प्रेम की व्याख्या चार भागों में की गई है—(१) विवाह-संबंध—इसमें दंपति धर्म-बंधन से बँधकर कर्त्तव्य की डोरी से जकड़ दिए जाते हैं। यह प्रेम अत्यंत शुद्ध, स्वाभाविक और निर्मल है। इसमें विलासिता और कामुकता की गंध नहीं होती। राम और सीता के प्रेम के आदर्श को इसी के अंतर्गत समझना चाहिए। (२) वह प्रेम जो

विवाह के पूर्व होता है और विवाह जिसका फल-स्वरूप होता है। इसमें नायक और नायिका किसी स्थान पर अकस्मात् एक दूसरे से मिल जाते हैं और आपस में प्रेम-सूत्र में बँध जाते हैं। इसमें नायिका की प्राप्ति का प्रयत्न अधिकतर नायक करता है। शकुंतला और दुष्यंत का प्रेम इसी श्रेणी का है। (३) वह प्रेम जिसका प्राय: राजाओं के अंत:पुर इत्यादि में उदय होता है और जो भोग-विलास तथा रंग-रहस्य के रूप में दिखाया जाता है; यथा श्रीहर्ष के नाटकों में। (४) वह प्रेम जो चित्र-दर्शन, गुण-श्रवण इत्यादि से उत्पन्न होता है। उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयंती और पद्मावती-रत्नसेन इत्यादि का प्रेम इसी प्रकार का है। 'बेलि' में वर्णित कृष्ण-रुक्मिणी का प्रेम इसी चौथी कोटि के अंतर्गत है। प्रिथीराज के शृंगार-वर्णन में शारीरिक पक्ष प्रधान है और मानसिक गौण। उसमें चुंबन, आलिंगन और क्रीड़ा इत्यादि के वर्णन का प्राचुर्य है; मन के उल्लास और मानसिक वेदना का अंश कम है। रुक्मिणी के हृदय में व्याकरण, पुराण, स्मृति और शास्त्र के पढ़ने से कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है—

साँभळि अनुराग थयो मनि स्यामा, वर प्रापति वांच्छति वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर, हरि तिणि वंदे गवरि हर॥

और वह उन्हें प्राप्त करने के लिये शिव-पार्वती की पूजा करने लगती है। प्रेमी को प्राप्त करने का यह लोभ ही इन दैवी पात्रों के प्रेम को लौकिकता का रूप देता है। प्रेम एक प्रकार का लोभ मात्र है, पर वह उच्च कोटि के विशेषोन्मुख आकर्षण के रूप में प्रकट होता है। परिचय बिना प्रेम नहीं उत्पन्न हो सकता, और परिचय साक्षात्कार अथवा गुण-श्रवण इत्यादि से होता है। रुक्मिणी के हृदय में जो प्रेम उत्पन्न होता है वह गुण-श्रवण के कारण; इसी के फल-स्वरूप वह पत्र लिखकर कृष्ण को ब्याहने के लिये बुला भेजती है।

अब स्वभाव-चित्रण को लीजिए। प्रिथीराज गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति रुक्मिणी, कृष्ण, बलराम, शिशुपाल और रुक्मी आदि के चरित्र की व्यक्तिगत विशेषताएँ हमारे सामने रखते हैं। महाराज प्रिथीराज का चरित्र-चित्रण जायसी की भाँति एकदेश-व्यापी है, तुलसीदास की भाँति सर्वांगपूर्ण नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि महाराज का कोई भी एक पात्र दया, वीरता, शील, सौंदर्य और प्रेम इत्यादि सब गुणों का आगार नहीं है। रुक्मिणी प्रेम का आदर्श है; बलराम वीरता के तथा कृष्ण रूप-सौंदर्य और सत्य के आदर्श हैं। व्यक्तिगत मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं का वर्णन रुक्मी और शिशुपाल के चरित्र में झलकता है। दोनों ही घमंडी और मिथ्याभिमानी हैं और दूसरों के समझाने की परवाह नहीं करते।

रुक्मिणी कृष्ण को पत्र भेजती है। उसमें श्रीकृष्ण-रुक्मिणी के आंतरिक प्रीति, उसके निदर्शन की भावुकता एवं स्वाभाविकता की व्यंजना कैसी सुंदर है। कुछ दोहले यहाँ उद्धृत करते हैं—

बळि बंधण मूझ स्याळ सिंघ बळि, प्रासै जो वीजौ परणै।
कपिल धेनु दिन पात्र कसाई, तुळसी करि चंडाल तणै॥

(हे बलि को बाँधनेवाले भगवान् कृष्ण! यदि आपके सिवा मुझे कोई दूसरा ब्याहेगा तो यह काम ऐसा निकृष्ट होगा, जैसे सिंह की बलि को गीदड़ खा जाय; कपिल धेनु कसाई के हाथ पड़े और तुलसीदल चांडाल के हाथ में आ जाय।)

हरि हुए वराह हये हरिणाकस, हूँ उधरी पाताळ हूँ।
कहौ तई करणामै केसव, सीख दीध किण तुम्हाँ सूँ॥

(हे करुणामय केशव! आपने वराह अवतार धारण करके हिरण्याक्ष राक्षस को मारकर (पृथ्वी के रूप में) मेरा पाताल से उद्धार किया था; बतलाइए, उस समय आपको किसने (मेरा उद्धार करने की) शिक्षा दी थी।)

रामावतारि वहै रिणि रावण, किसी सीख करुणाकरण।
हूँ ऊधरी त्रिकुटगढ़ हूँती, हरि बँधे बेळा हरण॥

(हे दयामय ! आपने, सीता के अवतार में, समुद्र को बाँधकर किसकी शिक्षा से रणक्षेत्र में रावण को मारा था और लंका से मेरा उद्धार किया था।)

चौथीआ बार बाहर करि चत्रभुज, संख चक्र धर गदा सरोज।
मुख करि किसूँ कहीजै माहव, अंतरजामी सूँ आळोंज॥

(हे शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाले चतुर्भुज भगवान् कृष्ण ! यह चौथी बार है। इस समय मेरी सहायता कीजिए। हे कृष्ण! आप अंतर्यामी हैं। आपसे मन का विचार मुँह से कैसे कहूँ।)

तथापि रहे न हूँ सकूँ बकूँ तिणि, त्रिया अनै प्रेम आतुरी।
राज दूरि द्वारका विराजो, दिन नेड़उ आइयो दुरी॥

(हे भगवान् कृष्ण ! तो भी मैं कहे बिना नहीं रह सकती, अतः कहती हूँ। क्योंकि एक तो मैं अबला हूँ और फिर प्रेम से आतुर हूँ। आप तो दूर स्थान द्वारका में विराजते हैं और वह अनिष्ट का दिन नजदीक आ गया है।)

अब प्रभात-वर्णन भी देखिए—

वाणिजाँ वधू गो बाछ असइ विट, चोर चकव विप्र तीरथ वेळ।
सूर प्रगटि एतला समापिया, मिळियाँ विरह विरहियाँ मेळ॥

(सूर्य ने उदय होकर वणिक् और उसकी स्त्री, गाय और बछड़ा, व्यभिचारी और व्यभिचारिणी, जो रात्रि में संयुक्त थे, तथा चोर और उसकी स्त्री, चकवा और चकवी, ब्राह्मण और समुद्र-तट, इनको क्रमशः वियोग और संयोग का दान दिया। अर्थात् दिन होने पर वणिक् अपनी स्त्री से, गाय अपने बछड़े से, व्यभिचारी व्यभिचारिणी स्त्री से वियुक्त हो गए तथा चोर अपनी स्त्री से और चक्रवाक चक्रवाकी से संयुक्त हो गए तथा ब्राह्मण समुद्र-तट पर स्नान-संध्या करने को पहुँच गए।)

संयोगिणीचीर रई कैरव श्री, घर हट ताळ अमर गोघोख।
दिणयर ऊगि एतला दीधा, मोखियाँ बँध बँधियाँ मोख॥

(सूर्य के उदय होने से संयोगिनो स्त्रियों के वस्त्र-बंधन रति-क्रीड़ा करने से शिथिल हो जाते हैं, प्रात:काल लज्जावश वे उन्हें पुन: बाँधती हैं। दही मथने के लिये रई, जो रात्रि में खुली पड़ी थी, सूर्य उदय होते ही पुनः बाँधी जाती है। कुमुदिनी, जो रात्रि में मुक्तावस्था में थी, फिर सकुचाकर बंद हो गई है। इनके विपरीत घरों के द्वार, दूकानें और उनके लगे हुए ताले, जो चोर इत्यादि के भय से बंद थे, खुल गए हैं और पशु भी, जो गोशालाओं में बंद थे, चरने के लिये मुक्त कर दिए गए हैं।)

ग्रीष्म-वर्णन में राजस्थान की गर्मी तथा लू का बड़ा ही अनुभव-सिद्ध वर्णन है। राजस्थान में वर्षा ऋतु सब ऋतुओं में रमणीय होती है; खासकर बीकानेर का श्रावण जिसके विषय में राजस्थान में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

सीयाळे खाटू भली, ऊन्हाळै अजमेर।
नागाणो नितही भलो, साँवण बीकानेर॥

अतएव यह वर्णन उनके नित्य के अनुभवों का फल-स्वरूप है और अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक तथा काव्य-गुण-संपन्न है।

काळी करि कांठळि ऊजळ कोरण, धारे स्रावण धरहरिया।
गळि चलिया दसो दिसि जळग्रभ, थंभि न विरहिणी नयण थिया॥

(जिनका मध्य भाग काले रंग का है और जिनकी कोरें उज्ज्वल रंग की हैं ऐसे बादल श्रावण के महीने में मूसलधार बरसने लगे। दसों दिशाओं में मेघों का जल गलकर गिरने लगा और वे बरसते हुए रुके नहीं किंतु विरहिणी के नेत्र हो गए। जिस प्रकार विरहिणी के नेत्र दिन-रात आँसू बहाते हैं उसी प्रकार वे भी दिन-रात बरसते हैं।)

बरसतै दड़ड़ नड़ अनड़ बाजिया, सघण गाजियौ गुहिर सदि।
जळनिधि ही सामाइ नहीं जळ, जळवाळा न सामाइ जळदि ॥

(गहरे बादल गंभीर शब्द से गरजने लगे और उस समय नाले और पहाड़ी झरने 'दड़ड़ दड़ड़' का घोर शब्द करते हुए बहने लगे। इतना पानी बरसा कि वह समुद्र में भी नहीं समाता और बिजली इस तरह चमक रही है कि बादलों में नहीं समाती।)

वर्षा हो गई है; अब उसका फल भी देखिए—

तरुलता पल्लवित तृणे अंकुरित, नीळाणी नीळंबर न्याइ।
प्रथमी नदि मैं हार पहरिया, पहिरे दादुर नूपुर पाइ ॥

(वृक्ष और लताएँ पल्लवित हो गई हैं। तृणों में अंकुर निकल आए हैं। पृथ्वी हरी साड़ी पहने हुई नायिका की भाँति हरी हो गई है। नदियाँ बह रही हैं; वे ही मानों उसके हार हैं। दादुर, जो जल के अभाव से सूखे हुए पड़े थे, वर्षा होने से 'डरूँ डरूँ' शब्द कर रहे हैं; वे ऐसे मालूम होते हैं मानों उस पृथ्वी-रूपी नायिका ने पगों में नूपुर पहन लिए हैं।)

काजळ गिरि धार रेख काजळ करि, कटि मेखळा पयोधि कटि।
मामोलौ बिंदुलौ कूँकूँमैं, प्रिथिमी दीध निलाट पटि ॥

(वर्षा से भीगे हुए काले काले पर्वतों की श्रेणियाँ ही मानों उस नायिका की आँखों में काजल की रेखाएँ हैं। कटि में समुद्र ही मानों करधनी है और पृथ्वी पर जो बीरबहूटी दिखलाई दे रही है वही मानों उस नायिका के ललाट में लगाई हुई कुंकुम की बिंदी है।)

वसंत-वर्णन कवि ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। परंतु ऋतुराज की महफिल का वर्णन करने में तो उन्होंने कलम तोड़ दी है, कमाल कर दिया है। परंतु यह उनके लिये कोई नई बात नहीं है। वे मुगल-सम्राट् अकबर के दरबार में रहा करते थे—एक साधारण दरबारी की तरह नहीं वरन् उसकी महफिल के एक

प्रतिष्ठित व्यक्ति की हैसियत से। यहाँ तक कि उनकी मृत्यु पर स्वयं अकबर ने ही कहा है।

"पीथल सूँ मजलिस गई, तानसेन सूँ राग।
रीझ बोल हँसि खेलबो, गयो बीरबल साथ॥"

अकबर की महफिल में सारे सामान उपलब्ध थे जिससे कवि को महफिल के वर्णन में अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। अब महफिल की छटा भी देखिए—

आगळि रितुराय मंडियौ अवसर मंडप वन नीझरण मृदंग।
पंचबाण नायक गायक पिक बसुह रंग मेळगर विहंग॥

(ऋतुराज के आगे महफिल लगी है, जिसमें वन ही मंडप है, निर्झर ही मृदंग हैं, कामदेव ही उत्सव-नायक है, कोयल ही गायक है और पक्षी ही उस रंगभूमि में एकत्र दर्शकगण हैं।)

कळहंस जाणगर मोर निरत कर पवन तालधर ताल-पत्र।
आरि तंतसर भमर उपंगी तीवट उघट चकोर तत्र॥

(वहाँ राजहंस ही कला के जाननेवाले हैं, मोर ही नर्त्तक हैं, पवन ताल देनेवाला है, पत्ते ही करताल हैं, झिल्ली की झंकार ही तार के बाजों का स्वर है, भ्रमर नसतरंग बजानेवाला है और चकोर ही वहाँ त्रिवट ताल देनेवाला है।)

विधि-पाठक सुक सारस रस-वंछक कोविद खंजरीट गतिकार।
प्रगलभ लागदाट पारेवा विदुर वेस चक्रवाक विहार॥

(तोता वहाँ विधि बतलानेवाला है, सारस ही रसज्ञ है, चतुर खंजन पक्षी ही गतें लेनेवाला है, कबूतर लाग-डाँट में चतुर है और चकवे की क्रीड़ा ही विदूषक का अभिनय है।)

आंगणि जळ तिरप उरप अलि पिअति मरुत चक्र फिरि लियत मरू।
रामसरी खुमरी लग्गी रट धूमा माठा चंद्र धरू॥

(भ्रमर (वनस्थली के) आँगन में पड़े हुए जल को पी रहे हैं (अर्थात् जल-पृष्ठ को छूते हुए थिरक थिरककर उड़ रहे हैं), वह मानों त्रिसम ताल पर नृत्य-विशेष (उड़प) हो रहा है, वायु का चक्राकार घूमना ही मानों मूर्छना लेना है, रामसरी और खुमरी नामक चिड़ियाँ अपने शब्द की रट लगा रही हैं वही मानों मधुर ध्रुवा और चंद्रक-ध्रुवा नामक रागिनियाँ हो रही हैं ।)

निगर भर तरुवर सघण छाँह निसि पुहपित अति दीपगर पव्लास ।
मौरित अंब रीझ रोमांचित हरखि विकास कमळकृत हास ॥

(भरे हुए घने वृक्षों की सघन छाया ही रात्रि है, पुष्पों से लदे हुए पलाश वृक्ष ही मानों बहुत से दीपकों की दीवटें हैं, आम्र का मंजरीयुक्त होना ही मानों ऋतुराज की महफिल का रीझकर पुलकित होना है और कमलों का खिलना ही उस महफिल में हर्षित होकर किया गया हास्य है ।)

बेलि के पिछले दोहलों में व्यंजित आत्मश्लाघा और आत्माभिमान का भाव रुचिकर नहीं प्रतीत होता । शुरू होते ही यह ऐसा मालूम होने लगता है मानों कथासूत्र टूट गया है और कवि अपनी प्रतिभा के धक्के से घसीटकर इसे अंत तक ले गया है। कथा-सूत्र को घसीटने के लिये प्रत्यक्ष ही कवि ने 'बेलि' को मनवांछित फल, सुख, जप, तप, दान और तीर्थ का फल देनेवाली और मंत्र, भूत-प्रेत इत्यादि के कष्टों का निवारण करनेवाली, यहाँ तक कि पृथ्वी पर स्वर्ग-लोक (मुक्ति) की निःश्रेणी भी बताया है—

"मुगित तणी नीसरणी मंडी सरग लोक सोपन इळ ।"

बिहारी की सतसई की प्रशंसा में कहा गया है—

"सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर ।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर ॥"

भवभूति उनसे भी आगे बढ़ जाते हैं और कहते हैं—

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयंत्यवज्ञां
जानंति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ।
संमत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥"

यदि देखा जाय तो प्रायः सभी बड़े बड़े कवियों में आत्मश्लाघा का भाव आया ही है, पर प्रिथीराजजी इनसे कुछ आगे बढ़े हुए प्रतीत होते हैं।

इसके बाद पाठकों का ध्यान हम 'वेलि' के संपादन की ओर दिलाते हैं। 'वेलि' के वर्त्तमान रूप को देखने से टैसीटरी की पूर्व-संपादित प्रति पर स्पष्टतः सुधार किया गया प्रतीत होता है। पाठांतर, शब्दनोट, शब्द-कोश, संस्कृत और ढूँढाड़ी टीकाएँ परिशिष्ट में देकर पाठकों की कठिनाइयाँ दूर कर दी गई हैं। हमारी समझ में संपादकों ने ढूँढाड़ी टीका को प्रकाशित करके केवल ग्रंथ की उपयोगिता ही नहीं बढ़ा दी है; वरन् राजस्थानी गद्य का एक नमूना भी, जिसमें प्रसाद-युक्त गद्य-शैली की सरलता पाई जाती है, हिंदी-जगत् के सामने रखा है। परंतु साथ ही कुछ ऐसी बातें भी हैं जो संपादकों के दृष्टि-कोण से बच गई हैं। शब्दनोट बहुत अधिक दिए गए हैं जिससे पाठक ऊब जाते हैं। परंतु यह देखते हुए कि यह इस भाषा का प्रथम ग्रंथ है, वे उपयुक्त ही प्रतीत होते हैं। शब्द-कोश में सिर्फ डिंगल के शब्द रखे जाने चाहिएँ थे, परंतु उसमें कहीं कहीं हिंदी के शब्द भी आ गए हैं। अर्थ करने में भी कहीं कहीं भूल हुई है। उदाहरण के लिये ३४वाँ दोहला लीजिए। उसमें 'वरसाळू वाहळा' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनका अर्थ किया गया है 'अत्यधिक पानीवाले, बरसने को उद्यत, बादल की भाँति रुक्मी कुपित होकर उफन पड़ा'। कवि का आशय रुक्मी के व्यर्थ थोथे घमंड से है। बरसनेवाला बादल जब गरजता है तब उसका गरजना

व्यर्थ नहीं होता, वरन् उसके फल-स्वरूप वह पानी बरसाता है। ऐसा अर्थ न करके यदि इन शब्दों से बरसाती नाले का अर्थ लिया जाता (जैसा कि टिप्पण में दिया गया है) तो अच्छा होता, जो पानी के बरसने से बड़ी तेजी से 'खळळ खळळ' शब्द करता हुआ बहता है। उसका शब्द करना बरसनेवाले बादल की भाँति फल देनेवाला तो होता नहीं, प्रत्युत विलकुल निरर्थक और थोथा होता है। महाकवि तुलसीदासजी ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है—

"क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई। जनु थोरेहि धन खल बौराई॥"

आशा है, द्वितीय संस्करण में सुधार हो जायगा।

इस संबंध में हम उन भारतीय विश्वविद्यालयों का ध्यान अवश्य इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिन्होंने राष्ट्रभाषा हिंदी को गौरवान्वित कर हिंदी के उद्धार का पथ-प्रदर्शन किया है। जहाँ तक हमारा विचार है, यह पुस्तक पहले भी कलकत्ता विश्व-विद्यालय के एम० ए० के वैकल्पिक कोर्स में रह चुकी है और इसी प्रकार कुछ वर्ष काशी-विश्वविद्यालय में भी। परंतु उस समय 'वेलि' का ऐसा सरल, सुपाठ्य रूप उपलब्ध नहीं था। उन संस्थाओं को अब फिर से इस ग्रंथ-रत्न को पाठ्य-क्रम में स्थान देकर हिंदी के प्राचीन साहित्य-भंडार को सुपुष्ट और संवृद्ध कर राजस्थानी और हिंदी के प्राचीनतम संबंध को संगठित करना चाहिए। इससे न केवल राजस्थानी की ही श्रीवृद्धि होगी वरन् साथ ही हिंदी के पूर्व-रूप के विकास-सूत्र का अनुसंधान करने के लिये पाठकों को अच्छा साधन उपलब्ध होगा, क्योंकि राजस्थानी और खड़ी बोली हिंदी का प्रारंभ ही से चोली-दामन का साथ रहा है।

---

(६) महाभारत का फारसी अनुवाद

[लेखक—मुंशी महेशप्रसाद, काशी]

महाभारत भारतीय-साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की वस्तु है। यही कारण है कि उसका अनुवाद संसार की अनेक भाषाओं में हो चुका है।

भारतवर्ष में बहुत दिनों तक फारसी का जोर रहा है। उस काल में अनेक संस्कृत पुस्तकों के अनुवाद फारसी में हुए हैं जिनमें से एक महाभारत भी है। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत ग्रंथों के फारसी अनुवाद के संबंध में सबसे अधिक महत्त्व अकबरी काल को प्राप्त है और वह निर्विवाद रूप से इस योग्य है भी। पर ऐसा पता चलता है कि महाभारत का अनुवाद सबसे पहले काश्मीर के राजा सुल्तान जैनुल् आब्दीन ने अपने राज्य-काल (सन् १४२३-१४७३ ई०) में कराया था[१]।

उक्त अनुवाद की कोई प्रति न तो मेरी दृष्टि में आई है और न मैं यही जान सका हूँ कि वह संसार के किसी पुस्तकालय में है भी। अतः अपनी ओर से मैं इस विषय में कुछ नहीं कह सकता कि वह अनुवाद कैसा हुआ है। हाँ, फरिश्तः से ही यह पता चलता है कि वह अनुवाद भाषा की दृष्टि से अच्छा न था—

ودر زمان اکبر بادشاه ترجمه مهابهارت را که بد عبارت
بود بار دیگر بعبارت فصیح آوردند ۲

---

(१) तारीख फरिश्तः; भाग दूसरा, अध्याय (मकाला) दसवाँ—पृष्ठ ३४४। (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित, सन् १९०५ ई०)

(२) तारीख फरिश्तः—पृष्ठ ३४४।

इसके पश्चात् महाभारत के जिस फारसी अनुवाद का पता चलता है वह सम्राट् अकबर के समय का है। इस कार्य के लिये कई विद्वान् नियुक्त किए गए थे। सन् १५८२ ई० में यह कार्य आरंभ किया गया था और लगभग चार वर्षों में समाप्त हुआ था।

इसकी संक्षिप्त रामकहानी यह है कि अकबर के समय में जब मुसलमानों द्वारा लिखित किस्से-कहानियों की कई मोटी मोटी पुस्तकों का अनुवाद हुआ और उनके लिये बहुत सा धन एवं समय व्यय किया गया तब अकबर को एक दिन ख्याल आया कि क्यों न हिंदुओं के उन माननीय ग्रंथों का अनुवाद कराया जाय जो धर्म तथा शिक्षा की बातों से परिपूर्ण हों। यह विचार कर सम्राट् ने एक दिन कुछ विद्वानों को एकत्र किया और महाभारत का अनुवाद करने की आज्ञा दी। परंतु सबसे पहले उसने नकीबखाँ को स्वयं कुछ बातें बतलाईं और उन्हें फारसी में लिखने को कहा। इसके बाद अब्दुल कादिर बदायूँनी को भी इस कार्य में लगाया। तीन-चार महीने में केवल दो पर्वों का अनुवाद हो सका। फिर मुल्ला शीरीं और सुलतान हाजी थानेसरी ने इसमें हाथ लगाया और कार्य समाप्त हुआ।

इन लोगों के पश्चात् कवि-सम्राट् फैजी ने अनुवाद की देख-भाल की। पर अंत में सुलतान थानेसरी ने ही सारे अनुवाद को पूर्ण रूप से देखा और उसमें यथोचित संशोधन किया। सम्राट् ने पुस्तक का नाम रज़्मनामः (رزم‌نامه) अर्थात् 'युद्ध का ग्रंथ' रखा। कवि-सम्राट् फैजी के भ्राता विद्वद्वर अबुल् फजल ने भूमिका लिखी। अंत में वह प्रति अनेक चित्रों से अलंकृत होकर सम्राट् के पुस्तकालय में रखी गई और दर्बार के प्रत्येक अमीर ने उसकी एक एक नकल ली[१]।

---

(१) मुंतखबुत्तवारीख, भाग दूसरा—पृष्ठ ३१९-३२१ (कालज प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित, सन् १८६९ ई०)

हाँ, यह भी जान लेना चाहिए कि विद्वद्वर अबुल् फजल ने इस अनुवाद के संबंध में केवल तीन व्यक्तियों—नकीब खाँ, मौलाना अब्दुल कादिर बदायूँनी और शेख सुल्तान थानेसरी—का ही नाम लिखा है[1]।

नमूने के रूप में इस अनुवाद के शांतिपर्व के 'आपद्धर्म' अध्याय से कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

چون بهیکم پتامه قواعد سلطنت و آداب جهانداري و لوازم آن با راجه جدهشتر گفت جدهشتر پرسید که انچه شما فرمودید ضوابط آنست که بادشاهان و ارباب دولت را در زمان سلطنت بکار آید اما اگر معاذالله کسے را حادثه دست دهد و از گردش زمانه ناساز گار بفلاکت و ادبار گرفتار گردد و مال و خزینه در دست او نمانده باشد و هر طرف دشمنان برو هجوم آرند بمرتبه که چاره کار از دست او بیرون بیان فرمائید که اورا چه باید کرد تا باز بحالت اصلی آید—

उक्त अंश को मूल संस्कृत से मिलाने पर मैं इस नतीजे को पहुँचा हूँ कि अनुवाद वास्तव में भावार्थ है। समस्त गद्यानुवाद में कहीं कहीं पद्य की भी मात्रा है। यह सारा अनुवाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से—बड़े आकार के लगभग ढाई हजार पृष्ठों में—प्रकाशित हो चुका है।

इस मुद्रित प्रति के सिवा इसी अनुवाद की हस्त-लिखित प्रतियाँ काशी, प्रयाग, बाँकीपुर और सहसराम आदि स्थानों में भी मेरे देखने में आई हैं परंतु सब में थोड़ा सा पाठांतर मुझे मिला। हाँ, यह भी जान लेना चाहिए कि अनेक पुस्तकालयों की सूचियों में भी फारसी महाभारत की प्रतियों का उल्लेख अवश्य है पर उनके लिये निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे प्रतियाँ अकबर के उद्योग की ही नकलें हैं अथवा अन्य लोगों के पृथक् पृथक् उद्योग के फल हैं।

---

(१) आईन-अकबरी, प्रथम भाग—पृष्ठ ७६। (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित, सन् १८९३ ई०)
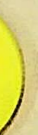
(१०) भोजपुरी ग्राम-गीतों में गौरी का स्थान

[लेखक—श्री दुर्गाप्रसादसिंह]

भोजपुरी ग्राम-गीतों में हमारी अपढ़ कवयित्रियों ने गौरी को भिन्न भिन्न रूपों में बड़ी सफलता के साथ चित्रित किया है। पाठक उन्हें देखकर विचार करें कि उनकी कल्पना में वस्तुतः रस, प्रसाद, माधुर्य्य, स्वाभाविकता और मनोविनोद की कुछ सामग्री है या वे ग्रामीण मस्तिष्क की उपज होने ही के कारण त्याज्य हैं।

ग्राम-गीतों में जैसे दशरथ की गृहस्थी आदर्श मानी गई है वैसे ही शिव और गौरी का संबंध भी दांपत्य-जीवन के लिये आदर्श समझा गया है। राम और सीता में इसके आदर्श हैं; किंतु दूसरे रूप में—राजसी ठाट-बाट के साथ। यद्यपि उनका भी दांपत्य-जीवन अपनी अपनी कल्पना और परिस्थिति के अनुसार ही निश्चित किया गया है; किंतु उसमें राजस भाव किसी न किसी रूप में आ ही गए हैं। परंतु शिव और गौरी को स्त्री-समुदाय ने दरिद्र, तापस और साधारण रूप से सर्वत्र विचरण करनेवाले समझकर अधिक अपनाया है और उनके प्रति कल्पना भी बहुत स्वतंत्रता-पूर्वक की गई है। शिव-गौरी के दांपत्य-जीवन का वर्णन प्रायः सर्वत्र हास्य, करुण और रौद्र रस में किया गया है। इन्हीं रसों में गौरी का स्वाभाविक सरल स्त्री-हृदय, अपनी अपनी परिस्थिति, कल्पना-शक्ति और विचार के अनुसार, चित्रित किया गया है जिसके देखने और मनन करने से ही खूबियाँ प्रकट होती हैं। उसमें जहाँ स्वाभाविकता, प्रसाद और सरलता की भरमार है वहाँ रस-निर्वाह की पूर्णता और चुस्ती सर्वत्र अनोखे ढंग से देखने को मिलती है। जिस प्रकार वाल्मीकि ने त्यागमूर्ति सीता को

बाल्यकाल से लेकर अंत तक, विचित्र तूलिका से चित्रित करके, अंत में उन्हें राम के सम्मुख ही पृथ्वी को समर्पित कर दिया है और दर्शकों तथा राम के हृदय पर एक विलक्षण आनंदमिश्रित संतुष्टि से पूर्ण क्षोभ और कसक को सदा के लिये रख छोड़ा है उसी प्रकार हमारी गौरी को भी अपढ़ स्त्री-समुदाय ने दांपत्य-जीवन के सभी रूपों में अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार कल्पित कर अंत में वसुंधरा के हवाले किया है और शिव से, उनके कठोर कृत्यों पर, बार बार क्षमा-याचना भी कराई है। इस क्षेत्र में दोनों पठित और अपठित कल्पनाओं का साम्य तनिक विचारने का विषय है। साथ ही इन दोनों संस्कृत और असंस्कृत कल्पनाओं द्वारा निश्चित स्त्री-जाति का निर्मम आत्मोत्सर्ग और पुरुष-जाति की स्वार्थमयी क्रूरता हम लोगों को स्त्री और पुरुष जाति का स्वभाव निर्विवाद रूप से अवगत करा देती है। अब गीतों के नमूने देखिए।

विवाह का समय है। शिव अपने अद्भुत साज-सामान से बारात ले आए हैं। उसको देख मेना का मातृ-हृदय बिलख उठा। मेना ने झट निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो, ऐसे बैराह वर से गौरी का विवाह कदापि न होगा। रंग-भंग होते देख गौरी ने हस्तक्षेप किया। मा-बेटी का तर्क-वितर्क और अंत में बेटी का शिव के प्रेम पर संतोषपूर्वक आत्मोत्सर्ग करना कितना सुंदर, स्वाभाविक तथा हृद्गत भावों का द्योतक है—यह देखते ही बनता है। बारात और शिव का वर्णन कितना संक्षिप्त, साथ ही कितना सजीव है। सुनिए—

धीमिर धीमिर डमरू बाजेला सिव भइले असवार।
बसहा बएल चढ़ि ऊमत आवेले ऊमत देखलो ना जाय॥
धिआ ले में उड़बि, धिआ ले में बूड़बि, धिआ ले में खिलबों पताल।
अइसना बैराह बर के धिआ ना में देबों, बलु गौरा रहिहें कुँआर॥

जनि आमा ऊड़हु, जनि आमा बूड़हु, जनि आमा खिलहू पताल।
पुरुब जनम केरा लिखल तपसिआ से कइसे मेटल जाय ॥
जाटा देखि डेरइवू हो बेटी, भभूति देखि जरि छार।
सवति देखि बेटी मनहीं झुरइवू कवना बिधि भुगुतबू राज ॥
जाटा मोरा लेखे अगर-चंदन भभूति मोरा अहिवात।
सवति मोरा लेखे सखिया-सहेलरि ओहि बिधि भुगुतवि राज ॥

कन्या के विवाह में माता केवल दो वस्तुओं को सर्व-प्रथम देखना चाहती है—एक वर, दूसरी बारात। इन्हीं दोनों को देखकर वह अपनी कन्या के भावी सुख-दुःख की कल्पना कर लेती है। सो मेना की तृषित आँखों के सामने दोनों वस्तुएँ निराले ही ढंग से उपस्थित हुई। लहलहाती खेती पर बिजली गिर पड़ी, आशा-लतिका पर पाला पड़ गया। "धीमे धीमे डमरू बजता है। शिवजी (उसी स्वर में) सवार हुए। बसहा बैल पर चढ़े झूमते हुए (ऊँघते हुए) चले आ रहे हैं। (उनका) यह ऊँघना (मुझसे) देखा भी तो नहीं जाता।"—इतना कहकर और अपनी प्यारी कन्या का सर्वनाश सामने देखकर मेना ने बिना किसी सलाह-मशविरा के—गौरी के पिता से बिना पूछ-ताछ किए—झट अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया—"मैं कन्या को लेकर उड़ जाऊँगी, कन्या को लेकर डूब मरूँगी अथवा कन्या को लेकर पाताल में समा जाऊँगी; (किंतु) ऐसे बौराहे वर को मैं कन्या नहीं दूँगी, चाहे वह क्वाँरी ही क्यों न रहे।"

जनकपुर की स्वयंवर-सभा में धनुष न टूटते देख, पृथ्वी को वीर-विहीन जानकर, जनक ने घोषणा की थी—

तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहिबिआहू ॥
सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहौ का करऊँ ॥
जौ जनत्यउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पन करि होत्यौं न हँसाई ॥

लेकिन इस घोषणा में तो अपने यश और गौरव का ही विचार अधिक था, लौकिक धर्म और सामाजिक प्रथा का स्वार्थपूर्ण ख्याल ही अधिक था; पितृ-हृदय की ममता और कन्या का प्यार बिलकुल नहीं था। भीतर से सीता की माता ने भी—

"सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे॥
कोउ न बुझाइ कहै नृप पाहीं। ए बालक, अस हठ भल नाहीं॥"

कहकर कन्या के सर्वनाश से हृदय के भीतर दुःखित होते हुए भी अपने को समाज के अधीन समझा और कन्या के सत्यानाश का विरोध न करके अप्रत्यक्ष रूप से उसे स्वीकार ही कर लिया था, क्योंकि "मौनं स्वीकृतिलक्षणम्।"

किंतु यहाँ मेना के मातृ-हृदय ने भोली गौरी के सुख के लिये समाज क्या सारे संसार और ब्रह्मांड तक के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी और न केवल पृथ्वी वरन् आकाश-पाताल तक, जहाँ कहीं त्राण मिल सके, कन्या को लेकर भाग जाने का निश्चय कर लिया। और इतने पर भी यदि रक्षा न हुई तो अबला का प्राण-विसर्जन वाला उपाय तो भूला नहीं था—"कन्या को लेकर मैं डूब मरूँगी।" राजपूत-वीरांगनाओं का जौहर व्रत चरितार्थ होगा किंतु ऐसे बौराहे वर से भोली गौरी का ब्याह कदापि न होगा। पाठक माता की ममता देखें। अब रहीं गौरी!

गौरी ने तो इसी पागल शिव के लिये तप किया था न! सहस्र वर्ष पर्यंत पर्वत पर समाधिस्थ हो इसी बौराहे शिव को पाने के लिये तपस्या की थी न! वे भला उस समय, जब जीवन भर का परिश्रम सफल होने को था, इस तरह एक साधारण दिखाऊ घटना से उसको मटियामेट क्यों होने देतीं? रंग बिगड़ते देख गौरी से आज-कल की कन्याओं की भाँति अन्याय होते देखकर भी चुप बैठते न बना। उन्होंने आगे बढ़ अपने विवाह का समर्थन

किया और वह भी अकाट्य तर्क और प्रमाणों के साथ। जिसके सामने तर्क की गुंजाइश नहीं वह स्त्री-हृदय सब कुछ सहने के लिये तैयार रहता है। गौरी ने कहा—"मा! तुम उड़ो मत, बूड़ो मत, पाताल में भी मत समाओ। पूर्वजन्म का लिखा हुआ (हमारे भाग्य में) तो यह तपस्वी है। यह किस तरह मिटाया जा सकता है।"

यह सुनकर माता का आवेश कार की नदी की तरह शांत और गंभीर हो गया। भवितव्यता के सम्मुख आर्य्य-ललना का मस्तक झुक गया। भीतर से हृदय के स्नेह ने साँस ली। भोली-भाली, सुकुमार, सभय और नन्हीं गौरी का स्मरण हो आया। कहा—"हे बेटी! जटा देखकर तुम डरोगी। विभूति देखकर तुम जलकर राख हो जाओगी। सौत देखकर तुम मन ही मन सूख जाओगी। भला किस तरह तुम 'अहिवात का राज' भोगोगी।"

इस वाक्य के द्वारा मेना ने गौरी के सामने अपने हृदय-मंथन का चित्र उपस्थित कर दिया। गौरी ने उसे आँखों के सामने मूर्त्तिमान् देखा। भावी कष्ट की एक पतली रेखा उस चित्र के आरपार दीख पड़ी। किंतु स्त्री-हृदय के अगाध और निर्मम प्रेम की तीखी ज्योति ने उसको तुरंत मलिन कर दिया। पति-प्रेम पर गौरी का जीवन उत्सर्ग हो गया। किंतु मेना की सांत्वना के लिये कुछ कहने की आवश्यकता हुई। कहा वही जिसको स्त्री-समुदाय गुरु-मंत्र जानकर जपा करता है। वाह रे आत्मोत्सर्ग! "हे मा! जटा तो मेरे लिये अगर-चंदन होगी; विभूति (भस्म) मेरा अहिवात होगी; और सौत मेरे लिये सखी-सहेलियाँ होंगी। हे मा! इस तरह (इस संतोष-कवच को पहनकर) मैं 'अहिवात का राज' भोगूँगी।" पाठक, इसका मनन करें।

विवाह के समय गौरी का एक दूसरा रूप देखिए—

ए जीव ! गउरा अइसन ज्ञानी सदासिव तेकर बर बउराह।
बाजत आवेला ढोल-दमामा उड़इत आवेला निसान॥
सिवजी का माथे डुगडुगिआ बाजे बएल पर असवार।
परिछे बहर भइली सासु मदागिन सरप छोड़ेला फुफुकार॥
लोरहा पटकलिन सूप पेबइलिन पाछा पराइल जाय।
कलसा का ओटे ओटे गउरा मिनती करे सिवजी से अरज हमार॥
रचि एक ए सिव भेख उतारीं नइहर लोग पतिआय।
जाटा उतरले भभूति उतरले गंगा कइले असनान॥
आठव अंग सिव चंदन चढ़वले माह मड़उआ भइले ठाढ़।
कहाँ गइली सासु कहाँ गइली सरहज अब रूप देखसु हमार॥
इहे सिव हउए तीन लोक के ठाकुर देखत पाप पराय।
ए जीव गउरा.....॥

हे सखी ! गौरी इतनी ज्ञानी हैं किंतु उनके वर सदाशिव बौराहे हैं। ढोल और डंका बजता आ रहा है। निसान फहराता हुआ चला आ रहा है। शिवजी के मस्तक पर डुग-डुगी (डमरू) बज रही है। वे बैल पर सवार हैं। सास मदागिन परीछने के लिये बाहर निकलीं तो सर्प फुफकार छोड़ने लगा। उन्होंने लोढ़े को पटक दिया और सूप को फेंककर पीछे भागना शुरू किया। कलश की ओट से गौरी ने विनती की— "शिवजी ! आपसे हमारी एक प्रार्थना है। हे शिव, तनिक अपना भेस उतारिए जिससे मायके के लोग विश्वास कर सकें (कि शिव पागल नहीं हैं)।" शिव ने जटा हटा दी, भस्म को मिटा डाला और गंगा में स्नान किया। उन्होंने अष्टांग में चंदन लगाया और वे बीच मंडप में खड़े हुए। बोले—सास कहाँ गईं ? सरहज

कहाँ गई ? (आवें,) अब हमारे रूप को देखें। यही शिव तीन लोक का ठाकुर है। इसको देखते ही पाप भाग जाता है।

इस गीत में गौरी का विवाह बिलकुल आधुनिक विवाह-विधि के अनुसार अंकित है। इसमें कितनी चुस्ती और स्वाभाविकता है तथा कितनी पुष्ट वर्णन-शैली है। यहाँ गौरी, प्रथम गीत में वर्णित गौरी की तरह, माँ से तर्क-वितर्क नहीं करतीं बल्कि वे आज-कल की लज्जाशील कन्या की तरह कलश की ओट से ही शिव से अपना रूप बदलने के लिये प्रार्थना करती हैं, जिससे उनके मायके के लोगों में प्रचलित यह अपवाद, कि शिव बौराहा है, मिट जाय। भोली गौरी के भोले हृदय का कितना सुंदर और स्वाभाविक रूप चित्रित किया गया है। कन्या अपने पति का अपवाद—विशेषकर अपने मायके और सखी-सहेलियों में—कदापि नहीं सुनना चाहती। इसी से, लज्जा के लाख मना करने पर भी, गौरी ने कलश की ओट से शिव से रूप-परिवर्तन के लिये प्रार्थना की और वह भी अपने लिये नहीं—शिव से उनका तो पुरातन परिचय था—केवल अपने मायके-वालों और अपनी दुखी माता को यह विश्वास दिलाने के लिये कि शिव पागल नहीं वरन् तीन लोक के ठाकुर हैं।

अब जरा विवाह के अनंतर किशोरी गौरी को देखिए। गौरी की किशोरावस्था थी। अल्हड़ और लज्जाशील यौवन का कुछ-कुछ आभास होने लगा था। पुरुष और स्त्री-जाति के भेद-ज्ञान अथवा समाज की लौकिक प्रथा के विचार से भी वे अनभिज्ञ न थीं। विवाह होते समय उन्होंने शिव को मंडप में दूसरे रूप में देखा था—सो भी लज्जावश। देखने की कुछ वैसी चाह भी न थी। भीड़ से भयभीत चंचल नेत्र स्वयं ही विकल थे; उन्हें इतना अवकाश कहाँ कि वे उधर निहारें।

फूल लोरूहे चलली गउरादेई राम ओहो फुलवारी।
बसहा चढ़ल महादेव लावेले गोहारी॥

फूल जनि लोढ़ ए गउरा रामा हमरी दोहाई।
लोढ़ल फुलवा ए गउरा देबों छितराई॥
उहवाँ से अइली गउरादेई राम बइठे मन मारी।
पूछेली माई मदागिन बिलम कहाँ होई॥
हमरा से का पूछेलू आमा राम पूछ सखिया से।
बसहा चढ़ल महादेव राम राखे बिलमाई॥
मति तोरा गइली ए गउरा अकिलि भुलाई।
आपन पुरुसवा ए गउरा सेहू ना चिन्हाई॥

"पुष्प-चयन के लिये गौरी उसी पुष्प-वाटिका में चलीं (या जान-बूझकर माता द्वारा भेजी गईं)। बसहे बैल पर चढ़े रमते भिखारी शिव आकर पुकारने लगे। उन्होंने तोड़े हुए फूलों को बिखेर देने की धमकी दी और अपनी दोहाई देते हुए बिना आज्ञा फूल चुनने से मना किया।"

माता-पिता के यश-गौरव की बाल-सुलभ महती कल्पना ने एक रमते भिखारी के इस कृत्य पर भोली गौरी की प्रसुप्त क्रोधाग्नि को भड़का दिया। किंतु वे स्त्री थीं—अपनी कुलीनता का उन्हें गर्व था। "क्रोध को वश में करके वहाँ से घर आईं और मन मारकर बैठ गईं।" चतुर मा ने ताड़ लिया। वह पूछने लगी—"देर कहाँ हुई?" फौरन् कर्कश शब्दों में उत्तर मिला—"मुझसे क्या पूछती हो मा! सखियों से पूछ लो।" इस उत्तर में भी त्योरी चढ़ी ही रही। मा पर भी उस बाग में फूल तोड़ने भेजने के लिये क्रोध हो आया था। बात भी सच थी। यदि नहीं तो अवस्था के स्वभावानुसार दबाए गए क्रोध की कैशोर झुँझलाहट का उस समय यही आदेश था। अस्तु, चतुर प्रौढ़ सखियों ने कह सुनाया—"बसहे बैल पर चढ़े शिव ने विलमा लिया था।" मा तो यह सुनना ही चाहती थी। उसको गौरी की इस मुग्धता पर हँसी

आ गई। कदाचित् कुछ अपनी भी भूतपूर्व बातें स्मरण हो आई हों। रुककर उसने कहा—"अरे गौरी, तुम्हारी बुद्धि मारी गई! अक्ल भूल गई! वह पुरुष तो अपना ही था; वह भी नहीं पहचान पड़ा।"

इस वाक्य से मा के हृदय ने कन्या के पति-मिलन के प्रथम अवसर की असफलता पर अपना क्षोभ तथा कन्या को भविष्य के लिये वैसा न करने की चेतावनी, तीखी चुटकी की ओट से, दे दी। इस गीत की वाक्य-योजना देखने में तो साधारण और काव्य-कला-रहित सी जान पड़ती है; किंतु विचारने पर उसका रस हृदयंगम होता है। इसकी छठी और सातवीं पंक्तियाँ भी ठीक नहीं जान पड़तीं। वे कुछ खटकती हैं। कदाचित् पाठ ही गलत मिला हो।

अब प्रौढ़ा गौरी का, अपने रमते बैराहे शिव के भटक जाने पर, बिलखना देखिए। अहा! पाठक यदि इस गीत को स्त्री-कंठ से हीं सुनते तो उनके धैर्य का बाँध टूट जाता।

मोरा ऊमता बउरहवा सिव कने गइले रे माई।
भुला गइले रे माई॥
जवनी बटिए महादेव जइहें लोगवा देखि डेराई।
लोगवा देखि पराई॥
केहू नाहीं हितवा अइसन असनिया दे बइठाई।
मोरा ऊमता बउरहवा० ॥
सिवजी का गोड़वा में फटली बेवाई।
जो सिव घरवा अइतें करितीं दवाई॥
मोरा ऊमता बउरहवा०।
गाया खोजलों कासी खोजलों कतहीं ना मिले॥
सिव हुई भोला ए माई।
मोरा ऊमता बउरहवा सिव भुला गइले रे माई॥

"हे मा! मेरे ऊँघते बैाराह शिव कहाँ गए? हे मा! मेरे ऊँघते बैाराह शिव भटक गए। जिस मार्ग से महादेव जायँगे लोग देखकर डरेंगे और भागेंगे। हमारा कोई ऐसा हितू नहीं है जो आसन्न देकर उन्हें बैठावेगा। हे मा! मेरे बैाराह शिव कहाँ गए? शिवजी के पाँव में बेवाई फटी है। यदि वे घर आते तो मैं उनकी दवा करती। हे मा! हमारे बैाराह ऊँघते शिव भटक गए। मैंने गया और काशी में उन्हें खोजा। वे भोले शिव कहीं नहीं मिले। हे मा! मेरे ऊँघते बैाराह शिव भटक गए।"

इस गीत पर जितनी टीका-टिप्पणी की जाय कम है। इसमें करुण रस का कितना प्रौढ़ और सजीव चित्रण है। शिव के प्रति गौरी के हृदय की ममता, प्रेम, सेवा, वियोग-जनित दुःख, व्यग्रता और भावी संकट की कल्पना से उत्पन्न भय, शंका तथा प्रयत्नशील व्याकुलता कितनी सुंदर बन पड़ी है। भोली-भाली सती गौरी का सरल हृदय किस स्वाभाविकता और निपुणता से प्रदर्शित किया गया है कि सुनते ही जी भर आता है। इसमें अलंकार नहीं, शब्द-छटा नहीं, भूमिका और प्रस्तावना नहीं; है केवल सीधा-सादी ग्रामीण से भी ग्रामीण, पर मुहाविरेदार, भाषा में एक दुःखिता स्त्री के हृदय की एकमात्र करुणा। इसी को तो रस-निर्वाह कहते हैं कि बिना किसी कृत्रिम योजना के ही हृदय रस से परिपूर्ण हो जाय। इसी रूप से गौरी का एक दूसरा हृदय देखिए।

तूहें के बुधि देला ए ऊमता।
लाल पलँग पचरंग के तकिया खाट छाड़ि भुइआँ लोट ए ऊमता॥
साल दुसाल सिव का मनहीं ना भावे मृगाछाल ओढ़ि बइठ ए ऊमता।
खोआ मलाई सिव का मनहीं ना भावे भाँग धतूर घोरि पीअ ए ऊमता॥

सोने के गजरा मोतिन के माला सरप अनेक गले लाव ए ऊमता।
कोठा-अमारी सिव का मनहीं ना भावे टुटही मड़इआ में बइठ ए ऊमता॥
तोहें के बुधि देला ए ऊमता॥

"हे ऊमता! तुमको कौन बुद्धि देता है, कौन सिखाता है, कि लाल पलँग और पाँचों रंगों की तकिया को छोड़कर पृथ्वी पर लेट रहते हो? शाल-दुशाले शिव के मन को नहीं भाते और हे ऊमता! मृग-चर्म ओढ़कर तुम बैठ रहते हो। तुमको (ऐसी) बुद्धि कौन देता है? हे ऊँघनेवाले! तुम्हें खोआ-बालाई तो अच्छी नहीं लगती किंतु भाँग-धतूर घोंटकर पी लेते हो। सोने के गजरे और मोतियों की माला तो (मौजूद) है किंतु सर्प को गले में लपेट लेते हो। कोठा और अंबारी मन को नहीं सुहाती पर टूटी झोपड़ी में बैठे रहते हो। तुमको कौन बुद्धि देता है?"

शिव की बेढंगी आदतों से तंग आकर गौरी ममता, प्रेम और उलाहना से मिश्रित उपदेश किन किन अनोखी चुटकियों के साथ दे रही हैं। और साथ ही अपने जले-भुने हृदय का अप्रत्यक्ष रूप से व्यंग्य की आड़ लेकर किस उत्तमता के साथ इजहार भी करती जाती हैं। पाठक! यहाँ कौन नायिका है?

अब तनिक देखिए गौरी का मान, विषय-प्रतिपादन की शैली, भिखारी शिव की घर-गृहस्थी तथा मानिनी के मान को भंग करने की विधि। यह तो मानना ही पड़ेगा कि आनंद केवल बड़े बड़े प्रासादों में ही सीमाबद्ध नहीं है। जिस स्वच्छंदता से उसका उपभोग जहाँगीर की बारहदरी में होता था उसी स्वतंत्रता और सफलता से रंजी की टूटो मड़इया की टूटी खाट पर भी। भिन्नता और कुछ नहीं, केवल अनुभूति की थी।

मोर सिव मोर सिव चलले बिआह करे हो॥ आहो मो०॥
आँधी पानी घेरि अइले हो।

आँधी के अँधकाल अइले, पानी छछकाल अइले हो।
आहो भीजत भीजत सिव अइलनि ओरी तरे ठाढ़ भइले हो ॥मो०॥
खोल गौरा खोल गौरा सुबरन-केवरिआ हो ॥
आहोगौराखोलनासुबरन केवरिआ,तओरीतरे हम ठाढ़ भइली हो॥मो०॥
काँटी मोरा तेल ना, बोरसी मोरा नाहीं आगि बाड़े हो ॥
कोरवा सूतल बेटा गनपति ओरी तरे सिव लोटि रहीं हो ॥ मो० ॥
काँटी भरल तेलवा, बोरसी भरल आगि बाड़े हो ॥
खटिआ सुतल बेटा गनपति ठनगन गौरा मति कर हो ॥ मो० ॥
कँगला के धिअवा भिखरिआ के बहिनी तू।
आहो तोहरो बाप मोरा हाथे बेचलनि ठनगन गौरा मति कर हो ॥

मेरा शिव, मेरा शिव ब्याह करने चला। अरे मेरा शिव ब्याहने चला। अरे आँधी-पानी घिर आए। मेरा शिव ब्याहने चला।

आँधी का अँधेरा छा गया, मूसलधार पानी बरसने लगा। भीगते भीगते शिव आए और ओरी के नीचे, दीवाल से सटकर, खड़े हो गए।

(वे कहने लगे) हे गौरी! खोलो, खोलो; स्वर्ण-कपाट खोलो। हे गौरी! स्वर्ण-कपाट खोलो न, मैं ओरी के नीचे खड़ा हूँ।

(भीतर से गौरी ने कहा) हमारी काँटी (तेल रखने का मिट्टी का वर्तन विशेष) में तेल नहीं है, हमारी बोरसी (मिट्टी की अँगीठी) में आग नहीं है। हमारी गोद में बेटा गणपति सोया हुआ है। हे शिव! ओरी के नीचे सो रहिए।

(शिव ने कहा) अरे काँटी में तो तेल भरा हुआ है, बोरसी में आग भी भरी पड़ी है, अहो खाट पर बेटा गणपति सो रहा है। हे गौरी! मान मत करो (अधिक न मचलो, ऊधम न मचाओ)। तुम कंगाल की कन्या और भिखारी की बहन हो। तुम्हारे बाप ने तुमको हमारे हाथ वेचा है। हे गौरी! मान मत करो।

यहाँ पर हमारी दरिद्र कवयित्री की अपढ़—और हमारे विचार से असभ्य—बुद्धि ने वर्णन में बाजी मार ली है। अपनी ही ग्रामीण मान-लीला की कल्पना के अनुसार शिव-गौरी का चरित्र-चित्रण करके उसने दंपति-जीवन की हास-परिहास-मिश्रित मान-लीला को बहुत उत्तमता के साथ दिखाया है। आज भी स्त्रियों में प्रायः मायके को ही उघट-कर हास-परिहास किया जाता है। इतने भयंकर आँधी-पानी के समय भी शिव को बाहर ओरी के नीचे सो रहने के लिये गौरी का आदेश हमारे भक्त जनों को कुछ कठोर जँचेगा। किंतु एक स्त्री के रहते दूसरा ब्याह करने का हौसला बाँधने पर उन्हें कुछ सजा देना भी तो आवश्यक था, और वह भी उनकी आर्थिक (economical) दशा का स्मरण दिलाते हुए कि एक स्त्री और एक पुत्र, पर तो भी काँटो में तेल और अँगीठी में आग तथा पुत्र के लिये खाट तक का ठिकाना नहीं। दो के होने पर क्या दशा होगी ? वह ओरी के नीचे सोकर ही जान लीजिए। अर्थात् घर-द्वार भी बिक जायगा; रहने का ठिकाना भी न रहेगा। फिर शिव का, अपनी आर्थिक हीनता का खंडन करते हुए, गौरी ही के मायके को उघटना और उसको मान करने से रोकना भी कितना सुंदर और सरस उतरा है। मालूम नहीं, गीतकार ने इस दंपति-कलह का अंत किया था या नहीं। यदि नहीं तो इस रूप में उसे क्यों छोड़ा ? अस्तु; मुझे पाठ इतना ही मिला।

द्वितीय ब्याह का एक दूसरा गीत सुनिए—

आई ए माई सपना के करीं ना विचार।
कवना देस बजन एक बाजेला केकर होला बिआह ॥
तू ही यानी गौरा तू ही ज्ञानी तू ही पंडितवा के धी।
मोरन देसे बजन एक बाजेला सिवजी के होला बिआह ॥
किआ हो महादेव चोरीनी से चटनी किआ हम कोखिया-बिहीन।
किआ हो महादेव सेवा से चुकली काहे कइली दूसर बिआह ॥

नाहीं हो गौरा देई चोरिनी से चटनी नाहीं तुहूँ कोखिया-विहीन।
नाहीं ए गौरा देई सेवा से चुकलू भावी कइलसि दूसर बिग्राह॥
पहिरु गौरा देई इग्ररी से पीग्ररी सवति परिछि बलु लेहु।
किग्रा मोरी हउई जर रे जेठानी किग्रा हउई पूत-बहुग्रारि॥
इही त हई मोरा जनमे के सवति मोरा पीठी दरेली ग्रँगार।
डँड़िग्रा उघारि जब देखली गौरा देई इत हई बहिनी हमार॥
तीनु भुग्रन बहिनी वर नाहीं जूरल भइली तू सवति हमार।

"हे मा! ग्राग्रो स्वप्न का विचार करो। किस देश में बाजा बजता है ग्रौर किसका ब्याह होता है?"

"हे गौरी! तुम यानी हो, ज्ञानी हो, तुम पंडित की कन्या हो (तुम्हीं विचार करो)। मोरंग देश में एक बाजा बजता है ग्रौर शिवजी का व्याह होता है।"

गौरी ने कहा—"हे महादेव! क्या मैं चोरनी हूँ, या चटोरी हूँ, या कोख की बाँझ हूँ। ग्रथवा हे महादेव! क्या मैं ग्रापकी सेवा से चूक गई कि ग्रापने दूसरा ब्याह कर लिया?"

शिव ने कहा—"हे गौरी देवि! तुम न तो चोरनी हो, न चटोरी हो ग्रौर न तुम कोख से विहीन ही हो। हे गौरी! न तो तुम मेरी सेवा ही से कभी चूकीं। केवल भावी ने ही दूसरा ब्याह कराया है। हे गौरी देवि! ग्रब पिग्ररी (पीत ग्रवधान) पहनो; बल्कि ग्रब सौत का भी परिछन करो।"

गौरी ने रोष के साथ विचार किया कि ग्रभी तक दीनता, नम्रता ग्रौर वेदना थी। ग्रपनी सफाई लेने की भी ग्रावश्यकता थी कि कहीं कोई गलती तो नहीं हो गई। किंतु सफाई मिल जाने पर सौत का नाम सुनते ही उन्हें द्वेष ने ग्रा घेरा, क्रोध का साम्राज्य हुग्रा। कैसी भी स्त्री क्यों न हो, वह सौत का परिछन करने को कभी राजी न होगी। गौरी ने तनकर कहा—"क्या वह हमारी जर-जेठानी है, या

हमारे पुत्र की वधू है (जो मैं परिछने निकलूँ)? यह तो हमारी जन्म ही की सौत है। हमारी पीठ पर अंगारे मला करती है।" उन्होंने आवेश में आकर हृदयोद्गार निकाल तो दिया, परंतु बौराहे शिव के प्रेम को वे भुला नहीं सकीं; उनकी आज्ञा मानना अनिवार्य हो गया। सती को अपने धर्म का पालन करना पड़ा। वे परिछने को चलीं। लेकिन जब पालकी को खोलकर गौरी देवी ने देखा तो वे चौंक पड़ीं और कहने लगीं—"(अरे) यह तो हमारी बहन है! हे बहन, तुमको तीनों लोकों में ढूँढ़ने से वर ही नहीं मिला जो तुम हमारी सौत बनीं?"

यहाँ गौरी का यह पूछना कि "क्या मैं चोरनी, चटोरी या बाँझ हूँ अथवा सेवा में चूक गई जो आपने दूसरा ब्याह किया" कितना मार्मिक और करुण है! वह हमारी भारतीय गृहिणी का कितना सुंदर आदर्श सामने उपस्थित करता है! फिर अंत में यह कहना कि—"हे बहन! तीनों लोकों में तुमको दूसरा वर नहीं मिला कि तुम मेरी सौत बनीं।" कितने वेदनापूर्ण, नम्र और कसक भरे वाक्य हैं। लाचारी और चाभ मानों टपके पड़ते हैं। मुहाविरे तो भरे पड़े हैं।

दंपति-कलह का भी एक नमूना देखिए—

अगड़ बम अगड़ बम नाचे सदा सिव आदि गुरू।
अगड़ बम० ॥

सिवजी जे चललीं अपनि ससुरारि बइसे के पवलीं टूटही तराह।
अगड़ बम० ॥

देखलीं मैं गउरा नइहर तोर बइसे के पवलीं टूटही तराह।
अगड़ बम० ॥

सिवजी जे चललीं अपनी ससुरारि खाए के पवलीं कोदई के भात।
अगड़ बम० ॥

देखलीं मैं गउरा नइहर तोर खाए के पवलीं कोदई के भात।
अगड़ बम० ॥

जो सिव उघटबि नइहर मोर हमहूँ उघटि देबों मुजिया के डोर।
अगड़ बम० ॥

दिन भर मँगले पइला एक धान आ गइले बछवा चबा गइले धान।
अगड़ बम० ॥

सिवजी का बाड़े बएला एक कउआ देखि देले दाँत निपोर।
अगड़ बम० ॥

सिवजी का बाड़ी लउड़ी एक बावाँ गोड़े लंगड़ दहिन आँखि कान।
अगड़ बम० ॥

"अगड़ बम अगड़ बम हो रहा है डिम डिम करके डमरू बज रहा है, आदिगुरु सदाशिव नाच रहे हैं।"

"शिवजी अपनी ससुराल चले और उन्होंने बैठने को टूटी चटाई पाई। (उन्होंने गौरी से कहा—) हे गौरी! मैंने तुम्हारा नइहर देख लिया जहाँ बैठने के लिये मुझे टूटी चटाई मिली।"

"शिवजी अपने ससुराल गए और उन्होंने खाने को कोदो का भात पाया। (आप गौरी से व्यंग्य के साथ कहते हैं—) हे गौरी! मैंने तुम्हारा नइहर देख लिया जहाँ खाने को कोदो का भात मिला।"

गौरी कब चूकनेवाली थीं। उन्होंने वही कहा जिसको सुनने के लिये शिव ने व्यंग्य कसे थे। गौरी ने कहा—"हे शिव! जो हमारे मायके को उघटोगे तो मैं भी (कमर के) मूँज-मेखला को उघट दूँगी। दिन भर माँग-मूँगकर एक पइला धान लाए लेकिन (नशे में चूर थे) बछवा आया और चबा गया। शिवजी के (सवारी में) जो एक बैल है वह भी (इतना सुस्त है कि) कौए को देखकर दाँत निपोर देता है (उड़ाता तक नहीं)। शिवजी की एक लौंड़ी है; वह भी बाएँ पाँव से लँगड़ी और दाहिनी आँख से कानी है।"

इसका दूसरा अर्थ यह भी है कि गौरी के भांडार में उस दिन रसोई बनाने के लिये कोई सामग्री नहीं थी। वे झुँझला रही

थीं और बमभोला शिव उधर मस्त हो नाच रहे थे। उस दिन थोड़ा धान माँग भी लाए तो उसे (गौरी की अनुपस्थिति में) बछवे ने खा डाला और शिव ने उसे हाँकने तक की चेष्टा नहीं की। इससे गौरी के क्रोध का पारा और ऊँचा चढ़ा। इतने में बमभोला को दिल्लगी सूझी और वे गौरी के मायके को उघटने लगे। विनोद-प्रिय तो वे थे ही। गौरी ने भी उन्हें खूब आड़े हाथों लेकर अपने दिल के गुबार निकाले।

विद्यापति जी ने भी इसी भाव से कुछ मिलता-जुलता गीत सखियों से गवाया है—

देखि हम अइलीं गौरी तोर अँगना।
खेतिन पथारी सिव के गुजर कीना॥
मँगनी के आस बाटे बरीसो दिना।
पईंच उधार ले गेलों अँगना॥
संपति देखल एक भाँगघोटना।
भनहि विद्यापति सुनु ऊदना॥
संकट-हरन करु अइलों सरना।

अब जरा माता द्वारा ससुराल का कुशल-चेम पूछे जाने पर तनिक गौरी की दुःख-कथा का वर्णन सुनिए—

माई पूछे धिआ से जे अवरू हेतु लाई,
कइसे कइसे रहलू ए गउरा बउरहवा का पासे।
कइसे कइसे रहलू ए गउरा तपसिया का पासे॥
भउजी जे रहितूए आमा कहितों समुझाइ,
तोहरवे सुनले ए आमा करेज फाटि जाई।
भँगिआ पीसत ए आमा हथवा खिअइले,
धतूर मलत ए आमा जिअरा अकुलइले॥
अइसे अइसे रहलीं ए आमा बउरहवा का पासे।

बाघछाला डासन ए आमा मृगछाला ओढ़न,
भसम की झोरिआ ए आमा से हो सिरहान ॥
ओइसे ओइसे रहलीं ए आमा जोगिआ का पास ।
पटियनि पटिए ए आमा नाग फुफुकारे,
जटवनि जटवे ए आमा बिछिआ बिअइले ।
ओइसे ओइसे रहलीं ए आमा जोगिआ के पास ॥

"और और कारणों से माता कन्या से पूछती हैं कि हे गौरी ! किस भाँति तुम बौराहे शिव के पास रहीं । उस तपसी के पास तुम कैसे रहीं ?"

गौरी ने कहा—"हे अम्मा ! यदि तुम भावज होतीं तो मैं समझा-कर कुछ कहती। तुम्हारा कलेजा तो उसे सुनने से ही फट जायगा । हे अम्मा ! भाँग पीसते पीसते तो हमारा हाथ घिस गया । धतूरे को मलते मलते मेरा जी ऊब गया । हे मा ! इस इस तरह मैं बौराहे वर के पास रही । हे अम्मा ! व्याघ्र-चर्म तो बिछौना और मृगचर्म ओढ़ना था । हे मा ! भस्म की झोली सिरहाने (तकिए का काम देती) थी । इस इस तरह से हे अम्मा ! मैं जोगी के पास रही । हे मा ! खाट की पटियों पर नाग फुफकारा करते और जटाओं में विच्छू बच्चे दिए (रहते) थे । हे मा ! इस इस तरह से मैं जोगी के पास रही ।"

गौरी के दुःख का वर्णन सुनकर पाठक स्वयं उसकी दयनीय दशा पर दुःखित हुए होंगे । जिस गौरी ने एक दिन ब्याह के समय शिव के संग ब्याहे जाने के लिये हठ किया था और सब कष्टों को सहने का साहस दिखाया था तथा मा को अधिक व्याकुल देखकर जिसने शिव से रूप बदलने के लिये प्रार्थना की थी उसी गौरी के लिए आज, मायके आने पर, अपनी माता की सहानुभूति पर अपने हृदय की व्यथा का छिपाना कठिन हो गया और रोकते

रोकते भी उन्होंने बहुत कुछ कह ही डाला। लेकिन फिर गौरी ने चतुराई से काम लिया। अपनी विरह-व्यथा के भाव को उन्होंने अप्रकट ही रखा। क्यों ? इसलिये कि वही तो एक ऐसा महान् कष्ट है जिसको स्त्री-हृदय सहन नहीं कर सकता और जिसे सुनने पर मा मेना का कलेजा फट जाता। हाय री, मा के लिये बेटी की, ममता ! बलिहारी है इस वर्णन-शैली को। स्त्री-हृदय का चित्र कैसा सुंदर खींचा गया है। अहा, पाठक देखें कि पुत्री गौरी के वेदना भरे हृदय की वेदना किस भाव से माता के सामने निकल रही है।

और एक गीत में पिता के पूछने पर गौरी ने कहा—"नव मन कूटन नव मन पीसन नव मन सीझेला रसोई। सुतहीं के बेरिये सिव बिरहा मरि से दुख सहलो ना जाय।" (नव मन कूटना पड़ता है, नव मन पीसना पड़ता है और नव मन की रसोई बनती है। सोने ही के समय शिव का विरह सताने लगता है। यह दुःख सहा नहीं जाता।) इस उद्धरण से मेरे उपर्युक्त कथन की पूर्णतः पुष्टि होती है। पाठक यदि विचार करेंगे तो सर्वत्र ऐसी ही सत्य बातें पायँगे। इसमें मेरी अतिशयोक्ति नहीं है।

बस अब एक गीत और सुनिए। गौरी ने अब तक समस्त कष्ट और यातनाओं को सहन किया। वे सीता की तरह त्याग की मूर्ति बनी हुई सब कुछ सहती रहीं। किंतु अब जब उनके सतीत्व पर संदेह हुआ और उनके बार बार उत्तीर्ण होने पर भी परीक्षा जारी रही तब गौरी का स्त्री-हृदय मान-मर्य्यादा के लिये असह्य हो उठा। परिणाम वही हुआ जो भरी सभा में राम द्वारा न अपनाए जाने पर सीता का हुआ था।

सिवजी जे चलले उतरी बनिजिआ गउरा मंदिलवा बैठाइ हो।
बारह बरिस पर अइले महादेव गउरा से माँगे ले विचार हो॥
ए गउरा से माँगे ले बिचार हो॥

राम दोहाई परमेसर किरिए दोसर पुरुस कइसन होय हो।
इही किरिअवा गउरा हम नाहीं मानबि अगिनि बिचरवा मोहिं
देहु हो॥

जब रे गउरा देई अगिनि हाथ लिहली अगिनी गइली झुराइ हो।
इही किरिअवा गउरा हम नाहीं मानबि तुलसी बिचरवा मोहि देहु हो॥
जब हो गउरा देई तुलसी हाथ लिहली तुलसी गइली सुखाइ हो।
इही किरिअवा गौरा हम नाहीं मानबि सुरुज बिचरवा मोहि देहु हो॥
जब हो गउरा देई सुरुज माथ नावेली सुरुज छपित होइ जासु हो।
इही किरिअवा गउरा हम नाहीं मानबि गंगा बिचरवा मोहि देहु हो॥
जब रे गउरा देई गंगा में चलेली गंगा में परि गइले रेत हो।
इही किरिअवा गौरा हम नाहीं मानबि सरप बिचरवा मोहि देहु हो॥
जब ही गउरा देई सरप हाथ लिहली सरप बइठेला फेट मारि हो।
फाटहु धरती हमहू समाइबि अब नाहीं देखबि संसार हो॥
अबकी गुन हिए गउरा बकसहु हमरा के होइ जइबो दास तोहार हो।

'शिवजी तो चले उत्तराखंड के जंगल में और गौरी को मंदिर में बैठा गए। बारह वर्ष पर महादेव आए और गौरी से विचार (उनके सतीत्व का प्रमाण) माँगने लगे।'

गौरी ने कहा—"राम की दोहाई है, परमेश्वर की कसम है, मैंने यह नहीं जाना कि दूसरा पुरुष कैसा होता है।"

शिव ने कहा—"हे गौरी! यह कसम मैं न मानूँगा। मुझे अग्नि-परीक्षा दो।" जब गौरीदेवी ने आग को हाथ में लिया तो आग ठंडी हो गई।

महादेव ने पुनः कहा—"हे गौरी! इस शपथ को मैं न मानूँगा, मुझे तुलसी-परीक्षा दो।" जब गौरी देवी ने तुलसी को हाथ में लिया तो तुलसी सूख गई।

महादेव ने पुनः कहा—"हे गौरी! इस शपथ को मैं नहीं मानूँगा, मुझे सूर्य्य-परीक्षा दो।" जब गौरी ने सूर्य्य को माथा नवाया तब सूर्य्य छिप गया।

महादेव ने फिर कहा—"हे गौरी! इस कसम को मैं नहीं मानूँगा, मुझको गंगा-परीक्षा दो।" जब गौरी देवी ने गंगा में प्रवेश किया तब गंगा में रेत पड़ गई।

महादेव ने फिर कहा—"हे गौरी! इस शपथ को भी मैं नहीं मानूँगा, मुझको सर्प-परीक्षा दो।" जब गौरी ने सर्प को हाथ में लिया सर्प फेंटा मार बैठ गया।

इस परीक्षा के बाद गौरी से अधिक सहा नहीं गया, वे चीख पड़ीं। उन्होंने वसुंधरा को संबोधन करके कहा—"हे धरती, तुम फटो। मैं तुममें समा जाऊँ। अब इस संसार को नहीं देखूँगी।"

तब शिव ने चिल्लाकर कहा—"हे गौरी! इस बार मेरा अपराध क्षमा करो—मुझे माफ करो। अब से मैं तुम्हारा दास हो जाऊँगा।"

लेकिन इसके पूर्व गौरी मा वसुंधरा की गोद में बैठ चुकी थीं। शिव हाथ मलते रह गए।

पाठक कहेंगे कि इसमें तो रामसीता की कथा शिव के साथ मिला दी गई है। मेरा निवेदन है कि यह गीत इतिहास नहीं है, यह तो अशिक्षिता कवयित्री के मन का उद्गार है। इसके रस आदि पर विचार करें और वर्णन-शैली की सरलता देखें। ऐतिहासिक खोज के लिये तो पुराणों के पन्ने उलटने चाहिएँ।

(११) वैदिक स्वर का एक परिचय

[लेखक—श्री पद्मनारायण आचार्य एस० ए०, काशी]

एक विद्यार्थी वेद पढ़ता है। अपनी शाखा के मंत्र उसे कंठस्थ हैं। संहिता, पद, क्रम आदि पाठ उसे जिह्वाग्र हैं। प्रातिशाख्य के सूत्र उसकी अँगुलियों पर नाचते हैं। ब्राह्मण और श्रौत सूत्र भी उसकी स्मृति के इशारे पर चलते हैं। ऐसे मेधावी निगदपाठी को अपनी शाखा की तिल तिल थाह रहती है। सोते जागते सदा 'स्वर कहाँ हैं, कैसे हैं' उसे सब पता रहता है। एक दूसरा विद्यार्थी व्याकरण पढ़ता है। स्वर-प्रक्रिया उसकी परीक्षा में है। उसे भी रट जाता है। पूछने पर सदा उदाहरण सहित, टीका-टिप्पणी सहित, सूत्र दुहराने को तैयार रहता है। तीसरा न तो निगदपाठी है, न वैयाकरण; न तो वह अड़तालीस वर्ष गुरुकुल में रहा है, न बारह साल मुनित्रय का श्रवण ही कर चुका है। वह वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करना चाहता है—केवल किसी शाखा-विशेष का नहीं। भाषा-शास्त्र का जिज्ञासु है; अन्य व्याकरणों के साथ वैदिक का भी। सरल और सीधे मार्ग से, थोड़े समय में, इसी से, स्वर सीखने की कोशिश करता है। ऐसे चिह्नों और नियमों से परिचय करता है जो उसे भिन्न भिन्न शाखाओं के ग्रंथों में प्रवेश करने योग्य बना देते हैं। उतने ही लक्षण सीखता है जो उसे लक्ष्य को समझने में सीधे सहायता देते हैं—स्वर का स्वरूप, स्वर का विश्लेषण, स्वर का संचार आदि थोड़े में सिखा देते हैं। एक शब्द में वह वैज्ञानिक विधि से अनुशीलन करता है; और पुस्तकस्था विद्या उसका स्मृति की वंदिनी बने चाहे न बने, पर अनुचरी अवश्य बन जाती है।

मातृ-भाषा तो उसकी है ही। (बँगला, मराठी आदि) मौसियों का भी उस पर सहज स्नेह है। अँगरेजी और (लौकिक) संस्कृत से उसकी गाढ़ी मैत्री है। तुलनात्मक व्याकरण से भी उसका अच्छा परिचय है। भाषाओं के इतिहास और पुराण की भी उसे थोड़ी बहुत जानकारी है। तभी तो उसे वेद पढ़ने का अधिकार मिला है। बड़े-बूढ़ों से उस वेद-वाणी का वंशानुचरित काफी सुन चुका है। संस्कृत, प्राकृत आदि उसकी लड़कियों, ग्रीक, लैटिन, ज़ेंद, पाली आदि उसकी छोटी बहिनों की ही नहीं, उसकी उस मा 'इंडो यूरोपियन[1] भाषा' की भी कथा सुन चुका है जो मा इतिहास से भी बूढ़ी है। उन्हीं कथा-कोविदों से वह यह भी सुन चुका है कि वेद-भाषा की आकृति में उसकी मा दीख पड़ती है, उसके अक्षरों[2] और व्यंजनों में उसकी अनुहार आती है, स्वर और लहजा तो बिलकुल उसी का है। मूलभाषा भी स्वच्छंद थी, वेद-भाषा भी; जैसे उसके स्वर-संचार में मात्रा या दूरी का बंधन नहीं था, वैसे ही इसके पदों के आदि, मध्य या अंत में—कहीं भी स्वर[3] संचारित हो सकता

---

(१) भाषा-शास्त्र ने भारत, ईरान, आरमेनिया, यूनान (ग्रीस), इटली, रूस, जर्मनी आदि की भाषाओं में साम्य देखकर एक मूल-भाषा मानी है जिससे ये सब निकली हैं। उस मूलभाषा को भारत-यूरोपीय (Indo-European) या भारत-जर्मनीय (Indo-Germanic) भाषा कहते हैं। कुछ लोग उसे 'आर्य' नाम से भी पुकारते हैं पर अब अधिकतर वैदिक, ईरानी आदि भाषा को ही 'आर्य भाषा' कहते हैं।

(२) अक्षरों से यहाँ स्वर-वर्ण अभिप्रेत हैं। आगे चलकर स्वर-प्रकरण में प्रातिशाख्य की रीति के अनुसार अक्षर से उन व्यंजनों का भी बोध होता है जो उस (अक्षर) के साथ ही एक झटके में बोले जाते हैं अर्थात् अँगरेजी के syllable के अर्थ में। भ्रम से बचने के लिये स्वर का प्रयोग स्वर वर्ण के अर्थ में न किया जायगा।

(३) सामान्यतः स्वर, स्वर वर्ण (vowel), अक्षर (syllable), सुर (pitch) आदि सभी अर्थों में आता है पर शिक्षाकार और शब्दशास्त्री

है। ग्रीक में पदांत से पूर्व तीन अक्षरों तक स्वर संचार होता है। उससे अधिक पूर्व नहीं। φερομένοιο (फेरोमेनैओ) जैसे होमर के (षष्ठ्यंत) शब्द में आदि के दो अक्षरों पर अर्थात् 'फे' और 'रो' पर स्वर कभी किसी हालत में नहीं आ सकता। और यदि पद के अंत का अक्षर दीर्घ हुआ तो स्वर अंत से दूसरे अक्षर तक ही रह जाता है; जैसे φερομένους (फेरोमेनौस्) में। लैटिन में भी ऐसे ही बंधन हैं। वैदिक में ये बंधन तो हैं ही नहीं, ऊपर से दूसरी स्वच्छंदता यह है कि उसमें प्रकृति[1] स्वर ही नहीं, प्रत्यय स्वर भी होता है। स्वीडिश आदि जर्मन भाषाओं की भाँति स्वर प्रकृति तक ही सीमित नहीं रहता। मूलभाषा के प्रत्ययों में क्वचित् ही स्वर रहता था, इसी से वे स्वर-रहित प्रत्यय चुपके से चाहे जिस तरफ बढ़ गए; सस्वर होते तो बाढ़ कुछ अवश्य रुक जाती। पर वैदिक में तो प्रत्यय इतने प्रधान हो गए हैं कि प्रकृति के भी स्वर छीन लेते हैं। आगमवाली क्रियाओं में तो सदा आगम पर ही स्वर रहता है जैसे 'अभवत्' में 'अ' पर। इमः, द्विष्मः, दधुः, दधिरे जैसे रूपों में भी प्रत्यय स्वर का ही प्राधान्य है। संज्ञा के रूपों में से प्रथमा और संबोधन के तीनों वचनों और द्वितीया के एकवचन और द्विवचन की विभक्तियों को छोड़कर अन्य सब पर प्रायः स्वर रहता है। इसी से जैसे पहले मूलभाषा में[2] विभक्तियों के लगने से स्वर-परिवर्तन होता था वैसे ही वैदिक

'स्वर' का प्रयोग, बोलने में एक श्रुति और दूसरी श्रुति के बीच सुर के अर्थ में भेद दिखाने के लिये करते हैं।

(१) किसी भी पद (=शब्द word) के दो अंश होते हैं। मूल को प्रकृति कहते हैं और साधक अंश को प्रत्यय। जैसे रामस्य में 'राम' प्रकृति है और 'स्य' प्रत्यय। प्रत्यय में विभक्ति, कृत्, तद्धित, आगम आदि सभी आ जाते हैं।

(२) बिलकुल मूलभाषा में तो प्रत्यय स्वर-रहित ही माने जाते हैं अन्यथा उनका विकास तथा ह्रास कैसे होता। पर आर्य-भाषा के वर्ग में

में भी कुछ कुछ देख पड़ता है। जैसे वाक् में 'वा' पर स्वर है और वाचः में 'चः' पर, 'एति' के 'ए' पर और 'इमः' के 'मः' पर। वैदिक तथा मूलभाषा में एक और बड़ा साम्य है कि दोनों के पदों के उच्चारण में स्वर के साथ ही बल[1] का भी प्रयोग होता है। प्राचीन ग्रीक में भी स्वर और बल का यह सामंजस्य पाया जाता है। आज की बहुसंख्यक भाषाओं में—आधुनिक ग्रीक और संस्कृत

निश्चय ही कारक-रचना के साथ स्वर-परिवर्तन (shifting of accent) का संबंध है। ग्रीक और वैदिक दोनों में ऐसे रूप मिलते हैं, जिनमें सारे विकार का कारण स्वर का हटना बढ़ना मालूम पड़ता है।

(१) शब्दों का उच्चारण सीखते या सिखाते समय हम कहते हैं, इस शब्द में इस (अमुक) अक्षर पर जोर देकर बोलो, दूसरे शब्द में दूसरे अक्षर पर जोर देने को कहते हैं जैसे पत्थर में 'पत्' पर, हिमालय में 'मा' पर और कालिदास में दा पर। इस जोर या धक्के का असर उच्चारण और छंद पर तो प्रायः सभी भाषाओं में होता है पर अँगरेजी जैसी भाषाओं में जोर के आगे-पीछे करने से पदार्थ (=शब्दार्थ) तक बदल जाता है; जैसे, conduct (कान्डक्ट) संज्ञा शब्द है, उसके पहले अक्षर con (कान्) पर जोर दिया जाता है और क्रिया के अर्थ में उसके अंतिम अक्षर पर जोर पड़ता है और उच्चारण होता है conduct (कंडक्ट)। हिंदी में कुछ विरले ही शब्द ऐसे मिलते हैं जैसे 'राम की गाय' में 'की' पर कोई जोर नहीं पर 'चूँ भी नहीं की' में 'की' क्रिया होने से जोरदार है। कुछ शब्दों का उच्चारण कुछ सुर के साथ करना पड़ता है जैसे अँगरेजी का 'pretty' शब्द, हिंदी का 'हूँ' या 'हे' (हय्) या 'रे' या संस्कृत का हले। इस सुरवाले उच्चारण के उदाहरण प्रशिया और रशिया की सीमा पर आज भी बोली जानेवाली लिथुआनियन (Lithuanian) या स्वीडन की स्वीडिश भाषा में अच्छे मिल सकते हैं क्योंकि प्राचीन ग्रीक और वैदिक के समान ही उनके शब्द सुर के साथ बोले जाते हैं। पर वाक्य में तो सभी जीवित भाषाओं में सुर मिल सकता है। 'खा आए क्या ?' साधारण प्रश्न है पर 'खा आए क्या... आ !' में क्या के सुर से विस्मय टपकता है। वक्ता को आशा न थी कि वह खा आवेगा। इसी प्रकार समय समय पर सुर के बदलने से एक ही वाक्य क्रोध, प्रश्न,

तक में—बल-प्रयोग प्रधान रहता है। एब्लाउत (ablaut)[1] या व्हावेल ग्रेडेशन (vowel-gradation = अक्षर-अवस्थान) जैसी अनेक वर्ण-विज्ञान-संबंधी प्रक्रियाओं से पर्याप्त प्रमाण मिल चुका है कि मूलभाषा में भी बल-प्रयोग होता था। वैदिक और पुरानी ग्रीक में उसका अस्तित्व स्पष्ट ही है। हाँ, स्वर के समान वह प्रधान नहीं था—जिस अक्षर पर उदात्त स्वर रहता था उसी पर प्रायः बल भी लगता था। इसी लिये जैसे स्वर के कई भेद माने गये हैं, वैसे हो बल के भी। कभी उनके उच्चारण में नीचे से ऊपर को चढ़ाव (आरोह) रहता है, कभी ऊपर से नीचे की ओर उतार (अवरोह), कहीं एक ही अक्षर में चढ़ाव और उतार अथवा उतार और चढ़ाव की संधि हो जाती है, कहीं कहीं केवल एक सी श्रुति होती है।

एक और बात ध्यान देने योग्य यह है कि मूलभाषा के समान वैदिक में भी स्वर तो बस एक ही होता है, वह उदात्त। इसी से

विस्मय, आनंद, प्रहसन, व्यंग्य आदि का बोध कराता है। इस वाचिक अभिनय को अनसीखे सब सीख लेते हैं। इसी से जब अँगरेजी में सुर का अभाव बताया जाता है तो उसका मतलब यह नहीं है कि उसके वाक्यों में भी स्वर नहीं होता किंतु केवल यह कि उसके शब्दों और पदों के उच्चारण में सुर की जरूरत नहीं पड़ती। पर प्राचीन ग्रीक तथा वैदिक में प्रत्येक शब्द में सुर की जरूरत पड़ती है। प्रातिशाख्यों में, असल में, पदस्वर का ही वर्णन है। संहिता तो अमर हो चुकी थी; इससे उसके विकारों का निर्देश नहीं सा है।

इस सुर और जोर को ही पुराने लोग स्वर और बल कहते हैं (वर्णः स्वरः मात्रा बलम्—तैत्ति० उपनि० अनुवाक् २); अँगरेजी के लेखक pitch accent and stress accent कहते हैं। सुर, स्वर या pitch संगीत-शास्त्र में समानार्थक हैं। उसी प्रकार जोर, बल और stress भी समानार्थक हैं। इसी से 'स्वराघात' से 'बल' शब्द अच्छा मालूम पड़ता है।

(१) धातु में प्रत्यय लगाकर जो रूपांतर बनाए जाते हैं उनमें धातु के एक अक्षर की जगह दूसरे अक्षर के आने को ablaut एब्लाउत कहते हैं जैसे-sing से sang, sung और song; पर यह umlaut से भिन्न है क्योंकि इसमें पर के स्वर के उच्चारण का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

स्वर और उदात्त पर्याय समझे जाते हैं। जिस अक्षर पर उदात्त रहता है वही स्वरित (स्वरसहित) होता है। इसीलिए सामवेद में उदात्त को स्वरित कहते हैं। ऋग्वेद का (स्वतंत्र) स्वरित भी उदात्त ही है या उदात्त से भी प्रधान है। इस एक स्वर को ही चढ़ाव उतार के कारण उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तीन नाम दिए गए हैं। जिस अक्षर पर उदात्त रहता है, उसे दूसरे अक्षरों की अपेक्षा अधिक जोर देकर, चढ़ते या ऊँचे एक से सुर में बोलते हैं। उदात्त के बादवाला अक्षर गिरते स्वर में बोला जाता है और उसका जोर भी कम हो जाता है। हाँ, यदि उसके बाद भी कोई उदात्त आ जावे तो वह अनुदात्त हो जाता है अर्थात् गिरने की क्रिया वहीं रुक जाती है। उदात्त के पूर्व का अक्षर सदा अनुदात्त रहता है। उदात्त और अनुदात्त की संधि से जो स्वर बनता है उसे स्वरित[1] कहते हैं। यही संक्षेप में स्वर का तत्त्व है। वैदिक और मूलभाषा दोनों में इसका राज्य है। थोड़े फेरफार से प्राचीन ग्रीक पर भी घट जाता है।

इतनी ज्ञान-संपत्ति लेकर वह वैदिक ग्रंथों को हाथ में उठाता है। वस्तु को देखकर नियम-उपनियम खोजने की उसकी सदा की चाल है। वैदिक भाषा के रूप-रंग को देख लेने के बाद उसके बंधनों को, उसकी बारीकियों को, उसकी विशेषताओं को समझने में सहूलियत होगी इसी से वह लिखित ग्रंथों में प्रयुक्त चिह्नों और संकेतों को पहले जानने और सीखने की कोशिश करता है; पीछे वेद के पद—पदार्थ सीखने के साथ साथ पदस्वर, द्व्युदात्तता, स्वर-राहित्य, और (कृदंत, तद्धितांत, समास, सुबंत, तिङंत, विशेषण-कृदंत, योग्यार्थकृदंत, अव्ययकृदंत, संधि, वाक्य तथा पाठ-विशेष में) स्वर-संचार आदि का अनुशीलन।

---

(१) अर्थात् जात्य स्वरित। जैसे क्व (कुअ) अथवा सोम्यासः में।

चारों वेदों की सभी संहिताओं[1] तथा तैत्तिरीय और शतपथ, इन दो ब्राह्मणों में स्वर-चिह्न मिलते हैं और उनकी स्वर-लेखन-विधि भी भिन्न भिन्न चार प्रकार की है। ऋग्वेद की पद्धति अथर्व संहिता, वाजसनेयि संहिता, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, और तैत्तिरीय आरण्यक में पाई जाती है। मैत्रायणी और काठक संहिताओं की पद्धति दूसरी है। सामवेद की तीसरी और शतपथ की अपनी निराली है।

ऋग्वेद में उदात्त का कोई चिह्न नहीं। इसका कारण शायद यह है कि यहाँ उदात्त से स्वरित का उच्चारण कुछ ऊँचा होता है। उदात्त की पहचान उसका स्थान देखकर होती है। वाक्य के बिलकुल आदि में या अनुदात्त के बाद जो बिना चिह्न के अक्षर रहते हैं वे उदात्त होते हैं। इसी से उदात्त के पूर्ववर्ती अनुदात्त अक्षर के नीचे एक आड़ी रेखा खींची जाती है और उदात्त के अनुगामी (या परवर्ती) स्वरित के ऊपर एक खड़ी रेखा लगाई जाती है। उदाहरणार्थ, अ॒ग्निना॑ में 'अ' अनुदात्त है, 'ग्नि' उदात्त है और 'ना' स्वरित है। वी॒र्य॑म् में 'वी' अनुदात्त और 'र्य' स्वरित है।

अर्धर्च[2] के आदि में जितने उदात्त आते हैं वे सब के सब चिह्न-रहित होते हैं। उनके पीछे आनेवाला स्वरित या अनुदात्त चिह्नित होता है। जैसे—प्र तद्विष्णु॑ः स्तवते वी॒र्ये॑ण (ऋ० १।

(१) ऋग्वेद की एक, सामवेद की एक, यजुर्वेद की चार (वाजसनेयी, तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक) और अथर्ववेद की दो शाखाओं की संहिताएँ उपलब्ध हैं। इन वेदों में और दो ब्राह्मणों में स्वर-चिह्न मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय के अन्य ग्रंथों में स्वर-चिह्न नहीं है।

(२) ऋग्वेद में दस मंडल हैं। हर एक मंडल में कुछ सूक्त हैं। हर एक सूक्त में कुछ ऋचाएँ रहती हैं और हर एक ऋचा में कई पाद होते

१५४ । २) इत्यादि में 'प्र तद्वि' इन तीन अक्षरों में लगातार तीन उदात्त हैं और वे तीनों चिह्न-रहित हैं। इनके पीछे आनेवाले 'णु' में स्वरित का चिह्न है। तवेत्तत्सत्यम् (ऋ० १ । १ । ६) में 'स' अनुदात्त है और आदि के तीनों अक्षर उदात्त हैं। 'त्य' भी उदात्त है क्योंकि अनुदात्त के बाद आनेवाला चिह्न-रहित अक्षर उदात्त होता है।

इसके विपरीत अर्धर्च के आदि के सभी अनुदात्त चिह्नित होते हैं; यथा—'इषिरेण ते मनसा' और 'वैश्वानरम्'। परंतु स्वरित के पीछे आनेवाले अनुदात्त चिह्न-रहित होते हैं। साथ ही साथ यह कभी न टलनेवाला नियम याद रखना चाहिए कि उदात्त (या स्वतंत्र स्वरित[1]) के बिलकुल (अव्यवहित) पूर्व में एक न एक चिह्नित अनुदात्त रहता है; यथा—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि। यहाँ 'मे' में स्वरित है, उसके बाद के गंगे, यमुने और सरस्वति के अनुदात्त बिना चिह्न के हैं पर 'ति' में चिह्न लगा है क्योंकि 'ति' उदात्त ('शु') के पूर्व में है। शुतुद्रि में ही पहला अक्षर उदात्त, दूसरा स्वरित और तीसरा अनुदात्त है। ऐसा चिह्नरहित अनुदात्त 'प्रचय' अथवा 'एक श्रुति' कहा जाता है। (असल में देखा जाय तो स्वरित के बाद आनेवाले अनुदात्त 'अनुदात्त' होते ही नहीं। उनकी तो उदात्तवत् श्रुति होती है। फिर चिह्न लगाने

हैं—कम से कम तीन और अधिक से अधिक छः। पर हर एक ऋचा में अर्धर्च दो ही होते हैं इससे अर्धर्च एक पाद अथवा एक से अधिक पादों का होता है।

(१) स्वतंत्र स्वरित उदात्त का ही दूसरा रूप है। जात्य, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट और अभिनिहित स्वरित स्वतंत्र कहे जाते हैं। संधि-स्वर में उनका वर्णन आवेगा। सामान्यतः जो स्वरित उदात्त के बाद रहे वह परतंत्र कहा जाता है और जो अनुदात्त के बाद रहे वह स्वतंत्र। स्वतंत्र स्वरित कभी कभी उदात्त के बाद भी आ जाता है पर क्वचित् ही।

का प्रश्न ही कैसा? उदात्त के समान वे भी बिना चिह्न के रहते हैं। प्रातिशाख्यकार इसी से स्वरित के बाद रहनेवाले अनुदात्तों को अनुदात्त न कहकर 'प्रचय' या 'प्रचित' कहते हैं। पर, उदात्त के पूर्व अनुदात्त श्रुति होनी चाहिए। स्वर को ऊँचे जाने के पहले एक बार नीचे अवश्य आना चाहिये। इसी से उदात्त के पूर्व अनुदात्त का चिह्न नित्य रहता है। सारांश यह कि अनुदात्त सदा चिह्नित रहता है, केवल उदात्त और प्रचय चिह्न-रहित होते हैं।)

इन (स्वरित और अनुदात्त के) चिह्नों को लगाने में आगे पीछे का भी ध्यान रखना पड़ता है; क्योंकि वैदिक वाक्यों के पद एक दूसरे से स्वर के द्वारा जुड़े रहते हैं। वाक्य के पदों को मिलाकर सस्वर पढ़ने को ही संहिता-पाठ कहते हैं और पद पद अलग करके पढ़ने को पद-पाठ। दोनों पाठों में असली भेद स्वर का होता है। पद-पाठ में एक पद में ही स्वर के नियम लगते हैं पर संहिता-पाठ में एक पद का पूर्व और पर—अगले और पिछले—दोनों पदों से संबंध रहता है। जैसे—उप॑। त्वा। अग्ने। दिवेऽ-दिवे। ये चार पद अलग अलग हैं पर संहिता-पाठ में उप॑ त्वाग्ने दिवेदि॑वे हो जाता है अर्थात् त्वा और अग्ने का अनुदात्त प्रचित हो जाता है, जिससे चिह्न लुप्त हो जाता है। पर स्वर के प्रसार या संचार का तत्त्व एक ही है चाहे वह एक पद के भीतर हो या एक वाक्य के भीतर। ऋग्वेद में एक अर्धर्च स्वर-संचार के लिये एक वाक्य माना जाता है। वह अर्धर्च एक पाद, दो पाद या अनेक पादों का हो सकता है। यथा—

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवे
ऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व।
सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑ ॥ (ऋ० १।१।९)

यहाँ पहला अर्धर्च दो पाद का है इसी से 'सूनवे' का अनुदात्त स्वर 'अग्ने' के कारण बदल गया है अर्थात् 'वे' का स्वर भी उदात्त हो गया है। दूसरा अर्धर्च एक ही पाद का है।

जब कोई स्वतंत्र स्वरित, उदात्त के (अव्यवहित) पूर्व में आता है, अर्थात् जब पूर्व में स्वतंत्र स्वरित हो और पर में उदात्त, तब दोनों के बीच में अर्थात् स्वरित अक्षर के आगे[1] १ या ३ का अंक लगाया जाता है। अंक के नीचे अनुदात्त और ऊपर स्वरित का चिह्न रहता है। जब स्वरित अक्षर ह्रस्व रहता है तब १ का अंक और जब दीर्घ रहता है तब ३ का अंक लगता है। यथा—

क्व १ स्य ते (ऋ० २।३५।७)। क्वे ३ दानीं सूर्यः (१।३५।७)।
अप्स्व १ न्तः (१०।२५।७)। तन्वा ३ शूशुजानः (१०।३४।६)।
पस्त्या ३ स्वा (१।२५।१०)। रायो ३ वनिः।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है, जब स्वरित अक्षर दीर्घ रहता है तो उसके नीचे भी अनुदात्त का चिह्न लगता है। इस प्रकार की विशिष्ट स्वर-प्रणाली का प्रातिशाख्यों में उल्लेख नहीं है पर इसका रहस्य यह बताया जाता है कि ऐसे स्वरित और उदात्त के बीच में, एक प्रकार का, स्वर का 'कंप' या 'कंपन' होता है। उदात्त का उच्चारण करने के लिये स्वर को अवश्य पहले नीचे (अनुदात्त) आना चाहिए। यहाँ यह संभव नहीं इसलिये यह 'कंप' होता है।

मैत्रायणी और काठक संहिताओं में उदात्त का चिह्न एक सा लगाया जाता है। वह ऋग्वेद के स्वरित के समान (') होता है। (यहाँ उदात्त का प्राधान्य स्पष्ट है।) अनुदात्त भी दोनों संहिताओं में एक सा होता है और ऋग्वेद के जैसा ही। उदाहरणार्थ—अग्निना में 'अ' अनुदात्त और 'ग्नि' उदात्त है। पर स्वरित

(१) 'आगे' से परे और बाद (following) का अर्थ और 'पीछे' से पूर्व और पहले (preceding) का अर्थ लिया गया है।

के चिह्न दोनों संहिताओं में भिन्न भिन्न हैं। मैत्रायणी में स्वतंत्र स्वरित के लिये अक्षर के नीचे एक अर्धवृत्त लगाते हैं। जैसे—वीर्यम्। किंतु परतंत्र स्वरित में अक्षर को बीचोबीच से काटती हुई एक आड़ी रेखा लगाते हैं या अक्षर के ऊपर तीन खड़ी रेखाएँ खींच देते हैं; जैसे—वीर्यं व्याचष्टे अथवा वीर्यं व्याचष्टे में 'च' पर परतंत्र स्वरित है। इसमें अनुदात्त, स्वतंत्र स्वरित, उदात्त और परतंत्र स्वरित सबके चिह्न यथाक्रम हैं। काठक संहिता में स्वतंत्र स्वरित के बाद अनुदात्त हो तो स्वरित अक्षर के नीचे अर्धवृत्त लगाते हैं परंतु जब परवर्ती स्वर उदात्त हो तो एक कोणाकार (‸) चिह्न (काकपद) लगाते हैं; जैसे 'वीर्यं बध्नाति' में स्वरित के बाद अनुदात्त है और 'वीर्यं व्याचष्टे' में स्वरित के बाद उदात्त है और काठक संहिता के परतंत्र स्वरित के नीचे एक बिंदु (नुक्ता) लगाया जाता है। (श्रोडर के संस्करण में तो उसका कोई चिह्न ही नहीं है।) जैसे व्याचष्टे में 'व्या' उदात्त और 'च' स्वरित है।

सामवेद में उदात्त, स्वरित और अनुदात्त के लिये क्रमशः १, २ और ३ के अंक अक्षर के ऊपर लिखे जाते हैं; जैसे—ब३र्हि१षि२ में बर पर अनुदात्त, हि पर उदात्त और षि पर स्वरित है। पर जब कभी उदात्त अंत में आता है अर्थात् उसके बाद कोई स्वरित नहीं रहता, तब २ का अंक उदात्त पर भी लगता है; जैसे—गि३रा२ में 'रा' उदात्त है। जब दो उदात्त (विना किसी व्यवधान के) लगातार आते हैं तो दूसरे पर चिह्न नहीं रहता और आनेवाले स्वरित पर २ र लिखा जाता है। जैसे—द्वि३षो१ मर्त्य२र्स्य। यह २र स्वतंत्र स्वरित का

भी चिह्न है पर उसके पूर्व में रहनेवाले अनुदात्त पर ३ क लिखा
३क २१
रहता है (जिससे भ्रम नहीं होता); यथा—तन्वा।

शतपथ ब्राह्मण में केवल उदात्त का चिह्न होता है। वह ऋग्वेद के अनुदात्त की नाईं नीचे लगता है; जैसे—पुरुष में 'पु' उदात्त है। दो या दो से अधिक अव्यवहित उदात्तों में से केवल अंतिम पर चिह्न रहता है; यथा—अग्निर्हि वैधूरथ। इसमें 'अ' अनुदात्त है, 'थ' परतंत्र स्वरित और बीचवाले शेष अक्षर सब उदात्त हैं। यदि स्वरित स्वतंत्र होता है तो उसके पूर्ववर्ती अक्षर के नीचे (उदात्त के समान) आड़ी रेखा लगाते हैं; जैसे—मनुष्येषु या वीर्यम्। 'ष्य' और 'र्य' के स्वरित पीछे के अक्षरों पर दिखाए गए हैं। वेबर ने अपने संस्करण में ऐसे स्थल पर दो रेखाएँ (=) लगाई हैं; यथा—वीर्यम्।

चिह्नों के ये नियम उन वैदिक ग्रंथों को देखकर लिखे गए हैं जिन्हें आजकल के विद्वानों ने सुंदर ढंग से संपादित और संस्कृत करके निकाला है; जैसे मेक्समूलर का ऋग्वेद, 'ह्विटने' या 'पंडित' का अथर्ववेद, वेबर का शतपथ इत्यादि। अन्यथा बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ या आदर्श ग्रंथ (manuscript) ऐसे हैं जिनमें बिलकुल नए चिह्न मिलेंगे; जैसे अथर्ववेद की एक लिखी पोथी में रेखाओं के बदले बिंदु ही चिह्न का काम करते हैं। सामवेद की स्वर-लेखन-विधि और भी उलझी हुई है। एक चतुर विद्यार्थी इन ऊपर लिखे सामान्य नियमों को जान लेने पर नए चिह्नों को, पूर्वापर देखकर, सहज ही लगा लेगा और उलझनों को भी सुलझाने का साहस कर सकेगा।

प्रातिशाख्यों ने वैदिक स्वर पर जो कुछ लिखा है उससे मालूम होता है कि पद-स्वर ही वेदों में प्रधान है वाक्य-स्वर[1] नहीं।

---

(१) एक ही वाक्य को स्वर बदल बदलकर बोलने से प्रश्न, विस्मय, क्रोध, हर्ष, निंदा आदि कई भाव निकला करते हैं। ऐसा तो बोलचाल की वैदिक

उनके अनुसार तो संहिता पदों से ही बनती है—'संहिता पदप्रकृतिः' (ऋक्प्रातिशाख्य)। पद-स्वर जान लेने से संहिता-स्वर आप से आप आ जाता है। जो नियम पद के भीतर वही पद के बाहर वाक्य में। पदों की संधि से संधि-स्वर[1] का संबंध है। केवल संबोधन और क्रिया में वाक्य[1] के कारण कुछ स्वर का[1] भेद होता है। इस कारण ग्रीक की नाईं वैदिक में पद-स्वर (word accent) ही सब कुछ है।

सामान्यतः प्रत्येक वैदिक पद में स्वर होता है और एक ही (प्रधान) स्वर होता है। प्रारंभ में ऋग्वेद में उदात्त ही प्रधान स्वर था और, जैसा तुलनात्मक भाषा-शास्त्र से पता लगता है, ऋग्वेद का उदात्त प्रायः उसी स्वर पर रहता है जिसपर वह भारत-योरोपीय (Indo-European) काल में था; उदाहरणार्थ—ततः (फैला हुआ) के लिये ग्रीक τα-το'-δ (ततोस्); जानु (घुटना) के लिये ग्रीक γο'νυ (गोनु); अदंशत् के लिये ἐ-δρακ-ε (अंद्रके); भरत् के लिये ग्रीक φέρετε (फेरेते)। किंतु ऋग्वेद की लिखी भाषा में स्वरित ही कई पदों में प्रधान स्वर देख पड़ता है; जैसे—रथ्यम्, पस्त्यासु, स्वः, तन्वम् आदि। यद्यपि अधिक पदों के बोलने में आज भी दोनों अक्षर और स्वर अलग से हो जाते हैं जैसे—'रथ्यम्' का 'रथिअंम्', तथापि वह कहा जाता है जात्य या नित्य स्वरित। कुछ भी हो, ऋग्वेद[2] का साधारण

में भी रहा होगा पर जब वह अमर वाणी हो गई—देवों, कवियों और ऋषियों की भाषा हो गई—तब उसका एक स्वर रह गया। उसका अर्थ निश्चित हो गया और स्वर भी। देवों की चीज में विकार कैसा !

(१) देखिए—आगे संधि-स्वर और वाक्य-स्वर; वहीं जात्यस्वर भी मिलेगा।

(२) ऋग्वेद के ही स्वर-चिह्न और उदाहरण यहाँ दिए जायँगे। जहाँ आवश्यकता होगी अन्य ग्रंथों के उदाहरण भी रहेंगे पर वे प्रायः विशेषता बताने के लिये। सामान्यतया तो ऋग्वेद के नियम सब को लागू होते हैं।

नियम यही है कि एक पद में एक अक्षर को छोड़ शेष सब अनुदात्त होते हैं—'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा० ६ । १ । १५८)

इस नियम के अपवाद स्वरूप दो उदात्तवाले (द्व्युदात्त) पद[1] भी होते हैं। 'तवै' वाले हेत्वर्थ-कृदंत के आदि में भी उदात्त रहता है और अंत में भी। संहिताओं और ब्राह्मणों में इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं; जैसे—एतवै (=जाने के लिये); इसी तरह अपभर्तवै (=ले जाने के लिये) में 'अ' उदात्त, 'प' स्वरित, 'भर्' प्रचित, 'त' अनुदात्त और 'वै' उदात्त है। ऐसे द्वंद्व[2], जिनके पूर्वपद और उत्तरपद दोनों द्विवचनांत हों, द्व्युदात्त होते हैं; जैसे—मित्रावरुणा, द्यावापृथिवी, मातरापितरा। ऐसे षष्ठी तत्पुरुष जिनके पूर्वपद की विभक्ति का लोप न हुआ हो द्व्युदात्त होते हैं; जैसे—बृहस्पति; ब्रह्मणस्पति। शुनःशेप। ब्राह्मणों में 'वाव' (सचमुच, ठीक) यह एक निपात सदा द्व्युदात्त रहता है।

कुछ पद तो ऐसे होते हैं जिनमें स्वर अर्थात् उदात्त रहता ही नहीं। उनमें से कुछ तो सदा अनुदात्त रहते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने स्थान के अनुसार अनुदात्त या उदात्त होते हैं।

(क) सदा अनुदात्त रहनेवाले—

(१) सर्वनाम 'एन' (वह), 'त्व' (दूसरा, एक), 'सम' (कुछ कोई) के सब रूप और उत्तम तथा मध्यम पुरुष के

---

(१) वास्तव में द्व्युदात्त पद केवल अर्थतः एक होता है। रूपतः उसमें दो पद अलग अलग दिखाई पड़ते हैं। द्वंद्व में तो यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

(२) ये देवता द्वंद्व असल में दो पद हैं। ऋग्वेद में उनके अलग अलग प्रयोग भी मिलते हैं। दूसरी अवस्था वह है जब द्व्युदात्त रूप मिलता है और तीसरी अवस्था वह है जब 'इंद्रवायू' के समान द्वंद्वों में एक उदात्त आने लगा। ऐसे एक उदात्तवाले देवता द्वंद्व ब्राह्मणों में बहुत मिलते हैं।

(पुरुषवाचक) सर्वनामों के ये रूप—मा, त्वा; मे, ते; नौ, वाम्; नः, वः; और

(२) ये निपात—च, उ, वा, इव, घ, ह, चिद्, भल, समह, स्म, स्विद्, ईम् और सीम् ।

(ख) वाक्य में अपनी स्थिति के अनुसार अनुदात्त हो जानेवाले—

(१) वाक्य या पाद के आदि में न आनेवाले संबोधन पद ।

(२) वाक्य या पाद के आदि में न आनेवाले प्रधान क्रियापद अर्थात् प्रधानवाक्य की क्रिया ।

(३) वाक्य या पाद के आदि में न आनेवाले 'इदम्' सर्वनाम के कुछ रूप; जैसे—अस्य जनिमानि (उसके जन्म)। परंतु अस्या उषसः (उस उषा के) में 'अस्या' विशेषण होने से (उदात्त) स्वरवाला है ।

(४) 'यथा' शब्द 'इव' के अर्थ में अनुदात्त होता है और प्रायः पाद के अंत में आता है; जैसे—तायवो यथा (= चोरों के समान)। और नु, सु अथवा हि के साथ आनेवाला 'कम्' (सचमुच) शब्द भी अनुदात्त होता है; जैसे—विष्णोर्नुकं वीर्याणि ।

इन अपवादों के अतिरिक्त प्रत्येक वैदिक पद में एक उदात्त रहता है,—यह समझ लिया । अब वह उदात्त किस पद में कहाँ रहता है—आदि में, अंत में या मध्य में—इसका उत्तर भाषा पढ़कर सीखना ही अच्छा होता है । बनी बनाई अनुक्रमणिका और कोष भी मौका पड़ने पर सहायता देते हैं पर उन्हें रटना 'सीखने की समुचित विधि' नहीं । पर पद के भीतर उदात्त कैसे आगे पीछे जाता है, कब प्रकृति पर रहता है, कब प्रत्यय पर चला जाता है, यह अवश्य जानना चाहिए । यद्यपि प्रातिशाख्यकार पद के स्वर-संचार को बिलकुल छोड़ देते हैं तथापि कोई शब्दशास्त्री ऐसा नहीं कर

सकता। साधारण ज्ञान के लिये इस विश्लेषण और व्याकरण की भले आवश्यकता न हो पर वेद-भाषा की अच्छी जानकारी के लिये वह अनिवार्य है।

नाम शब्दों में स्वर-संचार

कृत् प्रत्यय—(१) अस् प्रत्ययवाले नपुंसक भाववाचक शब्दों[1] की प्रकृति में स्वर लगता है; जैसे—अपस्=काम (न०)। पर पुँल्लिंग कर्तृवाचक शब्दों के प्रत्यय में स्वर होता है; यथा अपस्=काम करनेवाला (पुं०)। यह अर्थ-भेद से स्वर-भेद हुआ। कभी कभी विना अर्थ बदले लिंग-भेद से भी स्वर-भेद हो जाता है; जैसे—रक्षस् (न०) और रक्षस् (पुं०) दोनों का अर्थ है राक्षस।

(२) अतिशयवाचक इष्ठ[2] प्रत्यय से बने संज्ञा शब्दों की प्रकृति में स्वर लगता है; जैसे—यजिष्ठ। इसके दो अपवाद हैं, ज्येष्ठ और कनिष्ठ। एक अर्थ में दोनों में प्रकृति-स्वर रहता है। दूसरे अर्थ में दोनों में प्रत्यय-स्वर। परंतु जब ऐसे 'इष्ठ' वाले शब्दों में उपसर्ग लगता है तो उपसर्ग में स्वर लगता है (न प्रकृति में, न प्रत्यय में); जैसे आगमिष्ठ।

(३) तुलना-वाचक 'ईयांस्' प्रत्ययवाले शब्दों की प्रकृति में स्वर नित्य लगता है; जैसे—जवीयांस् (अधिक वेगवाला)। परंतु जब उपसर्ग से समास हो जाता है तो उपसर्ग में ही स्वर लगता है; यथा—प्रतिच्यवीयांस्।

---

(१) प्रयोगार्ह (विभक्तियुक्त) शब्द 'पद' कहा जाता है। हिंदी में 'शब्द' इसी अर्थ में आता है पर इस लेख में—विशेषकर इस प्रकरण में—शब्द का प्रयोग विभक्तिहीन पद के लिये हुआ है। इसी से उदाहरण भी प्रायः विभक्तिहीन हैं।

(२) पाणिनि ने इष्ठ को तद्धित प्रत्यय माना है। वे धातु में एक कल्पित प्रत्यय लगाकर पद बना लेते हैं फिर तद्धित प्रत्यय लगाते हैं। पर आजकल के विद्वान् इष्ठ को धातु से लगाते हैं। वे लोग उसे मौलिक (primary) प्रत्यय मानते हैं।

(४) 'तर्' (तृच्[1]) प्रत्यय से बने शब्दों में विशेषण के अर्थ में प्रकृति-स्वर होता है और शुद्ध संज्ञावाचक अर्थ में प्रत्यय-स्वर; यथा—दातर् (विशेषण); दातर् (संज्ञा)।

(५) 'मन्' से बने (न०) भाववाचक शब्दों की प्रकृति में स्वर रहता है पर (पुं०) कर्तृवाचक शब्दों के प्रत्यय में स्वर होता है; जैसे—कर्मन्=काम, पर दर्मन्=दरनेवाला, तोड़नेवाला। इस प्रत्ययवाली कई संज्ञाओं में अर्थ और लिंग के भेद से स्वर-भेद हो जाता है; जैसे—ब्रह्मन् (प्रार्थना, स्तुति) आद्युदात्त है पर ब्रह्मन् (स्तुति करनेवाला) अंतोदात्त है। सद्मन्=बैठक, स्थान; पर सद्मन् (बैठनेवाला)। उपसर्ग साथ रहने पर उपसर्ग में ही स्वर लगता है; यथा—प्रभर्मन (उपहार)।

तद्धित प्रत्यय—(१) 'इन' से बने शब्दों में प्रत्ययस्वर रहता है; यथा—अश्विन् (घोड़ेवाला)।

(२) पुरुतम (बहुत से), उत्तम और शश्वत्तम (अनेक बार)—इन तीनों को छोड़कर 'तम' से बने अतिशयवाचक शब्दों में क्वचित् ही प्रत्यय-स्वर होता है। किंतु पूरणवाचक शब्दों के प्रत्ययांत में स्वर आता है; यथा—शततम (सौवाँ)।

(३) 'म' से बने शब्दों में—चाहे वे अतिशयवाचक हों अथवा पूरणवाचक—नित्य प्रत्यय-स्वर होता है; यथा—अधम (सबसे नीचे का); अष्टम (आठवाँ), अंतम (दूसरा); पर एक बार अंतम आद्योदात्त भी मिलता है।

---

(१) पाणिनि के तृच् जैसे प्रत्ययों की जगह आज-कल के भाषा-शास्त्रियों ने 'तर्' रखना अधिक मौलिक समझा है। इसी प्रकार इयसुन् को वे लोग ईयांस् ही लिखते हैं। जो सामने दीखे उसी से काम लेते हैं।

समासों में स्वर-संचार

सामान्य नियम यह है कि आम्रेडित[1], बहुव्रीहि और विशेषण-समासों के पूर्वपद में स्वर रहता है; (कर्मधारय और द्विगु सहित) तत्पुरुष और द्वंद्व समासों के उत्तरपद में स्वर होता है। असमस्त पदों में जैसा स्वर रहता है वैसा ही प्रकृति-स्वर प्रायः समास में रहता है, अर्थात् समास के पूर्वपद या उत्तरपद में उसी अक्षर पर स्वर रहेगा जिस पर उस पद में वह असमासावस्था में (समास होने के पहले) था। जैसे—यज्ञस्य श्रियम् का समास होने पर यज्ञश्रियम् होता है। यहाँ तत्पुरुष होने के कारण उत्तरपद का स्वर प्रधान होता है और उसके स्वर में कोई विकार नहीं आता। इस उत्सर्ग के कुछ अपवाद भी हैं। विश्वं समस्त होने पर विश्व हो जाता है। पूर्वं, मेधं और वीर का स्वर केवल आगे लिखे शब्दों में बदल जाता है—पूर्वचिंति (पहला विचार), पूर्वपींति (पहला घूँट) और वेंहूंति (पहली पुकार), मेधपंति (यज्ञपति) और मेधसांति (यज्ञ की प्राप्ति),पुरुवीरं और सुवीरं। कभी कभी कर्मधारय समास में विशेषण से भाववाचक या व्यक्तिवाचक नाम होने पर स्वर-भेद दिखाई पड़ता है। जैसे—सुकृंत = अच्छी तरह किया हुआ; पर सुकृत = अच्छा काम। अरांय = कंजूस; पर अरांयं (दैत्य का नाम)।

---

(१) आम्रेडित और विशेषण-समास (Iterative and governing compounds) पाणिनि के नाम नहीं हैं। पाणिनीय व्याकरण में जो दीक्षित नहीं है—जिसने नए ढंग से संस्कृत व्याकरण पढ़ा है—उसके लिये यही शब्द सहज होते हैं। यह अनुभव से सिद्ध हो चुका है। आगे यथा-स्थान उनका अर्थ भी लिख दिया गया है।

(क) द्यविद्यवि, यथायथा आदि वेद में समास माने जाते हैं। इन आम्रेडित समासों के पूर्वपद में स्वर होता है; जैसे—द्यविंद्यवि, यथायथा, अद्याद्यं, प्रप्रं, पिबंपिब।

(ख) वेद में कुछ ऐसे समास होते हैं जो देखने में (रूप में) बहुव्रीहि के समान होते हैं, गुण में भी विशेषण होते हैं पर अर्थ और कभी कभी स्वर में भी वे बहुव्रीहि से बिलकुल भिन्न होते हैं। इन्हें विशेषण-समास कहते हैं। ऐसे समासों में पूर्वपद उत्तरपद के बारे में कुछ कहता है और पूरा समास विशेषण होता है; जैसे—धारयत्कवि (बुद्धिमानों को सहारा देते हुए), जमदग्नि (अग्नि के पास जाते हुए), अतिरात्र (रात्र भर रहनेवाला) इत्यादि। इनका स्वर पूर्वपद पर रहता है; जैसे—धारयत्कवि, जमदग्नि, त्रसदस्यु, अभिद्यु। शिक्षानर एक अपवाद है; और 'अ' में अंत होनेवाले सोपसर्ग सभी विशेषण-समास अंतोदात्त होते हैं; यथा—अतिरात्र, अनुकाम, अधस्पद।

(ग) बहुव्रीहि के पूर्वपद में स्वर रहता है; जैसे—राजंपुत्र = जिसका लड़का राजा हो, पर राजपुत्र = राजा का लड़का। जितने बहुव्रीहि वैदिक वाङ्मय में आए हैं उनमें लगभग एक अष्टमांश इस नियम के अपवाद हैं, अर्थात् उनके उत्तरपद में स्वर होता है। ऐसे अंतोदात्त बहुव्रीहि वे ही होते हैं जिनके पूर्वपद के अंत में 'इ' या 'उ' रहता है अथवा जिनके पूर्वपद में द्वि, त्रि, दुस्, सु, अ अथवा अन् रहता है; जैसे—तुविद्युम्न, पुरुपुत्र, द्विपद्, सुभग, अफल।

(घ) १—कर्मधारय के उत्तरपद में स्वर रहता है—वह भी अंत्याक्षर पर। जैसे—प्रथमजा, प्रातर्युज् (सबेरे जोता हुआ), महाधन। पर जिन कर्मधारयों के उत्तरपद के अंत में इ, मन्, वन् रहता है अथवा जिनके उत्तरपद में अर्हार्थक कृदंत संज्ञा के रूप में

हो उन सब के उपांत्याक्षर पर स्वर रहता है; जैसे—दुर्गृभि; सुतर्मन्, रघुपत्वन् (तेज उड़नेवाला), पूर्वपेय।

अपवाद स्वरूप कुछ ऐसे कर्मधारय भी हैं जिनका पूर्वपद सस्वर रहता है; जैसे—सधस्तुति, अविद्वांस्।

(२) सामान्य तत्पुरुषों के उत्तरपद के अंत्याक्षर पर स्वर रहता है; जैसे—गोत्रभिद्, उदमेघ (पानी की बौछार)। पर जब उत्तरपद में 'अन' से बनी कर्तृ वाचक संज्ञा, य से बनी भाववाचक, 'इ' अथवा वन् से बना विशेषण हो तो उस पद की प्रकृति में ही स्वर होता है; जैसे—देवमादन, अहिहत्य, पथिरक्षि, सोमपावन् (सोम पीना)।

(अ) जिन तत्पुरुषों के उत्तरपद भूतकृदंत हों अथवा 'ति' में अंत होनेवाली भाववाचक संज्ञाएँ हों उनके पूर्वपद में ही उदात्त होता है; यथा—देवहितम्, धनसाति।

(ब) 'पति' जिनके उत्तरपद में हो ऐसे तत्पुरुष प्रायः अंतोदात्त होते हैं; जैसे—अहर्पति, नदीपति। पर ऋग्वेद में गृहपति आदि कई अपवाद भी मिलते हैं।

(स) कुछ तत्पुरुष द्व्युदात्त होते हैं;जैसे—बृहस्पति, शुनःशेप, शचीपति इत्यादि।

(ङ) द्वंद्व के उत्तरपद के शब्द के (पद के नहीं) अंत्याक्षर पर स्वर रहता है; जैसे—अजावयः, अहोरात्राणि।

(अ) कुछ द्वंद्व क्रिया-विशेषण होते हैं। उनके पूर्वपद में उदात्त रहता है; जैसे—सायंप्रातः।

(ब) देवता द्वंद्व द्व्युदात्त होते हैं; यथा—इंद्रावरुणा। कुछ अन्य द्वंद्व भी द्व्युदात्त होते हैं; जैसे—तुर्वशायदू; मातरापितरौ।

सुबंतप्रकरण में स्वर

यहाँ संक्षेप में नीचे लिखी बातें अधिक ध्यान देने योग्य हैं—

(१) संबोधनपद में यदि कभी स्वर रहता है तो उसके आदि के अक्षर पर ही; जैसे—पितः, देव। संबोधनपद द्यौः सदा स्वरित रहता है।

(२) अजंत (अर्थात् अक्षर में अंत होनेवाले) शब्दों के तीन वर्ग किए जाते हैं। (१) अ और आ वाला वर्ग जिसमें देव और ज्या के समान शब्द आते हैं। (२) 'इ' और 'उ' वाला वर्ग। (३) 'ई' और 'ऊ'वाला वर्ग। पहले (अ और आ वाले) वर्ग के शब्दों में सभी विभक्तियों में उसी एक ही अक्षर पर स्वर रहता है; जैसे—देवः और देवानाम्। एकाक्षर संज्ञाओं, सर्वनामों और 'द्व' विशेषण में भी यही नियम लागू होता है।

(३) जब शब्द के अंत्याक्षर पर स्वर रहता है तो निर्बल[1] कारकों में विभक्तियों पर स्वर चला जाता है।

(अ) 'अ' वर्ग की बात ऊपर कही जा चुकी है। अकारान्त को छोड़ अन्य एकाक्षर शब्दों में यही नियम है; उदाहरणार्थ—धी, धिया, धीभिः। गो, वी आदि लगभग एक दर्जन शब्द इसके अपवाद हैं।

(ब) जब किसी शब्द का अंत्याक्षर, जिस पर स्वर रहता है, लुप्त हो जाता है, वह स्वर आगे की अक्षरविभक्ति पर पड़ता है; जैसे—

---

(१) पुँल्लिंग कर्त्ता (तीनों वचनों में), कर्म (एकवचन और द्विवचन) और नपुंसक के केवल बहुवचन में कर्त्ता और कर्म—इतने कारक सबल कहे जाते हैं, शेष निर्बल। संबोधन कर्त्ता के समान होता है।

महिमन् से महिम्ना, धेनु से धेन्वा, पितृ से पित्रा। एक बात और ध्यान देने योग्य है कि इ, ई, उ और ऋ में अंत होनेवाले अनेकाक्षर शब्दों के बहुवचन की षष्ठी विभक्ति में भी स्वर होता है; जैसे—अग्नीनाम्, बह्वीनाम्, धेनूनाम्, दातॄणाम्।

(स) अत् और अंत् से बने वर्तमान कृदंतों का स्वर निर्बल कारकों में विभक्ति पर चला जाता है यदि विभक्ति अजादि हो; जैसे—तुदंत् से तुदता। पर तुदद्भिः में विभक्ति पर स्वर नहीं है क्योंकि 'भिः' हलादि है। 'महांत्' और बृहंत्—इन दो पुराने कृदंतों में भी यह नियम लागू होता है; यथा—महता।

(द) ऋग्वेद में सस्वर 'अञ्च्' प्रत्यय से बने शब्दों का स्वर निर्बल कारकों में अक्षर-विभक्ति पर चला जाता है यदि अञ्च् बिगड़कर ईच् अथवा ऊच् होकर शब्द का अंत्याक्षर बन गया हो। जैसे—प्रत्यञ्च् से प्रतीचा में ईच् शब्द के अंत में है (अर्थात् विभक्ति के पहले है); अन्वञ्च् से अनूचः। परंतु प्राञ्च् से प्राची में ईच् या ऊच् नहीं है, फलतः स्वर-भेद भी नहीं है।

क्रियापदों में स्वर

यदि कभी क्रिया में स्वर होता है तो 'आगम' सदा सस्वर रहता है; जैसे—अभवत्, अभूत्, अजगन्। जिन रूपों में आगम का लोप हो जाया करता है उनमें स्वर-संचार के नियम ये हैं—(१) सामान्यभूत (लङ्) के उसी अक्षर पर स्वर रहता है जिस पर वर्तमान (लट्) में रहता है; यथा—भरत् (लङ्) और भरति, भिनत् और भिनत्ति। (२) कुछ वैदिक पूर्णभूत (Pluperfect) के रूपों की धातु में स्वर लगता है; जैसे—ननमः, तवनंत। परंतु

चक्रुपंत (३ बहु०) और दधृषंत दो अपवाद भी हैं। (३) लुङ् के रूप कई प्रकार के होते हैं, उसी तरह स्वर-भेद भी होता है; यथा—वंसि धातुस्वर है पर विदत् में प्रत्यय-स्वर है।

(ख) सार्वधातुक[1] काल और अर्थ—प्रथम[2] वर्ग के अ वाले रूपों में सदा स्वर एक ही अक्षर पर रहता है। भ्वादि और दिवादि गणों के रूपों में धातु पर उदात्त रहता है और तुदादि में आगम पर; यथा—भवति, नह्यति, तुदति। दूसरे[2] वर्ग के (अर्थात् अक्षरावस्थानवाले) रूपों में स्वर सबल रूप की प्रकृति पर और निर्बल रूप की विभक्ति पर रहता है। सबल रूपों के स्वर का यह नियम है कि अदादिगण में धातु के अक्षर पर, जुहोत्यादि के अभ्यास (अर्थात् द्वित्व-जन्य वर्ण) पर, स्वादि, रुधादि, तनादि और क्र्यादि के आगम पर उदात्त रहता है; यथा—अस्ति, बिभर्ति, कृणोति, मनवते, युनज्मि, गृह्णाति। पर निर्बल रूप—अद्धि, बिभृमसि, कृणुहि, युङ्क्ते इत्यादि। साथ ही अपवादों को ध्यान में रखना चाहिए।

आर्धधातुक काल

लिट् (पूर्णभूत) में सबल रूपों की धातु पर और निर्बल रूपों की विभक्ति पर स्वर रहता है; जैसे—चकार सबल है पर चक्रुः निर्बल। लुङ् (सामान्यभूत) का सामान्य

(१) लट्, लोट्, लिङ् और लङ्—ये चार लकार सार्वधातुक माने गए हैं, शेष काल और अर्थ आर्धधातुक।

(२) पाणिनि के १० गणों को नए ढंग के विद्वान् दो वर्गों में बाँटते हैं। भ्वादि, दिवादि, तुदादि और चुरादि गण पहले वर्ग में और शेष ६ दूसरे वर्ग में आते हैं।

वर्णन प्रारंभ में आ चुका है। भविष्यकाल में स्वर सदा 'स्य' अथवा 'इष्य' पर रहता है; जैसे—एष्यामि; करिष्यति।

प्रत्ययांत धातु

इन धातुओं के रूपों में प्रथम वर्ग के समान सदा एक ही अक्षर पर स्वर रहता है। वह स्वर णिजंत (प्रेरणार्थक) धातु के उपधा वर्ण पर रहता है; जैसे—क्रोधयति। यङन्त में, नाम धातु में और कर्मणि प्रयोग में स्वर 'य' पर रहता है; यथा—रेरिह्यते, गोपायन्ति, पन्यते (उसकी प्रशंसा होती है)। सनंत धातुओं के अभ्यास (अर्थात् द्वित्व-जन्य वर्ण) पर स्वर रहता है; यथा—पिप्रीषति। सबल यङ्लुगंत रूपों की स्वर-संचार-विधि जुह्वोत्यादि जैसी होती है; यथा—जोहवीति, जर्भृतः। पर वर्वृतति जैसे रूपों में वह नियम नहीं लगता। लेट् में और क्रियार्थक कृदंतों के अभ्यास पर ही स्वर रहता है; जैसे—जंघनत् और चेकितान।

कृदंत[1]

(१) कालवाची कृदंतों का स्वर उपसर्गों से समास होने पर भी नहीं बदलता। उपसर्ग ही स्वरहीन हो जाते हैं; यथा—अपगच्छन्त् (भागते हुए); विप्रयतः (बढ़ते हुए)। जब उपसर्ग क्रिया से अलग रहता है तो सस्वर रहता है। (२) भूत-

---

(१) Participle, Gerundive, Gerund, Infinitive आदि के लिये हिंदी में कृदंत शब्द प्रचलित है (देखो 'गुरु' का व्याकरण)। शतृ, शानच्, तव्यत्, तुमुन् आदि का प्रयोग केवल नए ढंग से संस्कृत पढ़े विद्यार्थी के लिये सरल नहीं होता। Infinitives के लिये हेत्वर्थ कृदंत या क्रियार्थक संज्ञा अथवा क्रियार्थ क्रिया का भी प्रयोग हिंदी में होता है।

कालिक कृदंत सदा अंतोदात्त होते हैं; जैसे—गत, पतित। पर सोपसर्ग होने पर उसका स्वर लुप्त हो जाता है; जैसे—निहित। जब दो उपसर्ग रहते हैं तो पहला अनुदात्त ही रहता है; यथा—समाकृतम्। (३) य, त्य और त्व से बने अर्हार्थक कृदंतों में धातुस्वर होता है; यथा—चक्ष्य (देखने योग्य), श्रुत्य (सुनने योग्य), वक्त्व (कहने योग्य)। आय्य, एनय और अनीय वाले कृदंतों के प्रत्ययों के उपधा पर स्वर रहता है; यथा—पनाय्य (प्रशंसा योग्य), ईक्षेण्य (दर्शनीय) और उपजीवनीय। और तव्य वाले शब्दों के प्रत्ययांत में; यथा—जनितव्य (पैदा होने को)। सोपसर्ग होने पर इन कृदंतों में कोई स्वर-भेद नहीं होता। यथा—आमंत्रणाय (आमंत्रित होने के लिये)।

पूर्वकालिक कृदंत—त्वी, त्वा और त्वाय से बने पूर्वकालिक कृदंतों के प्रत्यय में स्वर लगता है पर 'या' अथवा 'त्या' से बने सोपसर्ग कृदंतों की धातु में वर रहता है; यथा—भूत्वा (होकर), गत्वी और गत्वाय (जाकर), संगृभ्या (इकट्ठा करके), उपश्रुत्य, आगत्या (आकर)। ऋग्वेद में 'य' की जगह 'या' ही आता है।

क्रियार्थक संज्ञा[1] (हेत्वर्थ कृदंत)—तुमुन् प्रत्यय वाले कृदंत (पिछली) संस्कृत में अव्यय माने जाते हैं पर वैदिक में इस अर्थ में क्रियार्थक संज्ञाएँ प्रयोग में आती थीं। उनके विभक्ति-युक्त

(१) वैदिक क्रियार्थक संज्ञाओं (Infinitives) की छटा हिंदी में कुछ कुछ देख पड़ती है। यहाँ भी उनमें षष्ठी, चतुर्थी आदि कई विभक्तियाँ होती हैं, उनका कर्म होता है इत्यादि इत्यादि (देखो पं० कामताप्रसाद गुरु-कृत 'हिंदी व्याकरण' पृ० ४३६-४०)।

अनेक रूप भी मिलते हैं। स्वर भी विभक्तियों के सामान्य नियम के अनुसार लगते हैं। (१) इ, ति, असु और वन् से बने रूपों में (जो प्रायः चतुर्थी में ही मिलते हैं) प्रत्यय स्वर होता है। ध्यै से जो चतुर्थी का रूप बनता है उसमें पूर्ववर्ती 'अ' पर स्वर लगता है। और धातु से बने रूपों में प्रत्यय पर; यथा—दृशये (देखने के लिये), पीतये (पीने के लिये), चरसे (चलने के लिये), दावने (देने को), तुर्वणे (जीतने को), इयध्यै ('जाना' या जाने को) और दृशे (देखने को)। पर सोपसर्ग होने पर 'दृशे' के समान धातुज क्रियार्थक संज्ञाओं की भी प्रकृति में स्वर लगता है; जैसे—समिधे (जलाने को) (२) मन् से बने चतुर्थीवाले रूप और धातु से बने द्वितीया (कर्म) और पंचमी (अपादान) तथा षष्ठी (संबंध) के पदों में धातु-स्वर होता है। तु से बने सभी रूपों में धातु-स्वर होता है; यथा—दामने (देने को), शुभम् (चमकने को), आसदम् (बैठने को), अवपदः (गिरने को), दातुम् (देना, देने को), गन्तोः (जाने को), भर्तवे (ढोना, ले जाने को), गंतवै (जाना, जाने को)।

अर्थ-भेद से स्वर-भेद

कुछ ऐसे विभक्ति-युक्त शब्द होते हैं जो क्रियाविशेषण के अर्थ में आते हैं। अर्थ बदलने से उन पदों का स्वर भी बदल जाता है। द्वितीया विभक्ति (अर्थात् कर्म कारक) के नपुंसक के रूप ऐसे अधिक मिलते हैं; यथा—द्रवत्=जल्दी से, पर द्रवत्=दौड़ता हुआ। अपरम्=पीछे, पर अपरम्=दूसरा। उत्तरम् (क्रियाविशेषण) पर उत्तरम् (विशेषण)।

दूसरी विभक्तियों के भी ऐसे पद मिलते हैं; यथा—दिवा (दिन में—क्रिया०) और दिवा (स्वर्ग में से); अपराय (भविष्य के लिये) पर अपराय। सनात् (क्रियाविशेषण) पर सनात् (विशेषण)। ऐसा स्वरभेद से अर्थ-भेद संज्ञाओं में भी पाया जाता है; जैसे—ज्येष्ठ (बड़ा, प्रधान, मुखिया) पर ज्येष्ठ (सयाना, उम्र में बड़ा); गोमती (गायों-वाली) पर गोमती (एक नदी का नाम); राजपुत्र (राजा का लड़का) पर राजपुत्र (जिसके लड़के राजा हों)।

संधि-स्वर

जब दो स्वर ऐसे मिल जाते हैं कि उनके स्थान में एक दीर्घ या संध्यक्षर हो जाता है तब, यदि उन दोनों स्थानीय अक्षरों में से एक पर या दोनों पर उदात्त रहा हो तो, आदेश पर भी उदात्त रहता है; जैसे—अ + अगात् = आगात्, नुदस्व + अथ = नुदस्वाथ, क + इत् = क्वेत्, न + अन्तरः = नान्तरः।

(याद रहे कि स्वरित और अनुदात्त की संधि होने पर स्वरित ही होता है।)

(१) पर जब उदात्त 'इ' और अनुदात्त इ की संधि होकर 'ई' बनता है तब स्वरित होता है; यथा—दिवि + इव = दिवीव। यहाँ (नियम-विरुद्ध) उदात्त और अनुदात्त की संधि से स्वरित हुआ है। यह ऋक्प्रातिशाख्य आदि का प्रश्लिष्ट स्वरित है। पर तैत्तिरीय प्राति-शाख्य का **प्रश्लिष्ट स्वरित** उ + उ से प्राप्त ऊ पर रहता है; यथा—सु + उद्गाता = सूद्गाता। और शतपथ० में अ + अ तथा अ + ए की (प्रश्लेष) संधि में ही प्रश्लिष्ट स्वरित होता है; यथा—न + एव

+ अश्नीयात्=नैवाश्नीयात् इस प्रकार प्रश्लेष संधि में होनेवाला उदात्त-जन्य स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहा जाता है।

(२) जब उदात्त 'इ' और 'उ' का संधि में 'य' और 'व' आदेश होता है तो परवर्ती अनुदात्त अक्षर पर स्वरित होता है; यथा—वि+आनट्=व्यानट्। इसे प्रातिशाख्यों ने क्षैप्र स्वरित नाम दिया है।

(३) यही संधि-कार्य यदि एक पद के भीतर होता है तो उस स्वरित को जात्य या नित्य कहते हैं; यथा—कनिआ=कन्या, कुअ=क, पस्त्या, स्वः। पद के भीतर की संधि जात्य और नित्य होती है इसी से उस स्वरित का नाम भी ऐसा पड़ गया है।

(४) जब संधि के कारण ए या ओ में उदात्त अ का अभिनिधान हो जाता है तो अ का उदात्त ए या ओ पर चला जाता है; जैसे—सूनवे + अग्ने= सूनवेग्ने, वो+अवसः=वोऽवसः।

किंतु जब अनुदात्त अ का अभिनिधान होता है तो पूर्ववर्ती उदात्त बदलकर स्वरित हो जाता है; यथा—सो+अधमः=सोऽधमः। इसे प्रातिशाख्यों में अभिनिहित स्वरित कहा गया है।[१]

वाक्य-स्वर

वास्तव में वैदिक में वाक्य स्वर होता ही नहीं। जो स्वरसंचार के नियम पद के भीतर होते हैं, वही पद के बाहर वाक्य में होते हैं।

(१) जिन चार प्रकार के स्वरित यहाँ वर्णित हैं वे 'स्वतंत्र' माने जाते हैं और शेष ऐसे स्वरित, जो सदा उदात्त के बाद आते हैं और उदात्त के पूर्व कभी नहीं आते, 'परतंत्र' कहे जाते हैं। संहिता-पाठ से पद-पाठ बनाने में इन सब स्वरितों में विकार होता है। केवल जात्य स्वरित कभी नहीं बदलता। इसलिये वास्तव में 'स्वतंत्र' वही है।

फिर भी दो-एक बातों से वाक्य-स्वर की एक झलक मिलती है। संबोधन[1] और क्रिया[2] के स्वरों पर वाक्य का प्रभाव पड़ता है।

संबोधनपद

वाक्य के अथवा पाद के आदि में रहने पर संबोधनपद सस्वर होता है; यथा—अग्ने सूपायनो भव (१।१।९)। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि 'अग्ने' अर्धर्च के दूसरे पाद के आदि में है। अर्धर्च के पहले पाद के आदि में संबोधन का सस्वर होना तो साधारण ही है। दो उदात्तवाले संबोधनपद भी आदि में आने पर केवल आद्योदात्त रह जाते हैं; जैसे—प्रथमा में मित्रावरुणा और संबोधन में मित्रावरुणा होता है। दो या अधिक संबोधन जब वाक्य के आदि में आते हैं तो सब सस्वर होते हैं; यथा—अदिते, मित्र, वरुण—तीनों आदि में होने से सस्वर हैं। पर साधारणतया एक ही व्यक्ति के लिये प्रयुक्त कई संबोधनपदों में से पहला ही सस्वर (उदात्त) होता है; जैसे—ऊर्जो नपात् सहसावन् में केवल 'ऊ' पर स्वर है। कहीं कहीं इसके भी अपवाद मिलते हैं; जैसे—ऊर्जो नपात् भद्रशोचिषे। इसका रहस्य तो स्पष्ट ही है, जहाँ जोर देना रहता है वहाँ स्वर अवश्य आता है। भद्रशोचिषे के गुण पर भी जोर देना था इससे उच्चारण में स्वर भी आ गया। इसी प्रकार संबोधन पद आदि में बलवान् और सस्वर

---

(१) सुबंत प्रकरण में आ चुका है कि संबोधनपद में जब स्वर रहेगा तो आदि के अक्षर पर। अग्निः अंतोदात्त है पर (संबोधन) अग्ने आद्योदात्त है। इसी प्रकार (कर्त्ता) ऊर्जो नपात् सहसावा में के तीनों (उदात्त) स्वर हट जाते हैं, केवल आदि के 'ऊ' अक्षर पर स्वर रह जाता है।

(२) क्रियापदों के स्वर का भी वर्णन यथास्थान हो चुका है। देखो पृ० ३०४–५

रहता है, अन्यत्र कमजोर होने से स्वरहीन। वाक्य या पाद के आदि में न आने से जो संबोधन स्वर-रहित (अर्थात् अनुदात्त) हो जाते हैं उनके तो उदाहरण अनेक मिलते हैं; जैसे—उप त्वाऽग्ने दिवेदिवे (१।१।७), ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा।

क्रियापद

वाक्य की प्रकृति के अनुसार क्रिया में स्वर-भेद होता है। प्रधान वाक्य की (विकारी) क्रिया स्वर-हीन होती है; यथा—अग्निमीळे पुरोहितम्। वैदिक में सदा नियम[1] के साथ अपवाद होते हैं। इसके भी कुछ अपवाद हैं। यदि एक ही कर्ता से कई क्रियाओं का संबंध हो तो पहली क्रिया स्वरहीन और बाद[2] की क्रियाएँ सब सस्वर होती हैं; यथा—तेषां पाहि श्रुधि हवम् (उनको पोओ, हमारी पुकार सुनो)। तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति (शक्ति-वाला आदमी जीतता है, शासन करता है, उन्नति करता है)। और जब क्रिया वाक्य या पाद के आदि में रहती है तब भी सस्वर होती है। शये वव्रिः चरति जिह्वयादन् इत्यादि अनेक उदाहरण हैं। और जब वाक्य के आदि में संबोधन और उसी के बाद क्रिया हो तो क्रिया सस्वर होती है क्योंकि संबोधन वाक्य का अंग नहीं माना जाता; यथा—अग्ने जुषस्व नो हविः। इसी नियम के अनुसार 'इंद्र जीव सूर्य जीव देवा जीवत' वाक्य में सब पद सस्वर हैं। तीनों संबोधन भी वाक्यों के आदि में हैं और तीनों

---

(१) उत्सर्गाः सापवादाः (ऋक्प्रातिशाख्य १)।

(२) बाद की क्रियाएँ दूसरे वाक्य के समान मानी जाती हैं, क्योंकि एक वाक्य में एक ही क्रिया होनी चाहिए।

क्रियाएँ भी। कभी कभी तो क्रिया वाक्य के आदि में न रहने पर भी केवल इद् अथवा चन का साथ पाकर जोरदार होने से सस्वर हो जाती है; जैसे—अध स्मा नो मघवन् चकृतादित्। न देवा भासथश्चन।

इस प्रकार प्रधान वाक्य की क्रिया का नियम है स्वरहीन रहना। अपवाद रूप से वह सस्वर होती है। पर गौण (अप्रधान) वाक्य की क्रिया नियम से सदा सस्वर रहती है। इस गौण वाक्य की पहचान 'यत्' (जो) के किसी रूप से, अथवा 'च' और 'चेद्' से (दोनों यदि के अर्थ में), 'नेद्' (नहीं तो), 'हि' (क्योंकि) अथवा 'कुविद्' (चाहे, चाहूँ तो) से हो जाती है। यं यज्ञं परि-भूरसि में 'असि' आद्योदात्त है। इन्द्रश्चमृळयाति नो में 'च' के कारण क्रिया सस्वर है।

इस नियम के भी कुछ अपवाद होते हैं। जिन वाक्यों से विना किसी संयोजक शब्द के भी 'यदि' और 'जब' का अर्थ निकलता है, उनमें से पहले की क्रिया कभी कभी सस्वर होती है; यथा—समश्वपर्णाश्चरंति नो नरोऽस्माकमिंद्र रथिनो जयंतु (घोड़ों से जिनके पर लग गए हैं ऐसे हमारे आदमी जब इकट्ठे हों, हे इंद्र तब हमारे ही रथी जीतें!) में 'चरंति' सस्वर है। और कुछ ऐसे वाक्यों की भी जो गौण से मालूम होते हैं, क्रिया सस्वर होती है; जैसे—प्रप्रान्ये यंति पर्यन्य आसते (कुछ आगे बढ़ जाते हैं, कुछ बैठे रह जाते हैं) यहाँ दोनों वाक्यों में विरोध का अर्थ होने से गौण-प्रधान का सा भाव आ जाता है। इसीसे यंति सस्वर है।

उपसर्ग

उपसर्गों में केवल 'अभि' अंतोदात्त है। अन्य सब आद्योदात्त हैं। इनके स्वर पर भी वाक्य का प्रभाव पड़ता है। सामान्य नियम यह है कि प्रधान वाक्य में जो उपसर्ग क्रिया से अलग

होकर उसके पूर्व (पहले) या परे (बाद) आता है वह सस्वर होता है; यथा—आ गमत् (वह आवे), जयेम सं युधि स्पृधः (युद्ध में हम अपने शत्रुओं को जीतें)। इसी तरह जब दो उपसर्ग आते हैं तो वे दोनों भी बिलकुल स्वतंत्र और सस्वर रहते हैं; यथा—उप प्र याहि (आओ, बढ़ आओ), परि स्पशो निषेदिरे (सिपाही चारों ओर बैठे हुए हैं)। इस नियम का अपवाद यह है कि जब 'आ' किसी क्रिया के साथ समस्त हो जाता है और 'आ' के पूर्व कोई दूसरा उपसर्ग जुड़ जाता है तब केवल 'आ' पर स्वर रहता है; जैसे—समाकृणोषि जीवसे। पर जब उपसर्ग अलग रहते हैं तब ऊपर का ही नियम लागू होता है; यथा—प्रत्या तंनुष्व (यहाँ 'प्रति' और 'आ' दोनों सस्वर हैं)।

अप्रधान वाक्यों में बिलकुल उलटी दशा होती है। उपसर्ग समस्त और स्वर-रहित होता है; यथा—यद्...निषीदथः। यह नियम भी अपवाद-रहित नहीं। प्रायः पाद के आदि का उपसर्ग अप्रधान वाक्य में भी अलग और सस्वर रहता है; जैसे—वि यो ममे रजसी। कभी कभी क्रिया के बाद और कभी कभी क्रिया के बिलकुल पूर्व में सस्वर उपसर्ग आता है; यथा—यस्तस्तंभ सहसा वि ज्मो अंतान्, य आहुतिं परि वेद नमोभिः।

जिस प्रकार अप्रधान वाक्य में एक उपसर्ग समस्त और स्वर-हीन होता है वैसे ही दो (उपसर्ग) पर कभी कभी दो में से एक अलग होकर सस्वर हो जाता है; जैसे—यूयं हि देवीः परिप्रयाथ में 'परि' और 'प्र' दोनों समस्त और अनुदात्त हैं। सं यमायांति धेनवः में केवल एक उपसर्ग (सम्) व्यस्त और सस्वर है। और कदाचित् ही कभी ऐसा उदाहरण मिलता है जब अप्रधान वाक्य में दोनों उपसर्ग अलग हों और सस्वर हों; जैसे—प्रयत् स्तोता......उपं गीर्भिरीट्टे। यहाँ 'प्र' और 'उप' दोनों ही अलग हैं और सस्वर हैं।

इस प्रकार उसने अपने भाषाशास्त्री वैयाकरणजी से स्वर का एक परिचय पा लिया। साथ ही अपने (वैदिक, संस्कृत आदि के) इतिहास का ज्ञान भी जान लिया। कैसे साम-वेद के स्वर-मार्ग संगीत में आकर बिलकुल लौकिक बन गए और ऋग्वेद के स्वर (ब्राह्मणों और पाणिनि की) भाषा में आदर पाकर भी विक्रम संवत् के बाद इस लोक में न रह सके; कैसे लौकिक (संस्कृत) में केवल बल-प्रयोग रह गया; कैसे पिछली संस्कृत में स्वर के नाम पर केवल वाक्य-स्वर की चर्चा होने लगी; कैसे कुछ लोग भ्रम से बल-प्रयोग को भी स्वर का नाम देने लगे इत्यादि इत्यादि जान लेने से जिज्ञासा तो कुछ शांत हुई पर उसका विद्यार्थि-सुलभ कुतूहल और बढ़ा। इच्छा हुई, 'चलें किसी वैदिक से कुछ सुनें। देखें, स्वर आजकल कैसी दशा में है।'

बड़े उद्योग और प्रयत्न के बाद आज वसंतपंचमी के दिन वह एक वैदिक के घर पहुँच सका है। वह घर नहीं, एक तरह की पाठशाला है। गुरुजी का घर है। आज वहाँ यजुर्वेदी, सामवेदी, ऋग्वेदी सभी जुटे हैं। एक ही उद्योग में उसे सुनने को कई चीजें मिल गईं। पाठ और गान उसे सभी अच्छे लगे। पर यजुर्वेद के पाठ में कुछ विचित्र गेयता सुनकर उसे आश्चर्य सा हुआ। ऋग्वेद का पाठ उसे बड़ा कलापूर्ण और मधुर मालूम हुआ। साम-गान सबसे अधिक सुहावना लगा। कम से कम एक विद्यार्थी के कुतूहलपूर्ण कान तो बड़े प्रसन्न हुए पर न जाने क्यों वह गान उसकी कल्पना के आदर्श के अनुरूप न उतरा। सोचा, शास्त्रीय अध्ययन करके फिर साम-गान सुनने की कोशिश करूँगा।

इसी मुग्धता के क्षणों में उसके मन में बार बार यह भाव उठता था—कहा जाता है, वेद का ह्रास हो गया; स्वर कोई जानता नहीं। पर ये मेधावी वैदिक अपनी शाखा की एक एक चीज

कंठस्थ किए बैठे हैं। सस्वर पाठ उनके लिये स्वाभाविक जान पड़ता है। स्वर इन पाठकों और गायकों के जिह्वाग्र पर बैठकर मानो अपनी पुरानी राजसी शान में आ जाता है। पर न जाने क्यों रह रहकर एक मौन आवाज आती है 'ते हि नो दिवसा गताः'।

× × × × × ×

चलते समय वृद्ध वैदिकजी के एक वयस्क विद्यार्थी ने दरवाजे पर आकर धीरे से पूछा—"बाबू, तुम स्वर सीखकर क्या करोगे? गुरुजी ऐसे लोगों को तो कोई पूछता नहीं। यज्ञ भी तो कोई कराता नहीं। आजकल धरम की कोई पूछ नहीं! फिर स्वर और मंत्र सीखने में बड़ी मिहनत पड़ती है—बड़ा समय लगता है। बाबू! उतने में दुनिया में न जाने क्या कर डालोगे? हम लोग इसी स्वर रटने में रह गए।"

"नहीं, मैं तो केवल अपने पुरखों की बातों को समझना चाहता हूँ। प्राचीन बातों में मुझे बड़ा आनंद आता है। फिर वेद और स्वर—इनका जानना तो ब्राह्मण का धर्म है।"—उसने कुछ विनय लिए हलके गर्व के स्वर में उत्तर दिया।

"धर्म तो है ही बाबू! मैंने जमाना देखकर बात कही थी।"

"हाँ, ठीक कहते हैं" का भाव दिखाते हुए उसने नमस्कार किया और चल दिया। रास्ते भर सोचता आया—"इन ऋषिकल्प लोगों की ऐसी दशा! सृष्टा न सही, द्रष्टा न सही, मंत्रों के रक्षक तो ये हैं। काल के कितने झोंकों से इन्होंने इस वेद-दीप को बुझते बुझते बचाया है। आदिकवि (=(१) ब्रह्मा, (२) ऋषि) न सही, अमृतघट के लानेवाले द्विजराज तो हैं। वेदामृत को ढाँक-तोपकर शुद्ध और स्वच्छ रखकर हमारे पास पहुँचानेवाले तपस्वी तो यही हैं। × × × इनकी उपेक्षा तो न होनी

चाहिए। कम से कम वैदिक ग्रंथों के जीते-जागते संस्करण मान-कर उनकी उपासना की जा सकती है। क्या ये आदर्श पुस्तकों के आलय नहीं हैं? क्यों नहीं नई आँखवाले (कम से कम भारतीय) इनसे लाभ उठाते? हस्त-लिखित प्रतियों (manuscriptes) के खोजने और खरीदने में हम जितना खर्च करते हैं उससे कहीं कम में हम इन कोनों और कंदराओं में पड़े लोगों से कहीं ज्यादा पा सकते हैं। हम नई रोशनीवालों को इन पुरानों से बिलकुल नई रोशनी मिल सकती है।" इसी प्रकार न जाने और क्या क्या सोचते वह काशी की गलियाँ पार कर गया। विचारों के बहाव में उसे पता भी न चला और घर आ गया।

दरवाजा खुलते ही वह सोफा पर जा पड़ा। वहीं नौकर के लाए शर्बते-अनार के घूँट लेते हुए फिर कुछ सोचने लगा। शर्बत की ताजगी ने विचारों का रुख पलट दिया—समवेदना की जगह समालोचना ने ले ली। विद्यार्थी की पूछी हुई बातें एक एक कर याद आने लगीं—"......स्वर सीखकर क्या करोगे? यज्ञ......... नहीं। ......धरम...... नहीं। फिर......बड़ी मिहनत...... बड़ा समय......। ......दुनिया में......? ......स्वर रटने में रह गए।" अपने आप उत्तर देने लगा—"मैंने स्वर सीखा है पर इसी में तो नहीं रह गया। अन्य कामों में भी मैं अपने किसी साथी से कम नहीं हूँ। क्या मुझे स्वर नहीं आया?......हाँ, मैंने रटा नहीं है। ......। समय और मेहनत तो हर एक काम में लगती है। मुझे तो उस मेहनत में बड़ा रस मिला। कदाचित् मैंने रुचि से पढ़ा था और उन्होंने कर्त्तव्य के भार से दबकर। या यह कारण भी हो सकता है कि उनकी व्यवहार को दूर रखनेवाली, शास्त्र से लदी शिक्षा-प्रणाली ने ही बोझ को भारी बना दिया हो। शास्त्र बनते तो हैं बुद्धि को सहारा देने के लिये, उसका काम हलका

करने के लिये, पर कोई यदि उन्हीं को सर पर लाद ले तो ?...... कुछ भी हो, मेरा समय सार्थक बीता, सारी मिहनत का फल भी दिनोदिन प्रत्यक्ष होता जा रहा है। वे 'देवताजी' समझते हैं कि धरम और यज्ञ से ही स्वर का संबंध है। यही भूल तो उनकी सारी आफत का मूल है।"

मैं जब एक बार अपनी ओर देखता हूँ तो स्वर के ज्ञान से एक नई दुनिया की खिड़की खुली पाता हूँ। भाषा-शास्त्र का ज्ञान मेरा बढ़ा सा मालूम पड़ता है। वर्ण-विज्ञान के अनेक तत्त्व मैं सीख गया हूँ। इसी स्वर की बदौलत भाषा में कितने परिवर्तन हो जाते हैं और वर्णों के राज्य में कितने मरते-जीते रहते हैं, कितने छोटे से बड़े हो जाते हैं, कितने बड़े से छोटे। स्वर के ही द्वारा ग्रीक और वैदिक आदि में अक्षरों के अवस्थान[1] की सृष्टि हुई है। स्वर के ही कारण

---

(१) धातुओं और शब्दों में कृत्, तद्धित, सुप्, तिङादि प्रत्ययों के लगने से जो रूपांतर होते हैं उनमें समानाक्षर और संध्यक्षर एक दूसरे के स्थान पर आते जाते पाए जाते हैं। समानाक्षरों में ह्रस्व और दीर्घ एक दूसरे की जगह पर आते हैं। संध्यक्षर अथवा दीर्घ समानाक्षर जब तक उदात्त रहता है तब तक उसमें कोई विकार नहीं होता; पर ज्योंही स्वर हटा कि वह 'समान' या 'ह्रस्व' हो जाता है। इसी को 'अक्षरावस्थान' या अक्षर-श्रेणि-विभाग (vowelgradation) कहते हैं। वैदिक संस्कृत में अक्षरावस्थान की पाँच श्रेणियाँ पाई जाती हैं—१—गुण श्रेणि, २—संप्रसारण श्रेणि, ३—'आ' श्रेणि, ४—ऐ-औ श्रेणि और ५—नीचतर श्रेणि। उदाहरणार्थ—गुण श्रेणि में ए, ओ, अर, अल्—चारों सस्वर गुण अक्षर ऊँचे वर्ग के हैं और उनके नीचे वर्ग के स्वर-रहित रूप इ, उ, ऋ और लृ होते हैं; जैसे—एमि में 'ए' उदात्त और ऊँचे वर्ग का है तथा 'इमः' में इ अनुदात्त और नीच वर्ग का है। इसी प्रकार अन्य श्रेणियाँ भी होती हैं। (सविस्तर वर्णन के लिये देखो मेकडानल-कृत Vedic Grammar for Students, pp. 5-6.

अनेक ऐसे कार्य हुए हैं जिन्हें शब्द-शास्त्र (अर्थात् व्याकरण) के कोरे शब्द पढ़नेवाला विद्यार्थी कभी नहीं समझ सकता। कारक-रचना और काल-रचना[1] करते समय क्यों कुछ शब्दों की प्रकृति में विकार होता है और कुछ के प्रत्यय में ? क्यों किसी में विभक्ति-प्रत्यय से संधि मात्र होकर रह जाती है और कहीं प्रकृति में भी विकार आ जाता है ? क्यों एक गण की धातु में साधारण नियम के अनुसार प्रत्यय लग जाते हैं और किसी गण में अनेकों विकार होते हैं ? ऐसी बातों के रहस्य का पता स्वर-ज्ञान से ही लगता है। आधुनिक वैयाकरण जिन कारकों अथवा क्रियारूपों को सबल (Strong) और निर्बल (weak) के नाम से पुकारा करते हैं उनके भेद का भी कारण स्वर है। संस्कृत के लुक् समास जैसे समासों का मर्म स्वर से ही मालूम होता है। स्वरैक्य से वेद में समास का निश्चय होता था। इसी प्रकार न जाने कितनी बातों में, मैं देखता हूँ, स्वर वैयाकरण को नई आँख (दर्शन) दे देता है।

वैदिक भाषा के नित्यत्व और अनादित्व के रक्षक भी स्वर हैं। पिछली संस्कृत और प्राकृत आदि में जितनी जल्दी विकार हुए हैं उतने वैदिक में नहीं—इसका भाषा-शास्त्र साक्षी है। क्योंकि जिस भाषा में स्वर का शासन नहीं, उसमें जिसका 'बल' बढ़ा उसी का राज समझो। वह भी थोड़े समय के लिये ही। इस अराजकता और अन्याय का मनोरंजक इतिहास तो मैं भाषा-शास्त्र में पढ़ ही चुका हूँ। कैसे 'संस्कृत' शब्द 'प्राकृतों' के झमेले में पड़कर, बहुरुपिया बनकर, अपना निर्वाह करते रहे हैं। पाली की सीमा में घुसे तो एक वेष रहा, भिन्न भिन्न प्राकृतों के दरबार में दूसरा, अपभ्रंश और अवहट्ट के राजत्वकाल में एक तीसरा और

---

(१) कारक-रचना और काल-रचना शब्द declension और conjugation के लिये हिंदी में चल पड़े हैं। इसी से उन्हीं का प्रयोग किया गया है।

आज की देशी भाषाओं में उनका बिलकुल अनोखा ही रूप देख पड़ता है। समय समय पर यद्यपि वैयाकरणों और विद्वानों द्वारा भाषाओं का अनुशासन होता रहा है फिर भी स्वरहीन शब्दों के साथ न्याय नहीं हो सका। उनके आकार-प्रकार सभी नष्ट किए गए। इसी लिये विद्वान्—नए, पुराने सब—अन्य प्राकृतादि भाषाओं की तुलना में वैदिक को दीर्घायु और स्थिर पाकर उसे 'नित्य और निर्विकार' कहा करते हैं। नित्य और पुरातन होने के कारण ही मूलभाषा की बहुत सी बातें यह बताया करती है। इसका जन्म भी तो न जाने किस बाबा आदम के जमाने में हुआ है। कदाचित् प्रथम प्रजापति ही इसका उद्भव देख सके हों। भाषा-शास्त्र का ज्योतिषी तक भी इसकी जन्म-लग्न नहीं बता सका; फिर बेचारे ऐतिहासिकों की कौन कहे? इसी लिये तो हारकर सभी को उसे 'अनादि' स्वीकार करना पड़ा है। उसके आदि का किसे पता? उसके 'स्वर' का यह प्रताप है।

स्वर से भाषा-शास्त्र, शब्द-शास्त्र, वर्ण-विज्ञान (शिक्षा) आदि में सहायता मिलती है। यही नहीं, मेरे विद्यार्थीजी के वेद को समझने के लिये भी तो स्वर का ज्ञान अनिवार्य है। किसी भी वाङ्मय का अध्ययन करने के लिये भाषा और भाव दोनों का ज्ञान आवश्यक है। साहित्य अथवा काव्य का आनंद लेने के लिये शब्दों का संगीत और अर्थों का रस दोनों ही चाहिए। स्वर का दोनों से ही संबंध है। शब्द के रूप से स्वर का संबंध तो स्पष्ट ही है; स्वर को जाने बिना, वैदिक शब्दों का पढ़ना भी संभव नहीं। जो 'स्व', 'क' स्वर से ठीक नहीं पढ़ेगा, उसका छंद भी बिगड़ जायगा। यद्यपि वैदिक छंद से स्वर का विशेष संबंध नहीं है तब भी स्वर-ज्ञान के विना वेद-भाषा का सौंदर्य और संगीत जाता रहेगा। वेद पाठ्य और गेय है, फिर बिना स्वर का पाठ और गान कैसा?

'स्वरतोऽर्थनिर्णयः' (ऋग्वेदानुक्रमणी)—स्वर से वेदार्थ का संबंध है—यह हर एक वेदज्ञ मानता है। स्वर से क्रिया और संज्ञा में, संज्ञा और विशेषण में, विशेषण और क्रिया-विशेषण में, क्रियावाचक और कर्त्तृवाचक नामों में, समास और समास में, क्रिया और क्रिया में, वाक्य और वाक्य में अर्थ-भेद पाया जाता है। इसी तरह की अनेक अर्थ की बातें स्वर से लगती हैं। यही आश्चर्य है कि इसके बिना कुछ लोग कैसे वेद पढ़ने और वेदार्थ करने का साहस करते हैं। 'यथेंद्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' वाली कथा तो संस्कृत न जाननेवालों में भी हमारे यहाँ प्रसिद्ध है। फिर भी कुछ लोग स्वरज्ञान को अनावश्यक समझते हैं, यही समझ में नहीं आता।

मैं तो, यदि सच पूछो तो, स्वर-मुक्तिवादी हो गया हूँ। वेद के सागर में गोते लगाना हों, मोती ढूँढ़ना हो तो पहले स्वर का अभ्यास करो। उस सागर के पार जाना चाहो तो स्वर का यंत्र (Compass) अपने पास रखो। यदि वेद की उलझनों को सुलझाना हो, उसकी झंझटों से छुटकारा पाना चाहो, उसके अर्थ-जाल से बाहर निकलना चाहो, उसकी माया से मुक्ति चाहो तो स्वर की उपासना करो। सिद्धि के लिये और उपाय करो पर इनका आराधन पहले। तभी वेदामृत का दर्शन कर सकोगे, उसे पीकर अमर बन सकोगे।

इस प्रकार वह विचार-लोक में वेदामृत के दर्शन और पान पर व्याख्यान दे रहा था कि इतने में बगल से कोई भीतर आया। कुर्सी पर बैठते बैठते प्रश्न हुआ—"श्रीमान् क्या सपना देख रहे थे? किस दुनिया में थे?" उत्तर भी उसी धुन में मिला—दुनिया जरूर दूसरी थी पर था मैं बिलकुल जीता-जागता। अमर स्वर-लोक में था। घबड़ाओ नहीं, साथ घूमने चलूँगा।

× × × ×

थोड़ी देर बाद दोनों बाहर चले गए।

---

(१२) 'रामाज्ञा-प्रश्न' और 'रामशलाका'

[लेखक—श्री माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, जौनपुर]

नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'तुलसी-ग्रंथावली' में जिस ग्रंथ का नाम 'रामाज्ञा-प्रश्न' है, उसी के विभिन्न नाम विभिन्न प्रतियों में मिलते हैं—(१)रामायण-सगुनौती[१], (२) सगुनावली[२], (३) सगुनमाला[३], (४) रामाज्ञा[४], (५) रामाज्ञा-प्रश्न[५], (६) रामशलाका[६] और (७) रघुवरशलाका[७]।

इन नामों में पहले नाम को अधिक महत्त्व देने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो इस समय हमें उसकी जो सबसे प्राचीन प्रति प्राप्त है, और जो कवि के देहांत के केवल नौ वर्ष पीछे की लिखी हुई है, उसमें इसका नाम 'रामायण-सगुनौती' है[८]। और दूसरे, ग्रंथ के अंतिम दोहे में उसके नाम का उल्लेख इस प्रकार होता है—

---

(१) लिपिकाल सं० १६८९, काशिराज-पुस्तकालय, (विशेष-खोज-रिपोर्ट १९००, नो० ७)।

(२) लिपिकाल सं० १८८१, पं० गयादत्त शुक्ल, गुरुटोला, आजमगढ़, (खोज-रिपोर्ट १९०९-११, नो० ३२३ ह)।

(३) लिपिकाल अनिश्चित, साहित्यरंजन पं० विजयानंद त्रिपाठी, काशी।

(४) (क) लिपिकाल अनिश्चित, काशिराज-पुस्तकालय, (खोज-रिपोर्ट १९०३, नो० ८७) तथा (ख) लिपिकाल अनिश्चित, दतिया-राजपुस्तकालय, (खोज-रिपोर्ट १९०६-०८, नो० २४५ द)।

(५) प्रकाशन-संवत् १९७७, 'षोडस रामायण संग्रह'।

(६) लिपिकाल सं० १८२२, काशिराज-पुस्तकालय, (खोज-रिपोर्ट १९०३, नो०९८)।

(७) लिपिकाल अनिश्चित, पं० रामप्रताप द्विवेदी, गोपालपुरा (खोज-रिपोर्ट १९२०-२२, नो० १९८ ह)

(८) खोज-रिपोर्ट १९००, नो० ७।

गुन बिस्वास बिचित्र मनि, सगुन मनोहर हारु।
तुलसी रघुबर-भगत-उर, बिलसत बिमल बिचारु ॥ ७-७-७॥

—अर्थात्, गुणरूपी गुण (धागे) और विश्वासरूपी विचित्र मणि के संयोग से यह 'सगुन' रूपी मनोहर हार बना है। इसको धारण करनेवाले रघुवर-भक्त के हृदय में निर्मल विचारों की सृष्टि होती है। यों तो 'सगुन' शब्द ग्रंथ भर में आया है, किंतु उसका ऐसा विशेष प्रयोग केवल इसी दोहे में मिलता है, अतः इस अंतिम दोहे का 'सगुन' अवश्य ही पूरे नाम का सर्व-प्रमुख अंश रहा होगा। और, सगुन के साथ पूरी राम-कथा का भी ग्रंथ में समावेश किया गया है, इसलिये उसका 'रामायण-सगुनौती' नाम ही सबसे अधिक संभाव्य जान पड़ता है। किंतु सुविधा के लिये यहाँ हम उसका सबसे अधिक परिचित नाम 'रामाज्ञा-प्रश्न' का ही प्रयोग करेंगे।

ऊपर के नामों में मैंने 'रामशलाका' और 'रघुवरशलाका' भी रखा है। अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व 'इंडियन ऐंटीक्वेरी'[1] में लिखते हुए सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने लिखा था—"छक्कनलाल कहते हैं कि १८२७ ई० में उन्होंने 'रामाज्ञा' की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से की थी जो कवि के हाथ की लिखी थी और जिसकी तिथि कवि ने स्वयं सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी।" और उसी पृष्ठ पर फुटनोट में उन्होंने छक्कनलाल के शब्द दिए थे—"श्री सं० १६५५ जेठ सुदी १० रविवार की लिखी पुस्तक श्री गोसाईंजी के हस्त-कमल की प्रह्लादघाट श्री काशीजी में रही। उस पुस्तक पर से श्री पंडित रामगुलामजी के सत्संगी छक्कनलाल कायस्थ रामायणी मिरजापुरवासी ने अपने हाथ से सं० १८८४

(१) 'इंडियन ऐंटीक्वेरी', सन् १८९३ ई०, पृ० ९६।

में लिखा था।" उसी पत्रिका के एक अन्य पृष्ठ पर[1] पुनः उन्होंने लिखा था—"'रामाज्ञा' की वह प्रति गोस्वामीजी के हाथ की, नरकुल द्वारा लिखी हुई थी और प्रह्लादघाट पर ३० वर्ष पूर्व (अर्थात् सन् १८६० के लगभग) तक विद्यमान थी।"

इन उल्लेखों का प्रतिवाद करते हुए प्रह्लादघाट के श्री रणछोड़-लाल व्यास ने थोड़े ही दिनों पीछे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में जो अपना वक्तव्य प्रकाशित किया था उसका उल्लेख स्वर्गीय श्री शिव-नंदन सहाय ने 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी' नामक ग्रंथ में[2] इस प्रकार किया है—"यह जीवनी छपने के थोड़े ही दिन पहले हमको काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका (भाग १६, संख्या १०) में रणछोड़-लाल व्यासजी का एक लेख देखने में आया। आप अपने को गंगा-राम ज्योतिषी का वंशधर बताते हैं और लिखते हैं कि 'गंगारामजी दो भाई थे। दूसरे का नाम दौलतराम था। उनके वंशजों में पं० गिरिवर व्यास हुए। × × × मैं उनका भांजा हूँ। असल में 'रामाज्ञा' नहीं किंतु 'रामशलाका' थी जो रामचंद्र (मेरे बहनोई के भाई) और गंगाधर (मेरी बुआ के पुत्र) के हाथ से सं० १६२०-२२ के करीब लुटेरों ने श्रीनाथजी की यात्रा के समय उदय-पुर के निकट लूट ली थी। उस 'रामशलाका' की नकल मिरजा-पुर-निवासी पं० रामगुलामजी द्विवेदी के श्रोता छगनलालजी के पास है। × × ×' 'रामाज्ञा' की रचना के संबंध में जो बातें ग्रियर्सन साहब ने लिखी हैं उन्हीं का सारांश इन्होंने 'रामशलाका' के विषय में लिखा है।"

---

(१) 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' १८९३ ई०, पृ० १९७।

(२) 'श्री गोस्वामी तुलसीदासजी' पृ० ३९३।

फलतः दोनों प्रामाणिक कथनों के अन्य अंशों में नितांत साम्य होते हुए भी यह विवाद अभी तक चला आ रहा है कि वह सं० १६५५, ज्येष्ठ शुक्ल १०, रविवार की प्रति 'रामाज्ञा' की थी अथवा 'रामशलाका' की[1]। अब, यदि यह सिद्ध हो जाय कि वस्तुतः 'रामाज्ञा' और 'रामशलाका' एक ही हैं, और दोनों में नाम मात्र का अंतर है, तो इस विवाद का यहीं अंत हो जाता है।

इस प्रश्न पर भली भाँति विचार करने के लिये मैं यह अनिवार्य समझता हूँ कि खोज-रिपोर्टों में दिए हुए 'रामशलाका' और 'रघुबर-शलाका' के प्रारंभिक और अंतिम दोहों के साथ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रामाज्ञा-प्रश्न' के भी प्रारंभिक और अंतिम दोहे एकत्र उद्धृत करूँ।

'रामशलाका' के[2] दोहे इस प्रकार हैं—

प्रारंभिक—बानी बीन एक अंबु रवि गुरु हर रमा रमेस।
सुमिरि करह सब काज सुभ मंगल देश बिदेश ॥ १ ॥
गुरु सुर शैल सीढुर बदन ससी सुरसरि सुर-गाइ।
सुमिरि चलहु मंगल मुरती होइहि सुकृत सहाइ ॥ २ ॥
गीरा गौरि गुर गनप हर मंगल मंगल मुल।
सुमीरत करत शीधी सब होइही सब अनुकुल ॥ ३ ॥

अंतिम—सुदिन सादी पोथी नेवती पुजी प्रभात सप्रेम।
सगु विचारब चारुमती सादर सत्य सुनेम ॥ १ ॥
गुनि गनी दिन गनी धातु गनी दोहा देषी बिचारि।
देसक करता बचन बर असगुन समै अनुहारि ॥ २ ॥
सगुन सत ससी नैन गुन अवधी अवध नौवान।
होइ सुफल जसु आसु जसु प्रीती प्रतीती प्रमान ॥ ३ ॥

(१) 'हिंदी-नवरत्न' सं० १९८९, पृ० ७८।
(२) खोज-रिपोर्ट १९०३, नो० ९८।

गुर गनेश हर गौरी सीश्र राम लषन हनुमान ।
तुलसी दसरथ सुमीरी सब सगुन बीचार निधान ॥ ४ ॥
हनोमान सानुज भरथ राम सीश्रा उर श्रानी ।
लषन सुमीरी तुलसी कहत सगुन बीचार बषानी ॥ ५ ॥
जो जेही काजही श्रनसरै सो दोहा जब होइ ।
सगुन समै सब सत्य फल कहब राम गती सोइ ॥ ६ ॥
गुनी बीसास बीचीत्र मनी सगुन मनोहर हार ।
तुलसी रघुबर भगती उर बीलसत बीमल बीचार ॥ ७ ॥

'रघुबरशलाका' के[1] दोहे इस प्रकार हैं—

प्रारंभिक—बानि बिनायक श्रंब हर रबि गुरु रमा रमेस ।
सुमिरि करहु सब काज शुभ मंगल देश बिदेश ॥ १ ॥
गुरु रचसि सिंधुर बदन ससि सुरसरिता गाइ ।
सुमिरि चलहु मंगल मुदित मन होइ सुकृत सहाइ ॥ २ ॥
गिरा गौरि गुरु गणप हर मंगलहु मंगल मूल ।
सुमिरत करतल सिद्ध सब होइ ईश श्रनुकूल ॥ ३ ॥
भरत भारती रिपुदमन गुरु गणेश बुधबार ।
सुमिरत सुलभ सुधर्म फल बिद्या बिनय बिचार ॥ ४ ॥

श्रंतिम—गुण बिश्वास बिचित्र मणि सगुण मनोहर सार ।
तुलसी रघुबर भाग बड़ बिलसत बिमल बिचार ॥ ७ ॥

विषय—रामजन्म, सीताविवाह, श्रवध-सुख-वर्णन, राम-वनगमन, मुनियों से मिलन, खर-दूषन-वध, सीता-हरण, रावणादि-वध, श्रयोध्या-श्रागमन, सब बंदरादि का बिदा करना, ब्राह्मण के बालक का संवाद ।

नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के 'रामाज्ञा-प्रश्न' का विषय भी वही है जो ऊपर उद्धृत किया गया है, श्रतः श्रागे हम केवल उसके प्रारंभिक श्रौर श्रंतिम दोहे उद्धृत करेंगे ।

---

(१) खोज-रिपोर्ट १९२०-२२, नं० १९८ ई ।

प्रारंभिक—बानि बिनायकु अंब रबि, गुरु हर रमा रमेस।
सुमिरि करहु सब काज सुभ, मंगल देस बिदेस॥ १॥
गुरु सरसइ सिंधुरबदन, ससि सुरसरि सुरगाइ।
सुमिरि चलहु मग मुदित मन, होइहि सुकृत सहाइ॥ २॥
गिरा गौरि गुरु गनप हर, मंगल मंगलमूल।
सुमिरत करतल सिद्धि सब, होइ ईस अनुकूल॥ ३॥
भरत भारती रिपुदवनु, गुरु गनेस बुधवार।
सुमिरत सुलभ सुधरस फल, बिद्या बिनय बिचार॥ ४॥

अंतिम—सुदिन साँझ पोथी नेवति, पूजि प्रभात सप्रेम।
सगुन बिचारब चारुमति, सादर सत्य सनेम॥ १॥
मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि, दोहा देखि बिचारि।
देस, करम, करता, बचन, सगुन समय अनुहारि॥ २॥
सगुन सत्य ससि नयन गुन, अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान॥ ३॥
गुरु गनेस हरु गौरि सिय, राम लषनु हनुमानु।
तुलसी सादर सुमिरि सब, सगुन बिचार बिधानु॥ ४॥
हनूमान सानुज भरत, राम सीय उर आनि।
लषन सुमिरि तुलसी कहत, सगुन बिचारु बखानि॥ ५॥
जो जेहि काजहि अनुहरइ, सो दोहा जब होइ।
सगुन समय सब सत्य सब, कहब रामगति गोइ॥ ६॥
गुन बिस्वास, विचित्र मनि, सगुन मनोहर हारु।
तुलसी रघुबर-भगत-उर, बिलसत बिमल बिचारु॥ ७॥

अतएव इन उद्धरणों से यह नितांत स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वस्तुतः 'रामशलाका' भी उसी ग्रंथ का एक नाम है जिसका दूसरा नाम 'रामाज्ञा-प्रश्न' है।

अब, इस संबंध में केवल तीन प्रश्न रह जाते हैं—(१) क्या

सं० १६५५, जेठ सुदी १०, रविवार, की तिथि ठीक है ? (२) क्या वह प्रति प्रह्लादघाट पर थी ? और (३) क्या उसके लिपि-कार तुलसीदास थे ?

इन तीनों प्रश्नों के संबंध में ऊपर हम श्रीछक्कनलाल का कथन, महामहोपाध्याय स्वर्गीय पं० सुधाकर द्विवेदी और सर जॉर्ज ग्रियर्सन की खोज, और श्री रणछोड़लाल व्यास, प्रह्लादघाट, काशी की प्रति-वाद स्वरूप में भी की हुई उक्त कथन और खोज की पुष्टि हम देख चुके हैं। वस्तुतः इन साक्ष्यों को ही पर्याप्त होना चाहिए किंतु नीचे हम और भी दृढ़ साक्ष्यों का उल्लेख करेंगे।

'षोडस रामायण संग्रह' में संगृहीत 'रामाज्ञा-प्रश्न' की समाप्ति इस प्रकार होती है—"हस्ताक्षर श्री गुसाईंजी सं० १६५५ रविवार ज्येष्ठ शुक्ल १०।" इस समाप्ति से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि उक्त तिथि के लिखे हुए गोस्वामीजी के हस्ताक्षर के सहित 'रामाज्ञा-प्रश्न' की कोई प्रति अवश्य थी, जिसकी प्रतिलिपि के आधार पर 'षोडस रामायण संग्रह' के 'रामाज्ञा-प्रश्न' का संपादन किया गया है। मेरा अनुमान है कि उस मूल प्रति में 'लिखित तुलसीदासेन' या इसी आशय की अन्य शब्दावली अवश्य रही होगी जिसको यथोचित रीति से प्रकट करने के लिए प्रतिलिपिकार ने "हस्ताक्षर श्री गुसाईंजी" का आश्रय लिया है।

ज्योतिष की गणना के अनुसार भी यह तिथि शुद्ध निकलती है। 'कवि का समय' शीर्षक देकर 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' में लिखते हुए[1] इस तिथि के संबंध में सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने लिखा है—"यह अनावश्यक है कि हम गणना का विस्तार दें। चैत्रादि वर्ष लेने पर यह तिथि रविवार ४ जून सन् १५९८ ई० के बराबर होती है।"

---

(१) 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' १८९३, पृ० ९६।

इन सब साक्ष्यों के आधार पर यह संदेहातीत हो जाता है कि सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार की तिथि देते हुए गोस्वामीजी के हस्ताक्षर-सहित 'रामाज्ञा-प्रश्न' की एक प्रति कुछ समय पूर्व विद्यमान थी।

और, वह प्रति प्रह्लादघाट, काशी में थी, इस संबंध में भी श्री छक्कनलाल, सर जॉर्ज ग्रियर्सन और श्री रणछोड़लाल व्यास के कथनों को पढ़ने के उपरांत संदेह न रहना चाहिए, किंतु इस विषय में भी मैं एक दृढ़ साक्ष्य का उल्लेख करूँगा, और वह है गोस्वामीजी के ही शब्दों में—

सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गोगन गंगाराम॥ १-७-७॥

यह दोहा ग्रंथ में प्रथम सर्ग की समाप्ति पर आता है और स्पष्ट ही गंगाराम को संबोधित करके कहा गया है, अतएव, जब अन्य प्रामाणिक साक्ष्यों द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि गंगाराम के उत्तराधिकारियों के पास 'रामाज्ञा-प्रश्न' की एक प्रति बहुत दिनों तक थी तो हमें उस पर भी विश्वास होना ही चाहिए।

अब केवल अंतिम प्रश्न शेष रह जाता है—क्या वह प्रति गोस्वामीजी के ही हाथ की लिखी थी? इस संबंध में श्री छक्कनलाल तथा श्री रणछोड़लाल व्यास के कथनों के होते हुए भी निश्चय के विषय में हम संदिग्ध हों तो कदाचित् अनुचित न होगा, क्योंकि आज से दस वर्ष पूर्व अनेक प्रतियाँ गोस्वामीजी के हाथ की लिखी मानी जाती थीं किंतु आज उनमें से एक भी ऐसी नहीं मानी जा रही है—यहाँ तक कि राजापुर के अयोध्याकांड की प्रति को भी अब विद्वान् गोस्वामीजी के हाथ की लिखी हुई नहीं मान रहे हैं[1]। यदि 'रामाज्ञा-प्रश्न' की वह प्रति प्राप्य होती तो बहुत कुछ संभव था कि एक

---

[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी, माधुरी, वर्ष ४, खंड १, पृ० ४४।

निश्चित धारणा उसके संबंध में संभव होती। इसलिए प्रस्तुत सामग्री के आधार पर दृढ़तापूर्वक हम केवल इतना कह सकते हैं कि कम से कम उक्त प्रति के अंत में दिया हुआ हस्ताक्षर और उसके साथ सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार की तिथि गोस्वामीजी के ही अक्षरों में थे। शेष के लिये अनुमानों का आश्रय लेना पड़ेगा।

मेरा अनुमान है कि वह प्रति गोस्वामीजी के ही हाथ की लिखी थी। ऊपर के साक्ष्यों के अतिरिक्त मेरे इस अनुमान का भी आधार 'षोडस रामायण-संग्रह' में संगृहीत 'रामाज्ञा-प्रश्न' की समाप्ति है। मेरा अनुमान है कि उसके 'हस्ताक्षर श्री गुसाईं जी' के स्थान पर उस मूल प्रति में 'लिखित तुलसीदासेन' या ठीक इसी आशय के दूसरे शब्द रहे होंगे—क्योंकि केवल हस्ताक्षर करने की प्रथा मैंने किसी भी प्राचीन हस्त-लिखित प्रति में नहीं देखी है। अधिक संभावना तो यही है कि उस स्थान पर 'लिखित तुलसीदासेन' शब्द ही रहे होंगे।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि सं० १६५५ को मैं 'रामाज्ञा-प्रश्न' का रचना-काल, इस प्रकार, नहीं मान लेता। उसके रचना-काल के संबंध में मैं विस्तारपूर्वक पहले विचार कर चुका हूँ[1] और अब भी उसे 'मानस' के पूर्व की रचना मानता हूँ। फलतः एक अन्य प्रश्न यह किया जा सकता है—जिसका प्रस्तुत विषय से सीधा संबंध नहीं है—कि तब गोस्वामीजी को सं० १६५५ में पुनः उसे लिखने की क्या आवश्यकता पड़ी होगी। इस संबंध में भी हमारे सामने अनुमान के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है।

गोस्वामीजी के संबंध में खोज करते हुए काशी में मुझे श्री रणछोड़लाल व्यास से मिलने का संयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने मुझसे कहा कि गोस्वामीजी जब पहले पहल काशी आए तब उन्हें गंगारामजी

(१) 'हिंदुस्तानी', जनवरी १९३२।

के यहाँ ही आश्रय मिला और यहीं से उनकी प्रसिद्धि का प्रारंभ हुआ। गंगाराम को कारागृह-दंड से बचाने के लिये यहीं उन्होंने 'रामाज्ञा-प्रश्न' की रचना की। चोरोंवाली प्रसिद्ध घटना भी यहीं हुई। पीछे गोस्वामी तुलसीदास ने अन्य बहुत से आश्चर्यजनक कार्य किए—उदाहरणार्थ मृत व्यक्तियों को जिलाना आदि—जिसका समाचार पाकर दिल्लीपति ने उन्हें दिल्ली बुलवाया और करामात दिखाने को उनसे कहा किंतु परिणाम-स्वरूप क़िले का विध्वंस होते देखकर वह गोस्वामीजी के पैरों पर पड़ा। वहाँ से लौटकर गोस्वामीजी ने प्रह्लाद-घाट पर कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् अन्यत्र अपना स्थान बनाया। यह अन्य स्थान असीघाट (?) था।

व्यासजी के पूरे कथन से सहमत होने के लिये मैं नहीं कह सकता, किंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि गोस्वामीजी प्रह्लादघाट पर कई वर्ष लगातार रहे, अन्य कई कारणों से भी, जिनका उल्लेख प्रस्तुत विषय से बाहर होगा अतएव आगे कभी हो सकेगा, मेरा अनुमान है कि प्रह्लादघाट गोस्वामीजी ने सं० १६५५ में छोड़ा। मैं यह कल्पना करता हूँ कि अपनी स्मृति, और प्रह्लादघाट छोड़ने की स्मृति, बनाए रखने के लिये वे अपने हाथों लिखी हुई 'रामाज्ञा-प्रश्न' की प्रति इस प्रकार छोड़ते गए। बहुत संभव है कि यह प्रति पहले की लिखकर रखी रही हो और उसकी पुष्पिका मात्र उक्त तिथि को लिखी गई हो, अथवा उक्त तिथि को ही उन्होंने अपनी मूल प्रति से प्रतिलिपि करके दी हो। मैं इन दोनों में से प्रथम को अधिक संभव समझता हूँ। 'रामाज्ञा-प्रश्न' की ही प्रति गोस्वामीजी ने क्यों दी होगी ? इसका स्वतः समाधान यह है कि उसकी रचना के नैमित्तिक कारण गंगाराम थे।

अनुमानों और कल्पनाओं के द्वारा तथ्यों को खींच-खाँचकर सुलझाने में मुझे अधिक विश्वास नहीं है इसलिये मैं यह कहने में

संकोच करता हूँ कि तीसरे प्रश्न के संबंध में भी मेरे विचार मान्य हो सकेंगे। किंतु जब तक इससे अधिक दृढ़ सामग्री प्राप्त नहीं होती, तब तक इन्हीं अथवा इसी प्रकार के अन्य अनुमानों का आश्रय लेकर किसी परिणाम पर पहुँचना होगा।

फलतः आवश्यकता इस बात की है कि हम और खोज करें, और मनन करें। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास पर हिंदी में बहुत कार्य हुआ है। इस कथन में यदि अधिक सत्य नहीं है तो इतना निस्संदेह है कि तुलसीदास के बराबर हिंदी-साहित्य के किसी अन्य कवि या लेखक के संबंध में कार्य नहीं हुआ है, किंतु वह कार्य भी वास्तविक कार्य के महत्त्व की तुलना में कितना अधूरा है यही दिखाने के लिये उदाहरण-स्वरूप मैंने प्रस्तुत निबंध में उस महाकवि की एक छोटी सी कृति के संबंध में एक युग से चले आ रहे एक विवाद को उठाया है। दूसरी ओर अभी सूरदास पर हमने क्या कार्य किया है? कबीर पर क्या किया है? नंददास पर क्या किया है? हितहरिवंश पर क्या किया है? और केशवदास पर क्या किया है? हमारा पुराना साहित्य इतने महत्त्व-पूर्ण अभावों के रखते हुए नवोत्थित साहित्यों के समकक्ष खड़ा होने की क्यों लालसा करता है? कहानियों और चुटकुलों को कुछ दिनों तक एक ओर रखकर उद्योग करना पड़ेगा, तभी हम अपना ईप्सित स्थान प्राप्त कर सकेंगे।

---

(१३) षष्ठी विभक्ति की व्यापकता

[लेखक—श्री रमापति शुक्ल, एम० ए०, काशी]

हिंदी के व्याकरणों में कारक आठ माने गए हैं, किंतु संस्कृत के वैयाकरण छः ही कारक मानते हैं। इसका कारण यह है कि हिंदी में कारक संज्ञा (या सर्वनाम) के उस रूप को कहते हैं जिससे वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ उस (संज्ञा या सर्वनाम) का संबंध प्रकाशित होता है। संस्कृत में क्रिया के साथ संज्ञा, (सर्वनाम और विशेषण) के अन्वय (संबंध) को कारक कहते हैं। अतः जिसका क्रिया से संबंध नहीं है वह कारक नहीं कहा जा सकता ; इसी कारण संस्कृत के वैयाकरण संबंध को कारक नहीं मानते। संबंध-कारक का संबंध केवल संज्ञा से होता है; क्रिया से उसका प्रत्यक्ष कोई संबंध नहीं होता अतएव उसमें कारकत्व नहीं आता। उदाहरण के लिये हम एक वाक्य लेते हैं—राम का घोड़ा दौड़ता है।

इस वाक्य में दो संज्ञाएँ हैं—'राम' और 'घोड़ा'। दूसरी संज्ञा अर्थात् 'घोड़ा' का 'दौड़ता है' क्रिया से प्रत्यक्ष संबंध है। 'घोड़ा' शब्द 'दौड़ता है' क्रिया का कर्ता अर्थात् करनेवाला है। 'राम' शब्द का संबंध 'घोड़ा' शब्द से है। इनका परस्पर स्वस्वामिभाव सूचित होता है। परंतु 'राम' शब्द से 'दौड़ता है' क्रिया का कोई संबंध नहीं है। अतः स्पष्ट है कि संबंध-कारक का क्रिया से संबंध नहीं है।

एक संज्ञा (सर्वनाम और विशेषण) का जिसके द्वारा क्रिया अथवा दूसरी संज्ञा (सर्वनाम और विशेषण) से संबंध सूचित होता है उसे विभक्ति कहते हैं। अतएव संबंध की भी एक विभक्ति होती है। इस प्रकार कुल सात विभक्तियाँ होती हैं जो कर्तृत्व,

कर्मत्व आदि का द्योतन करती और क्रमशः प्रथमा, द्वितीया इत्यादि कहलाती हैं।

वैदिक काल की भाषा से लेकर आज तक की आर्य-भाषाओं में षष्ठी (संबंध की) विभक्ति का बहुत व्यापक प्रयोग पाया जाता है। वैदिक भाषा में चतुर्थी (संप्रदान कारक की विभक्ति) के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग की यथेच्छ स्वतंत्रता थी। अन्य कारकों में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है। पाली में आकर षष्ठी की व्यापकता इतनी बढ़ी कि उसने चतुर्थी को अंशतः निर्वासित कर दिया। पाली में संप्रदान कारक में प्रायः षष्ठी विभक्ति का ही प्रयोग होता है; और जब संप्रदान कारक में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होने लगा तो चतुर्थी और षष्ठी में एक प्रकार से अभेद समझा गया और कहीं कहीं संबंध कारक में अर्थात् षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग भी होने लगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि षष्ठी विभक्ति इतनी व्यापक क्यों हुई। अन्य विभक्तियों में वह व्यापकता क्यों नहीं आई जो षष्ठी विभक्ति में है? ऊपर कहा जा चुका है कि संबंध की गणना कारकों में नहीं होती। कारक क्रिया के साथ जिस संबंध से अन्वित होते हैं वह किसी न किसी प्रकार का विशेष संबंध रहता है। जैसे 'मैं कलम से लिखता हूँ' इस वाक्य में 'लिखना' और 'कलम' दोनों का साध्यसाधक-भाव-संबंध है। प्रायः सभी करण क्रिया-सिद्धि में परम सहायक होने के कारण 'साधकतम' कहलाते हैं। यह संबंध विशिष्ट संबंध है। ऐसे स्थलों में निश्चित करण-विभक्ति 'से' का प्रयोग होता है। पर षष्ठी जिस संबंध का प्रकाशन करती है वह विशेष नहीं सामान्य ही रहता है। षष्ठी के लिये संबंध मात्र की अपेक्षा है; वह चाहे जिस प्रकार का हो षष्ठी का विषय हो जायगा। अतएव सामान्य रूप से षष्ठी विभक्ति लगा दी जाती है।

प्रसंगानुसार उसका विशेष संबंध वाक्य के अर्थ से जान लिया जाता है। यही कारण है जो षष्ठी विभक्ति को इतना व्यापक स्थान प्राप्त हुआ है।

नीचे हम उदाहरणों के द्वारा षष्ठी विभक्ति की व्यापकता का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं—

यथा मम स्मरात् (ऋग्वेद) = जिससे मुझको स्मरण करे इस वाक्य में कर्म सूचित करने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

आज्यस्य पूरयेति = मक्खन से भरता है। 'आज्यस्य' में करण की विभक्ति के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

अपादान और अधिकरण में षष्ठी-विभक्ति के प्रयोग उदाहरण में यत्र तत्र मिलते हैं; जैसे—

नास्ति धन्यतरो मम—ऋग्वेद— = मुझसे बढ़कर भाग्यवान् कोई नहीं है (अपादान में षष्ठी)।

वीरुधां वीर्यवती—अथर्ववेद } अधिकरण कारक
त्वं ईशिषे वसूनाम्—ऋग्वेद } में षष्ठी का प्रयोग

'वीरुधां वीर्यवती' में संस्कृत व्याकरण के अनुसार तो षष्ठी का प्रयोग होना ही चाहिए क्योंकि जहाँ निर्धारण करना होता है वहाँ षष्ठी और सप्तमी दोनों का प्रयोग होता है[1]। 'नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः' और 'नृषु ब्राह्मणः श्रेष्ठः' दोनों ही वाक्य प्रयुक्त होते हैं। पर हिंदी में ऐसे स्थलों पर अधिकरण कारक का ही प्रयोग होता है।

लौकिक संस्कृत में षष्ठी की व्यापकता के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। सिद्धांतकौमुदी के कारक-प्रकरण में इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। यहाँ प्रत्येक कारक का एक एक उदाहरण दिया जाता है—

कृष्णस्य कृतिः (कर्तृद्योतक षष्ठी) = कृष्ण की कृति अर्थात् जिसका करनेवाला (कर्ता) कृष्ण है।

---

(१) यतश्च निर्धारणम्। २। ३। ४१

भजे शंभोश्चरणयोः (कर्म में षष्ठी)।

फलानां तृप्तः (करणद्योतक षष्ठी)।

रजकस्य वस्त्रं ददाति = धोबी को कपड़ा देता है (संप्रदान में षष्ठी)।

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्य (मनुस्मृति) = जो लोभी राजा से दान लेता है (अपादान में षष्ठी का प्रयोग)।

गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा = गायों में काली गाय बहुत दूध देनेवाली है (अधिकरण में षष्ठी)।

पाली भाषा में चतुर्थी और षष्ठी के अभेद का उल्लेख ऊपर हो चुका है अतएव दो उदाहरण यथेष्ट होंगे—

ब्राह्मणस्स धम्मं देसेत्वा (जातक) = ब्राह्मण को धर्मोपदेश देकर।

अञ्ञतरस्स ब्राह्मणस्स अदासि (जातक) = किसी ब्राह्मण को दे दिया।

अन्य कारकों में भी षष्ठी का प्रयोग देखिए—

बोधिसत्तस्स आगमनकाले (जातक) = बोधिसत्व के आगमन के समय अर्थात् जिस समय बोधिसत्व आवें (कर्तृद्योतक षष्ठी)।

लुद्दस्स अत्तानं दस्सेसि (जातक) = अपने को बहेलिये को दिखाया (कर्मसूचक षष्ठी)।

तेलस्स ददाति = तेल देता है	कर्मसूचक षष्ठी
न ब्राह्मणस्स पहरेय्य = ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए	

यस्स रागो पातितो (धम्मपद) = जिससे राग छूट पड़ा है। (पंचमी के स्थान पर षष्ठी)

कुसला नच्च गीतस्स = नृत्यगीत में कुशल (अधिकरण में षष्ठी)

प्राकृत-काल में भी षष्ठी विभक्ति वैसी ही व्यापक बनी रही जैसी पहले थी। यहाँ जैन प्राकृत अर्थात् अर्ध-मागधी से कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

विउलस्स असणपाणखाइमस्स भरेइ (अर्ध-मागधी रीडर)। यहाँ तृतीया के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग है। खत्तियस्स

पडिसुणेइ--अर्ध-मागधी रीडर (संप्रदान में षष्ठी)। थेरस्स नाइदूरे—अर्ध-मागधी रीडर (अपादान में षष्ठी)। तीसए महासुमिणाणं चतुद्दस महासुमिणे—अर्ध-मागधी रीडर (अधिकरण में षष्ठी)।

प्राकृत-काल के उपरांत अपभ्रंश-काल में हम विभक्तियों के प्रयोग में और भी अधिक स्वच्छंदता पाते हैं। इस काल की विभक्तियाँ इतनी घिस गई हैं कि एक कारक की अनेक विभक्तियाँ हो गई हैं जिसे देखने से ज्ञात होता है कि उस समय भाषा में बहुत कुछ अस्थिरता थी। कई कारकों की एक ही प्रकार की विभक्तियाँ हैं। किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि अन्य कारकों की विभक्तियाँ भी षष्ठी के समान व्यापक हो गई थीं वरन् उनमें केवल रूप-साम्य है। केवल षष्ठी का प्रयोग ही व्यापक रूप में मिलेगा! कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

फोडेंति जे हिअडँ अप्पणउँ **ताहँ** पराई कवण घण। (हेमचंद्र) इस छंद में 'ताहँ' में षष्ठी की विभक्ति 'हँ' लगी हुई है परंतु यहाँ पर संप्रदान कारक में उसका प्रयोग हुआ है। नीचे के अवतरण में भी चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

घरु मेल्लेप्पिणु **माणुसहँ** तोवि न रुचइ रन्नु। (हेमचंद्र)

'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' के अनुसार संस्कृत में ऐसे स्थलों पर चतुर्थी का प्रयोग होता है और हिंदी-व्याकरण के अनुसार तो 'माणुस' में संप्रदान कारक की विभक्ति 'को' का प्रयोग अनिवार्य था।

वेस **विसिट्ठह** वारियइ जइ वि मणोहर गत्त। इसमें 'वेसविसिट्ठह वारियइ' का अर्थ है 'वेशविशिष्टों को वारिए' (अर्थात् उनसे बचिए) अतएव यहाँ कर्म में षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

कंत जु **सीहहो** उवमिअइ तं महु खंडिउ माणु (हेमचंद्र)। 'सीहहो' में षष्ठी विभक्ति करणद्योतक होकर आई है। यद्यपि हिंदी में भी ऐसे स्थलों में 'सिंह की उपमा दी जाय' लिखा जाता है पर

अभिप्राय करण कारक से ही रहता है। यह 'की' भी करण कारक की विभक्ति 'से' के लिये आई है। 'सिंह की उपमा दी जाय' का अर्थ है 'सिंह से उपमा दी जाय'।

एक्के दुन्नय जे कया तेहिँ नीहरिय घरस्स। यहाँ पंचमी के बदले षष्ठी का प्रयोग हुआ है। 'नीहरिय घरस्स' का अर्थ है घर से निकली। 'से', जो हिंदी में तृतीया (करण) और पंचमी (अपादान) दोनों की विभक्ति है, संस्कृत की षष्ठी विभक्ति ('स्य' प्राकृत और अपभ्रंश में 'स्स') से ही निकला है।

निरुवम रसु पिएं पिअवि जणु सेसहो दिण्णी मुद्द (हेमचंद्र)। 'सेसहो' का यहाँ अर्थ होगा 'शेष पर', अतएव अधिकरण कारक में षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

अपभ्रंश में विभक्तियों की स्वच्छंदता की जो परिपाटी चल पड़ी वह व्रजभाषा, अवधी आदि उत्तरकालीन भाषाओं तक चली आई। इसी से पुरानी हिंदी में 'ह' विभक्ति प्रायः सभी कारकों में मिलती है। व्रजभाषा और अवधी सर्वदा पद्य की ही भाषाएँ रहीं। इनमें गद्य-रचना कभी नहीं हुई और जो थोड़ी-बहुत हुई भी वह नहीं के बराबर है। अतएव इन भाषाओं का व्याकरण बहुत अव्यवस्थित और उच्छृंखलतापूर्ण है। इन विशुद्ध काव्य-भाषाओं में विभक्तियों के संबंध में कुछ बँधे नियम नहीं हैं।

खड़ी बोली में आकर पुनः हम विभक्तियों का नियमित प्रयोग पाते हैं। संस्कृत की ही भाँति इसमें भी पृथक् पृथक् कारकों की पृथक् पृथक् विभक्तियाँ निर्धारित की गई हैं। परंतु षष्ठी विभक्ति (संबंध कारक की विभक्ति 'का', 'की', 'के') की व्यापकता यहाँ भी विद्यमान है। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

'मेरे रहते ऐसा नहीं हो सकता'=अर्थात् जब तक मैं हूँ तब तक ऐसा नहीं हो सकता; अतः यहाँ कर्तृद्योतक षष्ठी

विभक्ति का प्रयोग हुआ है। 'शरीर का तपाना व्यर्थ है' अर्थात् शरीर को तपाना व्यर्थ है (कर्मसूचक षष्ठी)। गेरुआ वस्त्र के पहने मुक्ति नहीं मिलती (अर्थात् गेरुआ वस्त्र को पहनने से इत्यादि)।

यहाँ भी कर्म में षष्ठी का प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त दोनों वाक्यों में संबंध कारक के चिह्न (विभक्तियाँ) 'का' और 'के' लगे हैं पर उनके अर्थ से स्पष्ट हो जाता है कि उनके स्थान पर कर्म कारक की विभक्ति 'को' की आवश्यकता थी अथवा इस प्रकार कहें कि ये संबंध की विभक्तियाँ यहाँ पर कर्म की विभक्ति का काम कर रही हैं।

"आँख का अंधा, विपत्ति का मारा, दूध का जला" आदि में संबंध की विभक्ति (षष्ठी) का प्रयोग हुआ है। नीचे के वाक्य में संप्रदान में षष्ठी आई है—

ब्राह्मण का दिया व्यर्थ नहीं जाता = ब्राह्मण को दिया हुआ व्यर्थ नहीं जाता।

हिंदी में संप्रदान कारक की एक विभक्ति (अथवा कारक-द्योतक चिह्न) 'के लिये' मानी जाती है, पर इस विभक्ति में 'के' संबंध की विभक्ति है। भ्रमवश हमने इसे संप्रदान की विभक्ति मान लिया है। अब अपादान में षष्ठी के उदाहरण देखिए—

कुछ का कुछ हो गया = कुछ से कुछ हो गया; जन्म का दरिद्र = जन्म से दरिद्र; पेड़ का गिरा फल = पेड़ से गिरा हुआ फल।

इसी प्रकार अधिकरण में षष्ठी के उदाहरण निम्न-लिखित वाक्यों में मिलेंगे—

पहाड़ का चढ़ना कठिन है = पहाड़ पर चढ़ना कठिन है। गंगा के नहाये पाप नहीं धुलता = गंगा में नहाने से पाप नहीं धुलता।

---

(१४) भोजपुरी बोली पर एक दृष्टि

[लेखक—श्री उदयनारायण तिवारी एम० ए०, साहित्यरत्न]

बिहार की तीन मुख्य बोलियाँ हैं—मगही, मैथिली और भोजपुरी। तीनों में, विस्तार-क्षेत्र तथा व्यापकता की दृष्टि से, भोजपुरी का स्थान ऊँचा है। इस बोली का नामकरण भोजपुर नामक प्राचीन नगर के आधार पर किया गया है। यद्यपि उक्त नगर का वैभव अब विनष्ट हो चुका है, तथापि इस नाम के दो ग्राम बक्सर के निकट शाहाबाद जिले में इस समय भी वर्त्तमान हैं।

पश्चिम में बनारस से लेकर पूरब में मुजफ्फरपुर तक तथा दक्षिण में जबलपुर से लेकर उत्तर में हिमालय तक साधारणतः इस बोली का विस्तार है। इस प्रकार बिहार के शाहाबाद, सारन, चंपारन और मुजफ्फरपुर के पश्चिमोत्तर-भाग तथा युक्तप्रांत के पूर्वी जिलों में—जिनमें बनारस, गाजीपुर, बलिया, आजमगढ़, जौनपुर और मिर्जापुर के कुछ भाग सम्मिलित हैं—इस बोली के बोलनेवाले निवास करते हैं। नैपाल की तराई में बसे हुए थारू[1] लोगों की बोली में भी भोजपुरी के रूप मिलते हैं।

विस्तार-क्षेत्र

इस लेख में मैं, क्रमशः बलिया तथा शाहाबाद में बोली जानेवाली भोजपुरी के दो गीतों को लेकर, शब्दों के ध्वनि-परिवर्तन एवं व्याकरण पर विचार करूँगा। व्याकरण में केवल संज्ञा, सर्वनाम, कारक तथा क्रिया पर ही विचार किया जायगा।

---

[1] (१) डा० बाबूराम सक्सेना लिखित "थारू बोली का एक नमूना"—लिंग्विस्टिक सोसाइटी का बुलेटिन, भाग २—४, सन् १९३१।

भोजपुरी का कोई लिखित साहित्य नहीं मिलता फिर भी इन गीतों के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी भाषा के व्याकरण एवं ध्वनियों में किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं।

ग्रामीण बोलियों को शुद्ध शुद्ध लिखने के लिये वर्तमान नागरी लिपि पर्य्याप्त नहीं। इसके लिये कतिपय सर्वमान्य नवीन चिह्नों की आवश्यकता है जिनकी सृष्टि अब तक नहीं हुई है। इन चिह्नों के अभाव में प्रत्येक लेखक को नवीन चिह्नों की कल्पना करनी पड़ती है। इस लेख में भी कतिपय चिह्नों की, आवश्यकतानुसार, कल्पना की गई है जिसका विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) नागरी अक्षरों में 'ए' तथा 'ओ' के ह्रस्व रूप नहीं मिलते किंतु भोजपुरी उच्चारण में यह ध्वनि वर्तमान है। इस लेख में इस प्रकार के अक्षरों के नीचे रेखाएँ खींच दी गई हैं; जैसे—'देवरा' में 'ए' का तथा 'खोंइछ' में 'ओ' का उच्चारण ह्रस्व होगा।

(२) नागरी अक्षरों में 'अ' के ह्रस्व रूप का भी अभाव है। इसको अँगरेजी में नपुंसक[1] स्वर कहते हैं। इसका उच्चारण अत्यंत शीघ्रता से होता है। इसके लिये इस लेख में व्यंजन के आगे गणित में प्रयुक्त होनेवाले शून्य (०) के चिह्न को काम में लाया गया है; जैसे—'सप०न' में प का 'अ' नपुंसक है।

(३) गीत १ तथा २ में एक पंक्ति छोड़कर दो दो शब्दों पर पूर्ण विराम का चिह्न दिया गया है; जैसे—गीत १ की पंक्ति १में अटरिआ तथा देखिलें पर। इससे तात्पर्य यह है कि इस गीत को गाते समय इन स्थानों पर स्वर को ऊँचा करना पड़ता है। गीत २ में इस

(१) Seven Grammars of the Dialects and Sub-dialects of the Behari Language, Part I. Introduction Page 20, Sec. 29, by George A. Grierson.

जॉर्ज ग्रियर्सन-कृत बिहारी बोलियों के सात व्याकरण की भूमिका, पृ० २०, सेक्शन २९।

प्रकार के चिह्नों से तात्पर्य है कि उन अक्षरों पर जोर देना चाहिए और गाते समय वहाँ थोड़ा ठहर जाना चाहिए।

गीत १

सोहर[1]

सूतल रहलों अटरिआ सप०न एक देखिलें रे,
ए ललना सप०ना देखिलें अजगूत त उठिके त बइठिलें हो ॥ १ ॥
अँचियाँ[2] बइठल रउआँ सासु सरब गुनवें आगरे रे;
ए सासु ! सप०ना के कर ना बिचार सप०न हम देखिलेंहो॥ २ ॥
गोर बेटैआ अँग पातरे अव०रु मुँह दुरुहुरे रे;
ए सासु ! बइठेला तुलसीचउतरा त बिहँसि बलावेला हो ॥ ३ ॥
अग०वाँ त देखीलें गइया ठाढ़ि पछ०वाँ बभ०न ठाढ़ रे;
ए सासु! अँगना मे सोभेला कलस०वा त पिअरी दहादह हो॥ ४ ॥
हरिअर बाँस के कोंपड़वा अँगन बिखे उप०जेला रे;
ए सासु! अम०वाँ के देखिले घेवदिया[3] खोंइछ केहु डालेला हो॥ ५ ॥
पन०वाँ त देखिलें भेंटार[4] सिरहन०वा मोरा धईले रे;
ए सासु! सामबरन के होरिलवा[5] पलँगिआ पर पव०ढ़ेला हो॥ ६ ॥
धिरे बोल ए बहु ! धिरे बोले कड़ेरे[6] जनि बोलहु रे;
ए बहुआ! सुनिहें जो तोर दुसमन०वा अइ कि[7] मरि जइहेंतु हो ॥७॥
गइया त तोहरो लछिमि हउई बभना नरायने रे;
ए बहुआ ! पिअरी त तोहरो सोहाग त कोंपड़ संतति हउई हो॥ ८ ॥
घरि राति गइली पहर राति अव०रु पहर राति रे;
ए ललना! अधिराति होरिला जनम०ले त तिरिआ अननेली हो॥ ९ ॥

---

(१) यह गीत संतानोत्पत्ति पर कारुणिक स्वर में धीरे धीरे गाया जाता है। (२) छोटी चारपाई जिस पर केवल एक आदमी बैठ सके। (३) गुच्छा। (४) डंठल के साथ। (५) बालक। (६) जोर से। (७) ईर्ष्या से।

अर्थ

मैं अपनी अटारी पर सो रही थी कि मैंने एक स्वप्न देखा; मेरा स्वप्न अजीब था। मैं उठकर बैठ गई ॥ १ ॥

मचिया पर बैठी हुई सास ! आप सर्वगुण-अग्रगण्य हैं, आप मेरे स्वप्न पर विचार करें ॥ २ ॥

मैंने (स्वप्न में) एक गौरवर्ण तथा पतले अंगवाले बालक को, जिसका मुँह सुंदर था, देखा है। हे सास ! (मैंने यह भी देखा है कि) वह तुलसी के चबूतरे पर बैठा है और मंद मंद मुसक्यान से मुझे बुला रहा है ॥ ३ ॥

अपने सामने गाय तथा पीछे ब्राह्मण को खड़ा देखा है, हे सास ! मैंने देखा है कि मेरे आँगन में कलश तथा पीत वस्त्र शोभा दे रहे हैं। ॥ ४ ॥

(स्वप्न में) मैंने हरे बाँस की कोंपल को आँगन में पनपते (उत्पन्न होते) हुए देखा है; हे सास ! मैंने देखा है कि आम के गुच्छे को कोई मेरे खोइछे (कोंछी) में डाल रहा है ॥ ५ ॥

मैंने डंठल के साथ पान अपने सिरहाने रखे हुए देखा है; हे सास ! मैंने देखा है कि श्यामवर्ण का बालक मेरे पलँग पर सो रहा है ॥ ६ ॥

(सास ने कहा—) हे बहू ! बहुत धीरे बोलो, जोर से मत बोलो; यदि तुम्हारे शत्रु (इस स्वप्न को कहीं) सुन पाएँगे तो वे ईर्ष्या के मारे मर जाएँगे ॥ ७ ॥

(स्वप्न में देखी हुई) गाय तो तुम्हारी लक्ष्मी और ब्राह्मण नारायण हैं; पीत वस्त्र तुम्हारा सौभाग्य तथा कोंपल तुम्हारी संतान है ॥ ८ ॥

एक घड़ी, तत्पश्चात् क्रमशः दो पहर रात्रि व्यतीत हुई; अर्द्ध-रात्रि को बालक उत्पन्न हुआ जिससे वो अत्यंत प्रसन्न हुई ॥ ९ ॥

गीत २

झूमर[1]

कवना गुनहि ए चुकलों ए बालम।
तोर नयना रतनार॥ १॥
सौति के बतियाँ करेजवा में साले।
काँपत जियरा हमार॥ २॥
अपना पिया लागि पेन्हलों चुँदरिया[2]।
ताकत देवरा हमार॥ ३॥
अंबिकाप्रसाद पिया हँसि हँसि बोलिहैं।
करबों मे सोरहो सिंगार॥ ४॥

अर्थ

(पत्नी कहती है—) हे प्रियतम! मैं किन गुणों में चूक गई (मैंने कौन अपराध किया), जिससे आपके नेत्र लाल हैं (आप क्रोध से भरे हुए हैं)॥ १॥

सौत की बातें मेरे कलेजे में वेदना पहुँचा रही हैं। मेरा जी काँप रहा है॥ २॥

अपने पति के लिये मैं 'चुँदरी' पहने थी। किंतु मेरा 'देवर' घूरकर मेरी ओर देख रहा है॥ ३॥

हे अंबिकाप्रसाद! जब मेरे पति हँस हँसकर मुझसे बातें करेंगे (प्रसन्न होंगे) तब मैं सोलह शृंगार करूँगी।

---

(१) Seven Grammars of the Dialects and Sub-dialects of the Behari Language, Part II. Bhojpuri Dialect, Page 138.

जॉर्ज ग्रियर्सन-कृत बिहारी बोलियों के सात व्याकरण, भाग २, भोजपुरी पृष्ठ १३८।

(२) रंगीन वस्त्र; बलिया की भोजपुरी में इसे 'चुनरिआ' कहेंगे।

ध्वनि-परिवर्तन

किसी भाषा के ध्वनि-परिवर्तन पर विचार करते समय इस बात को कदापि न भूलना चाहिए कि यह परिवर्तन भाषा के क्रमशः विकास का परिणाम होता है। परिश्रम से जी चुराना तथा सरलता की ओर झुकना, मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है। यही कारण है कि 'प्रयत्न-लाघव' तथा 'आपेक्षिक सरलता' के सिद्धांत जिस प्रकार मनुष्य के अन्य कार्यों के संबंध में सत्य हैं उसी प्रकार 'ध्वनि-परिवर्तन' के संबंध में भी ये सर्वांशतः सत्य हैं। इन्हीं नियमों के वशीभूत कभी कभी परिस्थिति के अनुसार 'य' तथा 'र' का विपर्यय, आदि मध्य तथा अंत में वर्णागम एवं 'श' का 'स' हो जाता है। इस लेख में मैं दोनों गीतों से भोजपुरी शब्दों का चयन करके उनका संस्कृत रूप उद्धृत करूँगा, जिससे परिवर्तन का सहज ही में अनुमान किया जा सके। सुविधा की दृष्टि से मैं ध्वनि-परिवर्तन को दो भागों में विभक्त करूँगा—(क) मध्य-वर्णागम, (ख) अन्य परिवर्तन।

मध्य वर्णागम

गीत १	पद १	भो० पु०	सप०न	<	सं०	स्वप्न
,,	,, २	,, ,,	सरब	<	सं०	सर्व
,,	,, ६	,, ,,	बरन	<	सं०	वर्ण
,,	,, ७	,, ,,	दुसमन	<	फा०	दुश्मन
,,	,, ८	,, ,,	लछिमि	<	सं०	लक्ष्मी

नोट—ऊपर 'भोजपुरी' के लिये 'भो० पु०', 'संस्कृत' के लिये 'सं०' तथा सी' के लिये 'फा०' का प्रयोग किया गया है। < का अर्थ है निकला हुआ अथवा उत्पन्न।—लेखक।

अन्य परिवर्तन

गीत १	पद	१	भा० पु०	अटरिआ	<	सं०	अट्टालिका
,,	,,	२	,, ,,	मँचियाँ	<	सं०	मंच
,,	,,	२	,, ,,	सासु	<	सं०	श्वश्रूः
,,	,,	३	,, ,,	वेटौआ	<	सं०	वत्सः
,,	,,	३	,, ,,	चउ०तरा	<	ख० बो०	चबूतरा
,,	,,	४	,, ,,	अग०वाँ	<	सं०	अग्रे
,,	,,	४	,, ,,	गइया	<	सं०	गौः
,,	,,	४	,, ,,	बभ०न या बाभन	<	सं०	ब्राह्मण
,,	,,	४	,, ,,	कलस०वा	<	सं०	कलश
,,	,,	४	,, ,,	पिअरी	<	सं०	पीत
,,	,,	५	,, ,,	हरिअर	<	सं०	हरित
,,	,,	५	,, ,,	कोंपड़वा	<	सं०	कोंपल
,,	,,	५	,, ,,	अम०वाँ	<	सं०	आम्रः
,,	,,	५	,, ,,	घेवदिया	<	सं०	गुच्छ
,,	,,	५	,, ,,	खोंइछ	<	सं०	कुक्षि
,,	,,	६	,, ,,	साम या साँवर	<	सं०	श्याम
,,	,,	७	,, ,,	नु	<	सं०	ननु
,,	,,	८	,, ,,	नरायन	<	सं०	नारायण
,,	,,	८	,, ,,	सोहाग	<	सं०	सौभाग्य
,,	,,	९	,, ,,	पहर	<	सं०	प्रहर
,,	,,	९	,, ,,	अधिराति	<	सं०	अर्द्धरात्रि

नोट—ऊपर खड़ी बोली के लिये ख० बो० का प्रयोग किया गया है।

—लेखक

गीत १	पद ६ भो० पु०	तिरिया	<	सं० त्रिया
,, २	,, २ ,, ,,	सौति या } सव०ति }	<	सं० सपत्नी

व्याकरण

किसी भाषा से परिचय प्राप्त करने के लिये उसके व्याकरण का ज्ञान नितांत आवश्यक है। यहाँ पर मैं ऊपर के दो गीतों की सहायता से भोजपुरी व्याकरण की चर्चा करूँगा।

संज्ञा—मैथिली, मगही तथा पूर्वी अवधी की भाँति भोजपुरी संज्ञाओं के भी दो रूप--(१) लघ्वंत तथा (२) दीर्घांत--मिलते हैं। गीतों में इनके निम्न-लिखित रूप हैं---

लघ्वंत रूप—	बेटा	गाइ	कलस	कोंपड़	आम	घेवदि
दीर्घांत रूप—	बेटौआ	गइया	कलसवा	कोंपड़वा	अमवाँ	घेवदिया
लघ्वंत रूप—	होरिल	पलँग	दुसमन	बात	करेज	चुँदरी
दीर्घांत रूप—	होरिलवा	पलँगिया	दुसमनवा	बतिया	करेजवा	चुँदरिया

सर्वनाम—बलिया की भोजपुरी में पुरुषवाचक उत्तम पुरुष सर्वनाम का केवल एक रूप "हम" मिलता है। इसका प्रयोग एक-वचन में होता है। इसके लघ्वंत रूप "में" का प्रयोग अब प्रायः बोलचाल की भाषा से उठ गया है, किंतु गीतों में यह अब तक मिलता है; जैसे—गीत २ पद ४ "करबों में सोरहो सिँगार" में।

भोजपुरी में—बराबरवालों के लिये—मध्यम पुरुष, एकवचन में 'तूँ' तथा बालक, स्त्री एवं छोटी जाति के लोगों के लिये 'तें' का प्रयोग होता है। खड़ी बोली के 'आप' की तरह भोजपुरी मध्यम पुरुष, एकवचन में आदर-प्रदर्शन के लिये "रउआँ" अथवा "रउराँ" का प्रयोग होता है। दक्षिण पटना तथा गया की मगही में यह "आप[1]" अथवा अपने का रूप धारण कर लेता है और दक्षिणी

(१) Seven Grammars of the Dialects and Sub-

दरभंगा, उत्तरी मुँगेर एवं भागलपुर की मैथिली में इसके रूप 'आइस[1]', 'अहाँ' अथवा 'अप०ने' हो जाते हैं। अवधी[2] में तो इस सर्वनाम का प्राय: अभाव है। संबंध कारक में भोजपुरी 'तूँ' तथा 'तें' का रूप 'तोर' तथा 'तोहार' और 'रउआँ' का रूप 'राउर' हो जाता है। गीत १ पद २ में सास के लिये 'रउआँ' तथा पद ७ में संबंध कारक के लिये 'तोर' का प्रयोग किया गया है।

कारक—भोजपुरी में संबंध कारक के चिह्न 'क'[3], 'के', 'कै' तथा 'का' मिलते हैं; किंतु बलिया में बोली जानेवाली भोजपुरी में तो केवल 'के' ही मिलता है। गीत १ के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है; जैसे—सप०ना के बिचार, अमवाँ के घेवदिया, सामबरन के होरिलवा।

खड़ी बोली की भाँति भोजपुरी में भी अधिकरण कारक का चिह्न 'में' है; जैसे—'अँग०ना में', 'करेज०वा में'। गीत १ पद ५ में

---

dialects of the Behari Language, Part III. Magadhi Dialect, by George Grierson, Page 15.

जॉर्ज ग्रियर्सन-कृत बिहारी बोलियों के सात व्याकरण, भाग ३, मागधी बोली, पृष्ठ १५।

(१) Seven Grammars of the Dialects and Sub-dialects of the Behari Language, Part V, Page 15, by George Grierson.

जॉर्ज ग्रियर्सन-कृत बिहारी बोलियों के सात व्याकरण, भाग ५, पृष्ठ १५।

(२) एशियाटिक सोसाइटी बंगाल का जर्नल, नूतन संस्करण, भाग १८ में डा० बाबूराम सक्सेना-लिखित 'लखीमपुरी अवधी का व्याकरण' पृ० ३२०।

(३) Seven Grammars of the Dialects and Sub-dialects of the Behari Language, Part II. Bhojpuri Dialect by George Grierson.

जॉर्ज ग्रियर्सन-कृत बिहारी बोलियों के सात व्याकरण, भाग २।

इस कारक का एक चिह्न 'बिखें' भी आया है जिसका प्रयोग आधुनिक बोलचाल की भोजपुरी में नहीं होता।

क्रिया—भोजपुरी क्रियाओं के साथ 'अल' अथवा 'इल' का रूप लगा हुआ मिलता है; जैसे—'सूतल' 'सोना', 'गइल' 'जाना', 'खेवल' 'खेना' इत्यादि। इन क्रियाओं में से 'अल' तथा 'इल' को निकाल देने से धातु का वास्तविक रूप प्राप्त होता है। गीत १ में कई स्थानों पर "देखिलें" क्रिया का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग बलिया की भोजपुरी में इस प्रकार होता है—'जब हम घुमे जाइलें त रोज एगो साँप देखिले'।' 'जब मैं घूमने जाता हूँ तो प्रतिदिन एक साँप देखता हूँ।' गीत १ में ऐतिहासिक वर्तमान के रूप में इसका प्रयोग किया गया है।

गीत १, पद १ में 'सूतल रहलों' अपूर्णभूत तथा गीत २, पद ४ में 'करबों' भविष्यत्‌काल है। आधुनिक बलिया की भोजपुरी में इनका रूप क्रमश: 'सूतल रहलीं' तथा 'करबि' होगा।

(१५) विविध विषय

(१) भारत-साम्राज्य का एक इतिहास

(६०० ई० पू० से सन् ७७० ई० तक)

अगस्त सन् १९३३ के माडर्न रिव्यू में श्री काशीप्रसाद जायसवाल महाशय ने उक्त शीर्षक का एक लेख लिखा है। लेख, उनके सब लेखों के समान, महत्त्व का है इसलिये उसका सारांश पाठकों के लिये दिया जाता है।

पुराणों की प्रणाली भारत-साम्राज्य-काल का इतिहास देने की है और यह काल सन् ३४८ ई० में समाप्त हो जाता है। अभी तक हमें कोई ऐसा इतिहास नहीं मिला था जिसमें भारतीय साम्राज्य का वर्णन हो और जिसे किसी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय ने लिखा हो।

संस्कृत में एक बौद्ध धर्म-ग्रंथ मंजूश्री मूलकल्प है जिसमें एक सर्ग साम्राज्य के इतिहास का है। इस सम्पूर्ण ग्रंथ को त्रावणकोर सरकार ने प्रकाशित किया है। उक्त इतिहासकांड सन् १९२५ में छपा था। इस पुस्तक में भारतवर्ष का इतिहास (१) बुद्धकाल से मौर्यकाल तक, (२) बौद्धधर्म के बाधक (अर्थात् पुष्यमित्र) का समय, गोमिन नाम से और (३) बौद्धधर्म के पुनरुत्थापक दो राजाओं का वर्णन है। ये दो राजा यक्ष देश से आए थे और जायसवाल महोदय इनका तादात्म्य (पहचान) द्वितीय केडफ़िसीज़ से बताते हैं। इसके पश्चात् उस इतिहास में (४) कुछ प्रांतीय इतिहास और तदनंतर (५) भीतरी भारतवर्ष के साम्राज्य का इतिहास लिखा गया है। साम्राज्य का यह इतिहास शकवंश (कुशन, सन् ७८ ई०) से

आरंभ होता है और इसमें पाल-साम्राज्य तक नीचे लिखे इन वंशों का अविच्छिन्न इतिहास लिखा गया है—

(१) शकवंश।

(२) नाग और सेन—(दूसरे स्थान में अर्थात् बंग के प्रांतीय इतिहास में) 'नागराज' और 'प्रभाविष्णु' यानी भारशिव नाग और विष्णुवृद्ध वाकाटक।

(३) गुप्त सम्राट —बुद्धगुप्त के अंत तक।

(४) विष्णु (वर्द्धन—यशोधर्मन् और दो उत्तराधिकारी)।

(५) मौखरी।

(६) थानेश्वर का वंश।

(७) वल्लभी कुल —हर्षवर्द्धन के पोते से आरंभ होकर (इनकी नौ-सेना बलवती थी)।

(८) पीछे के गुप्त राजा आदित्यसेन, देवगुप्त, चंद्रादित्य (विष्णु-गुप्त) और द्वादशादित्य।

(९) पाल राजा, गोपाल से आरंभ (इन लोगों का वर्णन बंगाल और मगध के प्रांतीय इतिहास में भी दुहराया गया है)।

इससे यह देख पड़ेगा कि विष्णुवर्द्धन (४), मौखरी (५), वल्लभी (७) और पिछले गुप्त (८), इन लोगों के साम्राज्यों को विंसेंट स्मिथ साहब और उनके अनुयायियों ने बिलकुल छोड़ दिया है। भारतीय ऐतिहासिक लेखकों के लिये प्रशंसा की बात है कि वे लोग इस त्रुटि से अपना असंतोष, समय समय पर, प्रकट करते रहे।

इस नए ग्रंथ "मंजूश्री मूलकल्प" से सदा के लिये निश्चय हो जाता है कि गुप्त-काल से पाल-काल तक का भारतीय इतिहास फिर से लिखा जाना चाहिए। विंसेंट स्मिथ का इतिहास अब बेकाम हो जायगा। आशा की जाती है कि अब भारतीय लोग ही अपने देश के इतिहास को पूर्ण और शुद्ध रीति से लिखकर अपने पूर्वजों

की परंपरा को जारी रखेंगे, जिन्होंने अपने देश का इतिहास कई शताब्दियों तक पुराणों में और मंजूश्री मूलकल्प सरीखे ग्रंथों में लिखा है।

जान पड़ता है कि मंजूश्री इतिहास तीन ग्रंथों के आधार पर लिखा गया है जिनमें का अंतिम ग्रंथ पिछले गुप्तों के विषय में था। ये गुप्त गोपाल के पूर्ववर्ती थे। यह पुस्तक मंजूश्री गोपाल (सन् ७७२ ई०) के राज्य के पश्चात् लिखा गई थी। इसमें गोपाल को शूद्र कहा गया है और उसका राज्य-काल २७ वर्ष बताया गया है। धर्मपाल के समय में यह पुस्तक लिखी गई जान पड़ती है। ढाई शताब्दियों के पीछे (सन् १०६० ई० के लगभग) इसका भाषांतर तिब्बत की भाषा में हुआ। इस पुस्तक में हर्षवर्द्धन और शशांक की लड़ाई का पूरा पूरा ब्योरा है। इसके बौद्ध लेखक ने प्रथा के अनुसार तीन बौद्ध-धर्म-विरोधकों—पुष्यमित्र, मिहिरकुल और शशांक—के सच्चे नाम छोड़ दिए हैं। पुष्यमित्र के लिये 'गोमित्र' नाम का, मिहिरकुल के लिये 'ग्रह' का और शशांक के लिये 'सोम' का उपयोग किया है। पर इन लोगों के इतिहास से उनका व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है।

शशांक

शशांक के विषय में नया ज्ञान यह प्राप्त होता है कि यह ब्राह्मण था। गौड़ गुप्तों की अति निर्बलता के कारण वह शक्तिमान् हुआ। हर्ष ने शशांक पर चढ़ाई की। पुंड्रवर्द्धन के निकट उन दोनों की लड़ाई हुई जिसमें शशांक हार गया और हर्षवर्द्धन की शर्तों को कबूल करके उसने संधि कर ली। उसने अपने शेष जीवन भर पुंड्रवर्द्धन में रहना स्वीकार कर लिया। शशांक के नेतृत्व में बंगाल और बिहार में हिंदू-धर्म की जागृति बहुत हुई। इस इतिहास में लिखा है कि बौद्ध विहारों के स्थानों पर और उन्हीं

की सामग्री से लोगों के घर बनाए गए। यह इतिहास १००० श्लोकों में है।

चरित्र-वर्णन

इस इतिहास में गुप्त-सम्राटों का और अन्य राजाओं के चरित्रों का अच्छा वर्णन है जिसका पुराणों में अभाव है। समुद्रगुप्त के विषय में इसमें लिखा है कि वह मनुष्यों से परे था; सदैव सावधान रहा करता था। वह ऐहिक बातों पर पूरा पूरा ध्यान देता था और दूसरे लोक की उसे कुछ परवा न थी। वह हिंसामय यज्ञ करता था। उसके राज्य में मनुष्यों और पितरों को सब भोग मिलते थे। स्कंदगुप्त के विषय में लिखा है कि वह गुप्त सम्राटों में उत्तम और अत्यंत उदार था। अपने धर्म का पूर्णतया पालन करता था। बिंदुसार के विषय में लिखा है कि वह अपनी नाबालिगी में गद्दी पर बैठा। उसमें अन्य गुणों के साथ साथ मनुष्य को परखने का गुण और वक्तृत्व-शक्ति अच्छी थी। गोपाल के विषय में लिखा है कि वह प्रियभाषी था और अपने धर्म को तथा बौद्ध धर्म को समान सहायता देता था। उसने राज्य करने में सिद्धि प्राप्त की और अपनी यादगार में बहुत से मंदिर बनवाए।

बंगाल में प्रजातंत्र राज्य और राजाओं का चुनाव

बंगाल में शशांक के पीछे थोड़े काल के लिये प्रजातंत्र राज्य स्थापित हुआ। गोपाल के चुनाव का हाल तो हम लोगों को ज्ञात ही है। पर अब जान पड़ता है कि गोपाल के कुछ काल पूर्व एक लोकप्रिय शूद्र जाति का बंगाली नेता राजा चुना गया था और उसने १७ वर्ष तक राज्य किया। वह ब्राह्मण और बौद्ध भिक्षु दोनों को अवांछनीय कपटी समझकर दोनों के साथ समानता से बर्ताव करता था। गोपाल ५२ वर्ष के वय में चुना गया था।

इन दोनों के राजा बनाए जाने से हम जान सकते हैं कि आठवीं शताब्दी में बंगाल जाति-बंधन से मुक्त हो गया था।

कुछ अज्ञात गुप्त-मुद्राओं की पहचान

अभी तक तीन गुप्त-मुद्राओं की ठीक ठीक पहचान नहीं हुई थी; पर इस नए इतिहास की सहायता से उनका निश्चय हो जाता है। एक गुप्त-मुद्रा में द्वादशादित्य नाम है। यह नहीं मालूम पड़ता था कि यह राजा कौन था। इस नए इतिहास में गौड़ गुप्तों के ये नाम मिलते हैं—

देव (गुप्त), चंद्र (चंद्रादित्य) इसका निजी नाम विष्णुगुप्त था, इसका पुत्र—द्वादश (आदित्य)।

द्वादशादित्य पिछले या गौड़ गुप्तों का अंतिम राजा था और उसका समय लगभग सन् ७१०--२० ई० है। उसका दूसरा नाम जीवित गुप्त रहा हो या यह उसका भाई हो।

सम्राट्गुप्तों की एक मुद्रा प्रकाशादित्य के नाम की मिली है। उसमें उ अक्षर लिखा है। कुमार गुप्त द्वितीय का उत्तराधिकारी राजा उ (बुधगुप्त) था।

उसी के विरुद्ध प्रकाशादित्य और उ से आरंभ होनेवाला कोई नाम था; यह अंतिम गुप्त-सम्राट् था।

गुप्त-साम्राज्य का भंग

मंजूश्री इतिहास के अनुसार बुधगुप्त के पश्चात् गुप्त-वंश के दो राजा हुए—एक मगध में और दूसरा बंगाल में। इससे किसी शूद्र हूण ने चढ़ाई की और गुप्त-वंशज, तथा गोपराज द्वारा वंदीकृत, किसी बालक को मुक्त कर बनारस में गद्दी पर बैठाया। उसका नाम प्र (कटादित्य) था। गोपराज और प्रकटादित्य दोनों के शिला-लेख मिलते हैं। सारनाथ के शिलालेख के अनुसार प्रकटादित्य बाला-दित्य द्वितीय का पुत्र था। यही बालादित्य द्वितीय (न कि बाला-

दित्य प्रथम) तोरमान, मिहिरकुल और गोपराज का समकालीन था। मंजूश्री के अनुसार बालादित्य द्वितीय और भानुगुप्त एक ही व्यक्ति थे। वह हूण राजा प्रकटादित्य की गद्दी के पश्चात् शीघ्र ही मर गया और उसका पुत्र ग्रह (मिहिरकुल) उसकी गद्दी पर बैठा, पर दुराचारी होने के कारण पीछे से मारा गया।

उस ग्रह (मिहिरकुल) के मरने पर प्रकटादित्य बनारस और मगध का राजा हुआ और उसने ५४ वर्ष तक राज्य किया। उसने अपने समय में बहुत से परिवर्तन देखे। उसके राज्य के अंत में उसके वंश की एक शाखा विंध्या में देवसिंहराज के नाम से स्थापित हुई। यह मालव गुप्त शाखा जान पड़ती है। देवसिंहराज को राज्यवर्द्धन ने लड़ाई में मार डाला। प्रकटादित्य की गद्दी पर उसका भाई व (वज्र) बैठा। उसके पीछे और एक उत्तराधिकारी थोड़े काल के लिये हुआ और राज्यवर्द्धन के उदय होने पर इस कुल का अंत हो गया।

इस इतिहास से और चंद्रगर्भसूत्र से सिद्ध होता है कि स्कंदगुप्त ने अपने लड़कपन में ही हूण, पार्थियन और शक लोगों की इकट्ठी तीन लाख सेना को हराया और उन जंगली राजाओं को लड़ाइयों में कैद करके मार डाला। इस कारण उसके पीछे भी ४०-५० वर्ष तक हूण लोगों ने फिर अपना सिर नहीं उठाया।

राजाओं की जाति

आदित्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन वैश्य थे। गुप्तों को क्षत्रिय बताया गया है। वल्लभीकुल की उत्पत्ति इक्ष्वाकुओं से है। नागकुल प्रारंभ में वैश्य थे। पाल शूद्र थे। हर्षवर्द्धन के कुल की उत्पत्ति विष्णुवर्द्धन से हुई थी।

गुप्त-काल से पूर्व की बातें

इस पुस्तक में शकों को मध्य भारत के राज्यकर्त्ता कहा है। इससे जान पड़ता है कि कुशन लोग शक कहलाते थे। शक लोगों का

विध्वंस नागसेनों ने किया। बुद्ध के उपदेश अजातशत्रु के उत्तराधिकारी उदयिन् के समय में लिपिबद्ध हुए। नंद (महापद्मनंद) अपने पूर्व के राजा का मंत्री था। यह नंद अपने समय में सबसे नीचा राजा समझा जाता था। राज्य करने में वह योग्य, शक्तिशाली और न्यायी था। उसके राज्य के अंत में उसके अमात्यगण उसका बहुत विरोध करते थे। पाणिनि इस नंद का मित्र था। चंद्रगुप्त वृद्ध होकर नहीं मरा और उसका नाबालिग पुत्र बिंदुसार उसकी गद्दी पर बैठा। विष्णुगुप्त चाणक्य इन दोनों राजाओं का मंत्री था। यह कड़ा और योग्य राज्यकर्त्ता था। पर इसका क्रोध और इसकी दरिद्रता भी प्रसिद्ध बताई गई है। शैशुनाग से मौर्य तक मंत्रियों को और अमात्य-सभा को सम्राट् से बढ़ कर अधिकार थे। नागार्जुन का काल बुद्ध से ४०० वर्ष पीछे ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी बताया गया है।

विशाल भारत

मंजूश्री का लेखक भारतीय द्वीप-समुदाय (Indian Archipelago) और फरदर इंडिया (Further India) के इतिहास को भारत के इतिहास के अंतर्गत लिखता है। अरब लेखक सुलेमान ने भी जावा और अन्य द्वीपों को भारत के अधीन बताया है। नालंदा में प्राप्त ताम्रपत्र में (जिसे डा० हीरानंद शास्त्री ने छापा है) सुमात्रा के हिंदू-राज्य का संबंध देवपाल के पाल-साम्राज्य से बताया है। मंजूश्री मूलकल्प में लिखा है कि प्रकटादित्य के समय में बंगाल के गौड़कुल का ब्रह्मदेश तक अधिकार था। उसमें कुछ अच्छे शिल्पकारों के नाम भी बताए गए हैं जिन्होंने दक्षिण भारत से द्वीपों में जाकर उन्हें सुंदर बौद्ध विहारों और अन्य कीर्तिस्तंभों से सुशोभित किया।

— पंड्या बैजनाथ

---

(२) पुराने नगर

इंडियन एंटीक्वेरी (जून १६३३) में श्री काशीप्रसाद जायसवाल कुछ पुराने नगरों के स्थानों का निर्णय करते हैं ।

गुप्तकालीन अलीपुर का वर्णन नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में हो चुका है । वायुपुराण गुप्तकालीन पुस्तक है । उसका ऐतिहासिक वर्णन सन् ३४८-३५० ई० के लगभग समाप्त होता है । भारतवर्षीय भूगोल-संबंधी अध्याय ४५ में "अपगाश्चालिमद्राश्च" अपगा और अलि-मद्र लोकों का स्थान उत्तर देश में रखा है । अलिमद्र मद्र लोगों की एक उपजाति जान पड़ती है । अलीपुर उनकी राजधानी प्रतीत होती है । इसलिए चंद्रगुप्त द्वितीय और शाकाधिपति का युद्ध मद्रदेश में हुआ होगा ।

महाभारत भीष्मपर्व में वाह्लीक और दार्वीच-वानवों का वर्णन है । वानव लोग आधुनिक बन्नू (Bannu) प्रांत के निवासी थे । दार्वीच आधुनिक सीमाप्रांत की दरवेश-खेल जाति है । ये दोनों पड़ोसी थे और दोनों का नाम इकट्ठा आता है ।

वाटधान लोग लिच्छवियों के समान व्रात्य थे (मनु० १०-२१) । पुराणों में उन्हें उत्तरदेशवासी बताया है; जैसे मत्स्यपुराण अ० ११३-४० में वाह्लीका वाटधानाश्च का वर्णन है । वराहमिहिर बृहत्संहिता १६-२२ में "वाटधान-यौधेयाः" का उल्लेख करता है । वाटधान का प्राकृत में पाटहान रूपांतर हो जायगा जो आधुनिक 'पठान' का सूचक है ।

इसी मासिक पत्र के जुलाई १६३३ के अंक में जायसवाल महाशय का इसी विषय का एक और विस्तृत लेख है Places and Peoples in Aśoka's Inscriptions. यह विशेष महत्त्व का है और इसका सारांश यहाँ दिया जाता है ।

पालद पालिद—अशोक के शिलालेखों में पालद, पालिद, पारिंद नाम आते हैं। मत्स्य पुराण (अ० ११३-४०, ४३) में उत्तर देशों का वर्णन करते हुए, "शका द्रुह्याः पुलिन्दाश्च पारदा हारमूर्तिकाः" लिखा है। इन्हीं को वायु पुराण (अ० ४५-११६) 'में शका हृदाः कुलिन्दाश्च परिता हारपूरिकाः' लिखा है। यहाँ मद्रक को भद्रक भूल से लिखा गया है। पुलिंद अफगान देशीय पोविंदा (Povindah) जान पड़ते हैं। कुलिंद और कुनिंद एक हैं। हारपूरिक हारहुरिक का अपभ्रंश है जो ऐरेकोशिया (Arachosia) देश का संस्कृत नाम बताया जाता है। शक, द्रुह्य (=हृदाः झीलवाले) सेस्तान (Seistan-Drangiana) देश के वासी जान पड़ते हैं। परित या पालिद अफगानिस्तान में मोहमंद या काफीर प्रांत के थे। अपरीत आधुनिक अफ्रीदी हैं। महाभारत के परांत और अपरांत वायु पुराण के शूद्र और अपरीत हैं।

उत्तरीय अंध्र की भी एक जाति थी। मत्स्य पुराण इन्हें पुर-अंध्र लिखता है। वायु पुराण उसी स्थान पर अपरीत लिखता है। भागवत (९-२०, ३०) में अंध्रों को उत्तर देश के लोगों में बताया है। मत्स्य पुराण में पुर-अंध्र वाह्लीक समुदाय में रखे गए हैं। अशोक के अंध्र उत्तरदेशवासी थे क्योंकि उसने अंध्रों को उनके पड़ोसी पालिद के साथ रखा है। इन उत्तरीय अंध्रों में प्रजातंत्र राज्य था। आक्सस (Oxus) नदी को पुराणों में चक्षु (मत्स्य पुराण, अध्याय १२०-४०; वायु पुराण १-४७, ३९; रामायण बालकांड ४३, ११-१४) अक्षु और वक्षु नाम से लिखा है। इस चक्षु नदी के किनारे पर तुषार-अंध्र, पारद, दरद, शक, खस आदि लोगों के देश बताए गए हैं। तुषार आधुनिक तोखारिस्तान और बदखशाँ अफगानिस्तान में है। तोखारिस्तान प्रदेश अब भी आक्सस नदी के आसपास है। पारद (अशोक के पालिद) बल्ख और दरद या दरदिस्तान के बीच

में बदख़शाँ में आते हैं। अशोक के जंबूद्वीप में आक्सस देश भी शामिल था। वहाँ तक उसका राज्य था। युवान-च्वांग ने अशोक का स्तूप अंतराप या अंदराव प्रदेश में देखा था। मत्स्य का वीरमरु वायु पुराण में चीनमरु हो गया है। संभवतः ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी में चीन का अधिकार पारस तक पहुँच गया था और यह रूसी तुरकिस्तान मरुस्थल उसी में शामिल था। पौराणिक और आधुनिक नाम इस प्रकार मिलते हैं—

आधुनिक	पौराणिक
मरुस्थल (desert)	मरु (चीन)
कर्की (Kerki)	कालिक (?)
अंडखूई (And-khui)	अंध्र
बल्ख (Balkh)	वाह्लव
बदख़शाँ	पारद
शिघनान-वख़ान (Shighnan-Wakhān)	शक
पामीर	खश या खस

अशोक के शिलालेखों में अराजविषय ? का भी एक लेख है। अपरांत (पश्चिमीय भारत) की राजधानी सूर्पारक आधुनिक सोपारा थी। वराहमिहिर के समय में अपरांत नासिक से कच्छ की रण तक था।

भारतवर्ष और हिमवर्ष—अशोक के समय में इनकी मध्य सरहद की रेखा मेरु (हिंदूकुश) और निषद थी। इस रेखा के दक्षिणवाले यवन, कांबोज, नाभ, नाभपंति, भोज, पितिनिक लोग थे। उसके उत्तर में हिमवर्षवासी आक्सस-तीरस्थ अंध्र और पारद थे। आक्सस प्रांत को पुराणों ने भारतवर्ष जंबूद्वीप में सम्मिलित किया है। मौर्यकालीन भारत की सीमा जंबु नदी और मेरु (हिंदूकुश) थे। जंबुवृक्ष संभवतः आलु-बुखारा के वृक्ष का पौराणिक नाम है।

कांबोज देश आधुनिक काबुल प्रांत है। इसका दूसरा नाम अश्वक था। यहाँ के घोड़े प्रसिद्ध थे। इस प्रांत के निवासियों को 'अश्वयुद्धकुशला:' कहा गया है। गांधार प्रांत उस समय दो भागों में विभक्त था। एक सिंधु नदी के पूर्व में था जिसकी राजधानी तत्तशिला थी और जो अशोक के साम्राज्य का विभाग था; दूसरे में बाजौर (Bājaur) और स्वात (Swat) प्रदेश सम्मिलित थे, जिनमें छोटे छोटे आठ प्रजातंत्र संघ थे और पुष्कलावती उन सबमें बड़ी थी। अशोक के "अशशु" को लेखक ने "अशुरशु"= "असुरसु" (Insyria) शुद्ध पाठार्थ बताया है।

पंड्या बैजनाथ

---

(३) मैनुअल ट्रेनिंग में प्रयोग किए जानेवाले शब्दों का सूचीपत्र

[काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत]

1. Jack Plane ... बड़ा रंदा
2. Smoothing Plane ... छोटा रंदा, टुका रंदा
3. Fillister Plane ... दर्राज
4. Spake Shape ... हाथ का रंदा
5. Hand Saw ... हूल आरी
6. Tinon Saw ... चूल बनानेवाली आरी (पुट्टेदार आरी)
7. Firmer Chisel ... रुखानी पतली
8. Firmer Gauge ... गोल रुखानी
9. Mortin Chisel ... मोटी रुखानी
10. Hammer ... हथौड़ा

11.	Mallot	...	काठ की मुगरी
12.	Pincers	...	जूंबडा
13.	Marking Gauge	...	रेखाकर्षक (खसरिया)
14.	Try Square	...	गुनियाँ
15.	Files	...	रेतियाँ
16.	Hand Drill	...	हाथ बरमा
17.	Marking All	...	सूजा
18.	Twist Gimlet	...	पेचदार बरमा
19.	Auger Gimlet	...	सादा बरमा (छोटा बरमा)
20.	Brass and Bits	...	बरमा और उसके फल
21.	Oil Cen	...	तेल की कुप्पी
22.	(a) Saw Set	...	आरी के दाँत तेज करने का औजार (चपरास देनेवाला औजार)
	(b) Saw Sharpening Vice	...	आरी तेज करने का बाँक
23.	Screw Driver	...	पेचकश
24.	Pliers	...	तार काटनेवाला जबड़ा
25.	Bivel	...	बदगुनियाँ
26.	Model	...	नमूना
27.	Planning	...	रंदे का अभ्यास
28.	Gauging	...	रेखाकर्षण का अभ्यास
29.	Sawing	...	आरी चलाना
30.	Chiselling	...	रुखानी का अभ्यास
31.	Joints	...	जोड़
32.	Holing Joints	...	अर्द्धक जोड़
33.	Pencil Sharpener	...	पेंसिल तेज करने की चीज
34.	Housing Joint	...	सादा जोड़ और अलहद जोड़

35.	Picture Frame	...	तसवीर का चौखटा
36.	Mortising and Tenon Joint	...	चूलदार जोड़
37.	Dove tailing Joint	...	डँवरुआ जोड़
38.	Tongue Joint	...	चोमीदार जोड़
39.	Bridle Joint	...	गलीदार चूल
40.	Plan	... ...	प्लास के ऊपर का धरातल
41.	Elevation	...	सामने का दृश्य या खड़ा दृश्य
42.	Side view	...	बगली दृश्य
43.	Conventional Isometic Projection.		कन्वेंशनल आइसोमेट्रिक प्रोजेक्शन

---

(४) महाकवि पुष्पदंतकृत नागकुमार चरित

बरार प्रांत के कारंजा ग्राम में जैनियों के तीन बड़े मंदिर हैं। इनमें हस्तलिखित ग्रंथों का अच्छा संग्रह है। जैनी लोग अपने ग्रंथों को बहुत छिपाकर रखा करते थे, इसी कारण यहाँ के अमूल्य ग्रंथों का सैकड़ों वर्षों तक किसी को पता ही नहीं लगा, परंतु जब सन् १९२६ में मध्यप्रदेश और बरार के हस्त-लिखित संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की गई, तब अनेक विद्वानों को इनका महत्त्व प्रकट हुआ और उनकी रुचि उनके पूर्ण रूप से अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त हुई। इस काम में कई अड़चनें उपस्थित हुईं, जिनका अमरावती कालेज के संस्कृताध्यापक श्री हीरालाल जैन ने केवल निवारण ही नहीं किया बल्कि मंदिर के स्वामियों का उत्साह बढ़ाकर ग्रंथों के प्रकाशन के लिये दो संस्थाएँ भी स्थापित कर दीं। एक हुई मंदिर स्वामी अंबादास चवरे के नाम पर और द्वितीय बलात्कारगण मंदिर के भट्टारक देवेंद्रकीर्त्ति की स्मृति में। प्रथम ग्रंथ-

माला में अभी तक दो ग्रंथ छप चुके हैं जिनकी समालोचना इस पत्रिका में हो चुकी है। वर्त्तमान पुस्तक दूसरी संस्था का प्रथम ग्रंथ है और महाकइ पुप्फयंत (महाकवि पुष्पदंत) की कृति है। यह राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी मान्यखेट में (वर्तमान मालखेड़ जो निजाम के राज्य में शामिल है) लिखा गया था। ग्रंथकर्त्ता पुष्पदंत शैव ब्राह्मणों का वंशज था[1], जिन्होंने अंत में जैनधर्म ग्रहण कर लिया था। नागकुमार एक राजपुत्र था जिसने पंचमी व्रत रखने के कारण मदन के समान सुंदर रूप पाया था। उसी का वर्णन इस प्राकृत ग्रंथ "णायकुमारचरिउ" में किया गया है[2]। कविता बड़ी सुंदर और भावपूर्ण है। श्री हीरालाल जैन ने बड़ी योग्यता और परिश्रम के साथ इसका संपादन कर मृत भाषा के रसास्वादन का मार्ग सरल कर दिया है। उनकी तीव्र दृष्टि से कोई बात बचने नहीं पाई है। उन्होंने ग्रंथ में आए प्रत्येक शब्द का वर्ण-क्रम से कोश ही नहीं दे दिया, वरन् एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिख दी है जिसमें ग्रंथ का सार बतलाने के अतिरिक्त ग्रंथ से संबंध रखनेवाले ऐतिहासिक तथा भौगोलिक नामों और घटनाओं का पूरा विवरण लिख दिया है एवं ग्रंथ की भाषा के व्याकरण, छंद, टिप्पणियाँ इत्यादि का समावेश कर दिया है। बारीकी इतनी की है कि जिन वृक्षों या पशुओं के नाम ग्रंथ में आए हैं उन सबों की सूची बना डाली है और उनपर उपयुक्त नोट लिख दिए हैं। ग्रंथ से तत्कालीन सामाजिक रीति-नीति का जो पता चलता है उसका भी वर्णन विशद रूप से कर दिया है। पुस्तक उपयोगी और उपादेय है।

हीरालाल

---

(१) 'वंभणाइं कासव रिसि गोत्तइं। गुरु वयणामय पूरियं सोत्तइं॥

(२) णायकुमारचरितु पयासिउ। इय सिरि पंचमि फलु मइं भासिउ॥

(५) हिंदी साहित्य का इतिहास

[लेखक—श्री व्रजरत्नदास। प्रकाशक—श्री कमलमणि ग्रंथमाला कार्यालय, बुलानाला, काशी। २० × ३० सोलह पेजी के २३६ पृष्ठ। मूल्य १)]

ठाकुर शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' को अपूर्ण इतिहास मानें तो भी इसमें संदेह नहीं कि वह एक पथ-प्रदर्शक संग्रह का काम खूब चला सका है। इसके पश्चात् बृहत्काय मिश्रबंधु-विनोद बड़े परिश्रम और ढंग से, व्यवस्थित रूप में, लिखा गया। पं० रामचंद्रजी शुक्ल के 'साहित्य के इतिहास' ने एक नया ही रूप धारण किया और वह साहित्य के क्रमिक ज्ञान के साथ साथ उसकी विशेषताओं को भी विशद एवं सुचारु रूप से स्पष्ट करने में बड़े मार्के का रहा। तत्पश्चात् श्रद्धास्पद बाबू श्यामसुंदरदास के "हिंदी भाषा और साहित्य" ने भाषा के अंग पर विशेष प्रकाश डालकर उसे स्पष्ट और साहित्यानुशीलन के मार्ग को बड़ा सुगम बना दिया।

अब इधर कुछ दिनों में जो छोटे छोटे 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' निकले हैं उनमें वैसी कोई विशेषता ढूँढ़ना संगत न होगा। कारण कि वे संक्षिप्त संस्करण या संकलन की भाँति ही सामने आते हैं, नई बात लेकर नहीं। इतिहास शब्द के तीन खंड हैं, इति-ह-ह्रास जिसका अर्थ होता है so it was. इस दृष्टि से भी ये नवीन इतिहास-लेखक कुछ महत्त्वपूर्ण पद नहां प्राप्त करते। हाँ, हाईस्कूल या इंटरमीडियट के विद्यार्थियों को संक्षेप में हिंदी-साहित्य का ज्ञान इनसे हो जाय यह दूसरी बात है। प्रस्तुत पुस्तक भी इसी श्रेणी की है। फिर भी बाबू व्रजरत्नदासजी की स्वाभाविक सतर्कता एवं पटुता से अपने समकक्ष प्रायः सभी इतिहासों से यह उपादेय सिद्ध होगा। व्यर्थ की बातों के तिरस्कार एवं आवश्यक प्रायः सभी बातों के संग्रह से यह पुस्तक विद्यार्थियों को अधिक पसंद आयगी। पर ऊँचे दरजे के विद्यार्थी इससे अधिक लाभ उठा सकेंगे, इसमें संदेह

है। शुक्लजी या बाबू साहब के इतिहासों की कुंजी मानकर जो विद्यार्थी इस पुस्तक पर ही अवलंबन करें उन्हें भी धोखा होगा। फिर भी विश्वविद्यालय की उच्च कक्षाओं के अतिरिक्त भी हिंदी के साहित्यिक इतिहास का उचित प्रचार होना बहुत आवश्यक है और इस काम में ऐसी पुस्तकें बड़ी सहायक होंगी। बाबू ब्रजरत्नदासजी का यह प्रयत्न साधु एवं प्रशंसनीय है। इसके प्रचार के साथ साथ साहित्य का ऐतिहासिक ज्ञान भी सर्व-साधारण को सुलभ हो जायगा।

इसमें इतिहास, जीवन-चरित, पुरावृत्त, विज्ञान, कोश, व्याकरण, कानून आदि विषयों का नया समावेश है। वास्तव में ये विषय अब तक के साहित्यिक इतिहासों में प्रायः उपेक्षित से देख पड़ते हैं। यदि भविष्य के इतिहासकार इस ओर अधिक ध्यान दें तो बड़ा अच्छा होगा। समयानुकूल होने के कारण इन विषयों पर विशेष रूप से साहित्य का भी निर्माण अत्यावश्यक है। अंत में लेखक को साधु-वाद देकर हम इस पुस्तिका के उचित आदर एवं प्रचार का भार हिंदी-प्रेमी जनता पर छोड़ बाबू ब्रजरत्नदासजी से आशा करेंगे कि वे अपने निर्दिष्ट नूतन विषयों पर पूर्ण प्रयत्न करके मातृभाषा का भांडार भरते रहें।

महादेवप्रसादसिंह

---

(६) "प्रिय-मिलन"

यह संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली का एक खंड काव्य है। इसके प्रणेता तथा प्रकाशक पंडित नंदकिशोर झा "किशोर" काव्यतीर्थ हैं। जिस समय आप विद्यार्थी थे उसी समय से "इन बहिर्भूत विषयों" का अवकाश के समय "कुछ कुछ" अभ्यास किया करते थे। आपने अपने इस मधुर स्वप्न को 'महाकाव्य' का रूप देना चाहा था और चाहा था श्रीमद्भागवत दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध-स्थित सभी कथाओं को

सम्मिलित करना। बाद में अपनी असमर्थता का ध्यान करके इसे वर्तमान रूप में प्रकाशित किया। आपके प्रिय-मिलन में छः उल्लास उत्पन्न हुए हैं, जिनका मूल्य दस आने चुकाकर पाठक कितना उल्लास प्राप्त करेगा सो संदिग्ध है। पद्य-बद्ध करने का आपका यह प्रथम प्रयास प्रशंसनीय है। पर इसे छपा हुआ देखने का लोभ कुछ दिन और संवरण कर लिया जाता तो अच्छा होता। छापे से संबंध रखनेवाली गलतियाँ भी बहुत हैं, जिनका निराकरण तीन पृष्ठों के शुद्धिपत्र से भी नहीं हो पाया है। ज्ञात होता है कि इसको सरस बनाने का प्रयत्न पुस्तक के छपने पर भी होता रहा है, क्योंकि लेखक ने अंत में एक पाठ-भेद का शीर्षक भी दिया है। भाषा और भाव दोनों प्रायः शिथिल जान पड़ते हैं।

रुक्मिणी के सेनानी-वेष का वर्णन देखिए—

"बंदूक नासा, ढाल उर, चल बाहु शित करवाल थे।
भ्रू धनुष, प्रत्यंचा पलक, सुकटाक्ष विशिख कराल थे॥"

(पृष्ठ ९७)

नासा और बंदूकवाली उपमा नोट करने लायक है।

हरण होकर जाती हुई रुक्मिणी अपने शैशव जीवन और पितृ-गृह के आमोदों का ध्यान करके कहती है।

"बहु वयस्याएँ अप्सरा सी सदा रहती पास थीं।
नहिं वसन रत्नाभरण के भी माँगने की आश थी॥"

(पृष्ठ ११२)

यदि यहाँ "आश" शब्द आवश्यकता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तो यह भी चिंतनीय माना जाय।

'श्रीकृष्ण तुम्हारे लिये आ रहे हैं' यह ब्राह्मण द्वारा सुनकर रुक्मिणी को कैसा आनंद हुआ सो "अस्थिवत्, दधिवच्चैव" की भाँति लेखक के ही शब्दों में सुनिए—

"बने कुष्टि की ज्यों पुनः दिव्य काया।
वहाँ रुक्मिणी ने तथा सौख्य पाया॥"

(पृष्ठ ८६)

यों तो आपने अनेक छंदों का सहारा लिया है पर न तो कोई छंद इनका निर्वाह कर सका है और न आप किसी छंद का। नवीनता का जहाँ ध्यान आया है वहाँ आपने छायावादवाले प्रसिद्ध रबड़ या केचुआ छंद का आभास, निराली रीति के साथ पुरानी चौपाई में, दे दिया है।

"क्रमशः बढ़ने लगा उजाला। किंतु रुक्मिणी को तो काला—
ही सब ओर दीख पड़ता था। अति नैराश्य भाव बढ़ता था॥"

(पृष्ठ ८८)

शब्दों का योग तो ऐसा बना है कि जहाँ रुक्मिणी चिंता करती है वहाँ आप हँस पड़ेंगे—

"आशा रज्जु न करना भग्ना।
नाथ! हो चली हूँ मैं मग्ना॥"

(पृष्ठ ८८)

ऐसे अनेक स्थलों के रहते भी, यह मानना पड़ेगा कि लेखक ने इसे सुंदर बनाने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। परिश्रम भी काफी किया गया होगा। इसी प्रकार के अभ्यास से कभी 'जयद्रथ-वध' सरीखा खंड-काव्य भी लिखा जा सके तो आश्चर्य क्या? अंत में हम वयस्क 'किशोर' जी को विश्वास दिलाते हैं कि अनेक स्थल पर भाव बहुत सुंदर उतरे हैं और कुछ पद्यों की योजना भी विशद बन पड़ी है। आखिर भारतेंदुजी ने भी तो "लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए" से प्रारंभ किया था।

महादेवप्रसादसिंह

---

(७) सिक्खों के बारह गुरु

"सिक्खों के बारह गुरु" नामक पुस्तक के रचयिता श्रीगुरादित्ता खन्ना ने इस पुस्तक द्वारा जहाँ बपौती से प्राप्त गुरु-घर के प्रति अपने स्वाभाविक प्रेम का परिचय दिया है वहाँ वे एक बड़ी कमी को भी बहुत अंशों में पूर्ण करने में सफल हुए हैं। यद्यपि सिक्ख जाति की वीरता, धीरता, त्याग, निर्भीकता आदि गुणों के कारण प्रायः समस्त हिंदी-भाषा-भाषी उससे भली भाँति परिचित हैं और गुरु नानक आदि गुरुओं का विमल यश उन तक पहुँच चुका है जिससे कि वे उन्हें पूज्य दृष्टि से देखते हैं परंतु फिर भी हिंदी में ऐतिहासिक विधि से लिखी हुई किसी पुस्तक के न होने के कारण क्रमागत गुरुओं के पवित्र चरित्रों से लाभ उठाना उनके लिये शक्य न था। इस न्यूनता को दूर करने के कारण लेखक हम सबके धन्यवाद के पात्र हैं।

यों तो गुरुभक्ति तथा गुरु-गुण-गान भारतवर्ष की अत्यंत प्राचीन संपत्ति है परंतु आधुनिक युग में सिक्ख-जाति ने अपने गुरुओं के प्रति श्रद्धा, भक्ति, प्रेम तथा आचरण द्वारा जैसी कृतज्ञता प्रकट की है और बराबर कर रही है वैसी अन्यत्र कम मिलती है। इसका कारण भी है। गुरु-चरित्र जहाँ आत्म-परमात्म-विवेक तथा तत्त्व-ज्ञान से भरपूर हैं वहाँ विशुद्ध कर्मयोग की सुगंधि से भी सुरभित हैं। जिस समाज ने लगातार ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के संगम-स्थान बारह उत्कृष्ट महापुरुषों को उत्पन्न किया हो वह क्यों न अपने को धन्य समझे और क्यों न उनके प्रति कृतज्ञता-पूर्ण हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करे। गुरु-चरित्रों को देखने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि यद्यपि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से विवश होकर उन्होंने अत्याचारी यवन शासकों का सामना करते हुए क्षात्रधर्म की सहायता से हिंदू-धर्म को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाया और सैकड़ों मुसल-

मानों का वध किया परंतु तात्त्विक दृष्टि से उन्होंने हिंदू-मुसलमानों को कभी भेद-भाव से नहीं देखा। स्वयं श्री गुरु नानकदेवजी का मर्दाना नामक एक शिष्य मुसलमान था। उसे गुरुजी बहुत प्यार करते थे और जहाँ जाते थे साथ ले जाते थे। वह उनकी रचनाएँ गा गाकर लोगों को सुनाया करता था। द्वितीय गुरु श्रीअंगददेवजी ने हुमायूँ बादशाह को, जब कि वह शेरशाह से हारकर उनके पास सहायतार्थ आया, यह वर दिया कि जा तू अपने मनोरथ में सफल हो। इसी प्रकार सप्तम गुरु श्री हररायजी औरंगजेब के भाई दारा-शिकोह से बहुत प्रेम करते थे और वह भी उनका भक्त था। उनकी दवा से उसके प्राण भी बचे थे। जब सन् १६५८ ई० में औरंगजेब की सेना बड़े वेग से दारा का पीछा कर रही थी तब शीघ्र ही गुरुजी ने अपनी सेना उसकी रक्षा के लिये भेजी। जब तक दारा भागकर किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँच नहीं गया तब तक औरंगजेब को उसने व्यास नदी के तट पर रोक रखा। इन सब घटनाओं से स्पष्ट है कि गुरुओं के हृदयों में साम्य-बुद्धि जागरित थी। यदि उन्हें द्वेष था तो तत्कालीन अत्याचारी शासन से तथा अवगुणों से, न कि किसी व्यक्ति-विशेष अथवा जाति-विशेष से। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अपने "गुरुकुल" नामक ग्रंथ में बंदा के मुख से कहलाया है—

> हिंदू हो या मुसलमान हो
> नीच रहेगा फिर भी नीच;
> मनुष्यत्व सबसे ऊपर है
> मान्य महीमंडल के बीच।

ठीक यही भाव गुरुवरों का था। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने भी गुरुओं की इस साम्य-बुद्धि तथा उनके अन्य आध्यात्मिक गुणों का दिग्दर्शन निपुणता के साथ किया है।

पुस्तक के उपोद्घात से प्रतीत होता है कि सुयोग्य खन्नाजी का इस पुस्तक को लिखने का एक मुख्य प्रयोजन इस बात को सिद्ध करना भी है कि गुरु लोग हिंदू थे और हिंदू-धर्म की रक्षा के लिये ही उन्होंने अपने जीवन की अमूल्य घड़ियों का उपयोग किया। इसके परिणाम-स्वरूप सिक्ख भी वस्तुतः हिंदू हैं और उन्हें पृथक् जाति सिद्ध करने का जो निष्फल प्रयत्न स्वार्थी देशी तथा विदेशी व्यक्तियों द्वारा किया जाता है वह सर्वथा निराधार है। मेरी दृष्टि में लेखक को इस उद्देश्य की सिद्धि में पूर्ण सफलता मिली है। वस्तुतः इस तथ्य को छिपाया भी नहीं जा सकता। जिस गुरुमाला के प्रशंसनीय हीरे श्रीगुरु तेगबहादुरजी ने "त्राहि मां त्राहि मां" करके विलखते हुए ब्राह्मणों को सांत्वना देते हुए उनके द्वारा—

हैं तेगबहादुर जगत उजागर ताको आगुर तुरक करो।
तिस पाछे तब ही हम फिर सब हो बन हैं अब ही तुरक भरो॥

इस प्रकार के वीरजनोचित संदेश को औरंगजेब के पास पहुँचाया और जब बादशाह ने बुलाकर उनसे मुसलमान हो जाने के लिये कहा तब जिस महान् शक्ति ने—

यह सुन पुन गुरु कह्यौ भै न हमै करो।
हो धर्म हेत अब जान देण ते नह डरो॥
अब हम शिर ना देहैं शिर निज देहँगे।
आदि गुरु का वचन सुफल कर लेहँगे॥
शिर मम न कट्यो न जैह जर तुव कटेंगी।
हो हिंदू धर्म के काज आज मम देह लेटेगी॥

इस प्रकार ओजस्विनी भाषा में अपने को हिंदू-धर्म के निमित्त न्यौछावर कर दिया हो उसे हिंदू-जाति की संपत्ति कहने में कौन संकोच करेगा? जिन महानुभाव के दो लाडले बेटों ने हिंदू-धर्म छोड़ना अच्छा नहीं समझा वरन् मृत्यु का आलिंगन करना अच्छा

समझा तथा जिन्होंने स्वयं देवी का यज्ञ किया, राम, कृष्ण, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की आराधना की, उनके चरित्रों का मनन किया तथा स्वयं उनके चरित्रों का अनुकरण करते हुए अपने अनुयायियों को वैसा करने की प्रेरणा की उन वीरता की साक्षात् मूर्ति दशम गुरु श्रीगोविंदसिंहजी को कौन हिंदू न कहेगा? प्रायः सभी गुरुओं की कविता में राम-कृष्ण आदि हिंदू देवताओं की आराधना की गई है। लेखक ने जहाँ गुरुओं की वाणी के नमूने दिए हैं वहाँ से इस प्रकार के कई उदाहरण प्राप्त किए जा सकते हैं।

पुस्तक का नाम एक विवादास्पद विषय प्रस्तुत करता है। प्रायः लोग यही समझते हैं कि सिक्खों के दस गुरु हुए हैं। सिक्खों में नामधारी सिक्खों को छोड़कर शेष सब दस ही मानते हैं। इस प्रकार की धारणा का आधार श्रीगुरुगोविंदजी कृत यह वचन कहा जाता है—

"आज्ञा भई अकाल को तभी चलायो पंथ।
सब सिक्खों को हुक्म है गुरू मानिए ग्रंथ॥"

दूसरे पक्षवाले अर्थात् द्वादश गुरु माननेवाले अपने पक्ष में "जन्म-साखी" का यह लेख प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करते हैं—"भाई अजितिआ बारवाँ जामा जद गुरु होवेगा, निरलंभ सबते निरलेप, सब दुनियाँ ते न्यारा रहेगा अते आपको जनायगा नहीं और निर-मोह होवेगा और आसरा जो लवेगा, इक अकाल पुरख का लवेगा ते तिसको कोई लख न सकेगा। सूली शब्द उचारेगा और शब्द कमायगा और जो सिक्ख होवनगे तिनको बी शब्द ही दस्सेगा।"

इसके अतिरिक्त "सौ साखी" नामक ग्रंथ में इस प्रकार का लेख है—

"रिलपुर बीच बाढ़ी सुत होई। बलुआ राज करेगा सोई॥
रामसिंह मेरा होइ नामा। बाढ़ी सुत भैणी को धामा॥

रामसिंह उठे नीचन डरै। अवनी एक रसौदी करै॥" इत्यादि।

"पंथ-प्रकाश" में लिखा है कि ग्यारहवें गुरु बालकसिंहजी को दसवें गुरु श्री गोविंदसिंहजी ने दर्शन देकर कहा था कि—

"मेरो अवतार अंस रामसिंह है भरै"।

भिन्न भिन्न पुस्तकों में निहित इन भविष्यद्वाणियों से तथा गुरु बालकसिंहजी और गुरु रामसिंहजी की अलौकिक प्रतिभा एवं अद्भुत कृत्यों से उन्हें बारह गुरुओं में स्थान देना एकाएक अनुचित नहीं कहा जा सकता। परंतु फिर भी जैसा कि लेखक ने लिखा है—हठ की बात नहीं, सोचने की बात है। उन्होंने जो प्रमाण उपस्थित किए हैं वे महत्त्व रखते हैं और विचारणीय हैं। आशा है कि विचारवान् पुरुष प्रामाणिक ग्रंथों तथा उक्तियों के आधार पर इस विषय पर प्रकाश डालकर इसे विशद करेंगे।

सामूहिक दृष्टि से अपनी कृति की रोचकता तथा सफलता पर लेखक सर्वथा हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

विष्णुदत्त कपूर

---

(८) राजपूताने के जैन वीर

इस ग्रंथ के लेखक हैं श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय। इसमें राजपूताने के प्रमुख राज्यों के निवासी जैन वीरों से संबंध रखनेवाली घटनाओं का अच्छा वर्णन किया गया है और उनकी कहानियों में चित्ताकर्षण लाने का सफल प्रयास हुआ है। दोहों, शेरों आदि को देकर उन्हें विशेष मनोरंजक भी बना दिया गया है। पुस्तक का आवश्यक से कुछ अधिक अंश इधर उधर की बातों से भर दिया गया है पर हैं वे भी उपयोगी। जैन वीरों के जीवन-संबंध में छानबीन की गई है पर वह काफी नहीं है। सहायक ग्रंथों

की सूची देखने ही से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। गंभीर इतिहास-ग्रंथों में कविता, शायरी की पुस्तकों की सहायता लेने के बदले मूल पुस्तकों की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह अवश्य है कि पुस्तक की लेखन-शैली अच्छी और हृदयग्राहिणी है। पुस्तक केवल जैन ही नहीं प्रत्युत हिंदू मात्र के लिये संग्रहणीय है। इसमें ऐतिहासिक घटनाएँ कहानी के रूप में कही गई हैं और इस कारण गोयलीयजी का यह प्रयास प्रशंसनीय है। पुस्तक सचित्र है। पृष्ठ-संख्या ३५० होते हुए भी मूल्य २) रु० है।

व्रजरत्नदास

———

(१६) प्राचीन भारत के न्यायालय

[लेखक—श्री वृंदावनदास बी० ए०, एल्-एल० बी०, मथुरा]

भारतवर्ष में अति प्राचीन काल में भी जनता में प्रचलित प्रथाओं और नियमों का राज्य द्वारा यथेष्ट सम्मान एवं रक्षण होता था। यह कहने में कदापि अत्युक्ति न होगी कि जनता की विविध संस्थाओं के नियम ही राजकीय नियमों के आधार थे। ऋग्वेद में भी जनता में प्रचलित प्रथाओं और नियमों का महत्त्व माना गया है। इससे स्पष्ट है कि स्मृतियों में इस महत्त्व का उल्लेख श्रुतियों के आधार पर ही है।

गौतम का कथन है—"देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्। कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे॥" अर्थात् देश, जाति, कुल के नियम जो कि शास्त्रों के विरुद्ध नहीं हैं प्रमाण-स्वरूप समझे जाने चाहिएँ। कृषक, व्यापारी, पशुपाल, साहूकार और कारीगरों को अपने अपने लिये (नियम आदि बनाने का अधिकार है)।

मनुस्मृति में लिखा है कि धर्मात्मा राजा को जाति, जनपद (नगर), श्रेणी (व्यापारी वर्ग), कुल आदि का धर्म (Law) जानकर ही न्याय करना चाहिए[1]। जो धर्म सज्जनों, धार्मिकों अथवा द्विजातियों द्वारा आचरित हो और जो देश, कुल और

---

(१) जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥
—मनुस्मृति—अध्याय ८, श्लोक ४१।

जाति के विरुद्ध न हो राजा को उसी धर्म की स्थापना करनी चाहिए[1]।

मनु के उपर्युक्त दो श्लोक उस आदर्श सम्मान का उल्लेख करते हैं जो कि एक राजा द्वारा जनता के नियमों के प्रति किया जाता था। स्मृतिकारों के प्रमाणों के आधार पर प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी अपनी पुस्तक Local Government in Ancient India के पृष्ठ १२६ पर लिखते हैं—"स्पष्ट है कि राजा को स्थानीय संस्थाओं द्वारा निश्चित किए हुए नियमों का पालन करना पड़ता था तथा ऐसा किसी प्रकार संभव न था कि राजा उपर्युक्त नियमों के विरुद्ध अपना निर्णय कर सके। हाँ, यह बात अवश्य देखी जाती थी कि संस्था-विशेष के नियम श्रुतियों के प्रतिकूल तो नहीं हैं।

पराजित जातियों का धर्म, नियम आदि विजेताओं द्वारा सुरक्षित रखे जाते थे। आपस्तंब और बौधायन ने भी क्रमशः 'एतेन देशकुलधर्मा व्याख्याताः' तथा 'तत्र तत्र देशप्रमाण्येमेव स्यात्' आदि कहकर प्रजा-धर्म के महत्त्व को स्थिर रखा है।

वशिष्ठ ने भी मनु की सम्मति को इस प्रकार दुहराया है—"देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् श्रुत्यभावादब्रवीन्मनुः"। अर्थात् श्रुतियों के अभाव में देशधर्म, जातिधर्म एवं कुलधर्म ही मान्य है। इस प्रकार के प्रजाधर्म के अनुसार राजा स्वयं आचरण करता था तथा जनता द्वारा भी उन नियमों का पालन कराता था[2]। प्रजा द्वारा निर्मित

---

(१) सद्भिराचरितं यत्स्यात् धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत्॥
—मनुस्मृति—अध्याय ८, श्लोक ४६।

(२) देशधर्मजातिधर्मकुलधर्मान् सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्।

नियमों को अथवा प्रजा में प्रचलित प्रथाओं को 'समय' कहते थे। 'समय' अक्षरशः उस प्रस्ताव को कहते थे जो एक समिति में निश्चित हुआ हो। सम + √इ = समय।

नारद ने राजा को व्यवसायियों, वेद-मार्ग-विरोधियों, श्रेणी और पूग के सदस्यों, ज्ञाति-संबंधियों तथा गणों में प्रचलित 'समय' की (ग्राम में हो अथवा नगर में) रक्षा करने को कहा है[1]।

मनु ने स्पष्ट लिखा है कि एक धर्मात्मा राजा को 'समय' के तोड़नेवालों को ग्राम और जाति में प्रचलित दंड-विधि के अनुसार दंड देना चाहिए[2]।

न्याय-सभाएँ चार प्रकार की होती थीं[3]—(१) प्रतिष्ठिता, (२) अप्रतिष्ठिता, (३) मुद्रिता और (४) शासिता।

प्रतिष्ठिता नगर अथवा ग्राम में बैठती थी। अप्रतिष्ठिता चलती-फिरती सभा थी। मुद्रिता का अध्यक्ष एक न्यायाधीश होता था। शासिता का अधिपति स्वयं राजा होता था[4]।

नारद के कथनानुसार कुल, श्रेणी, गण, पूग और राजा ये पाँचों न्यायकर्त्ता थे। कुल सबसे निम्न श्रेणी की अदालत होती थी। कुल की अपील श्रेणी में होती थी। श्रेणी व्यापारियों

---

(१) पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु।
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा॥
—नारद १०-२।

(२) एतद्दण्डविधिं कुर्याद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्॥
—मनुस्मृति—अध्याय ८, श्लोक २२१।

(३) प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठिता मुद्रिता शासिता तथा।
चतुर्विधा सभा प्रोक्ता सभ्याश्चैव तथाविधाः॥

(४) प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामे चला नामाप्रतिष्ठिता।
मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता॥

अथवा कारीगरों की एक समिति होती थी जो भिन्न भिन्न जाति के होते थे परंतु धंधा एक ही प्रकार का करते थे[१]। पूग वह अदालत होती थी जिसके सदस्य भिन्न भिन्न जाति एवं वृत्ति के होते हुए एक ही स्थान के निवासी होते थे[२]।

श्रेणी की अपेक्षा पूग अधिक महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि श्रेणी की भाँति पूग एक ही प्रकार के व्यवसायियों की संस्था न थी। पूग में विभिन्न जाति और वृत्ति के सदस्य थे।

याज्ञवल्क्य ने भी चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है; यथा—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥

उपर्युक्त चारों न्यायालय (कुल, श्रेणी, गण और पूग) बड़े लोक-प्रिय थे। ये 'साहस' (Violent) कर्मों के अतिरिक्त सब मामलों पर निर्णय करते थे।

इन अदालतों की लोक-प्रियता का कारण शुक्रनीतिसार में बड़ी स्पष्टता से व्यक्त है। शुक्राचार्य कहते हैं कि जिस स्थान अथवा वर्ग का विवाद हो उसमें उसी स्थान अथवा वर्ग के गण्य मान्य व्यक्ति ही उसके सर्वश्रेष्ठ निर्णायक हो सकते हैं। उनका कथन है कि वनवासियों द्वारा वनवासियों के, व्यवसायियों द्वारा व्यवसायियों के तथा सैनिकों द्वारा सैनिकों के झगड़े का और ग्रामवासियों की सहायता द्वारा ग्राम में हुए विवादों का निर्णय कराना चाहिए[३]।

---

(१) मिताक्षरा टीका में लिखा है—श्रेणयो नानाजातीनामेकजातीय-कर्मोपजीविनां संघाताः।

(२) पूगाः समूहा भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनामेकस्थाननिवासिनां यथा ग्रामनगरादयः।

(३) अभियुक्ताश्च ये तत्र यन्निबंधनियोजनाः।
तत्रस्थगुणदोषाणां त एव हि विचारकाः॥.

बृहस्पति ने तो और भी अधिक विस्तृत रूप से जनता द्वारा न्याय-शासन की योजना की है। वे कहते हैं कि कृषकों, शिल्पकारों, कर्मचारियों, साहूकारों, व्यापारियों, नर्तकों, संप्रदायवालों (लिंगिनः) और तस्करों (चोरों) को अपने विवादास्पद विषय अपने धर्म (कायदे क़वानीन) के अनुसार ही निर्णीत कर लेने चाहिएँ[1]।

इसी प्रकार मनु ने भी, स्थानीय साक्ष्य का वर्णन कर, न्याय-शासन में प्रजा के हस्तक्षेप का स्पष्ट उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि साक्षी के अभाव में सीमा-निर्णय के विषय में चारों दिशाओं में रहनेवाले चारों व्यक्तियों का साक्ष्य लेना श्रेष्ठ है।

स्थानीय न्यायालय दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुक़द्दमों का निर्णय करते थे। कौटिलीय ग्रंथों में यत्र तत्र इन अदालतों का उल्लेख मिलता है।

प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता श्री काशीप्रसादजी जायसवाल ने बड़ी विशद खोज के बाद भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि हिंदू शास्त्रों में प्रजातंत्र के सिद्धांत भरे पड़े हैं। इसी प्रकार श्रुतियों एवं स्मृतियों में खोज करने से न्याय-शासन में जनता का पूर्ण अधिकार तथा प्रतिनिधित्व भली भाँति परिलक्षित होता है।

आरण्यास्तु स्वकैः कुर्युः सार्थिकाः सार्थिकैः सह।
सैनिकाः सैनिकैरेव ग्रामेऽप्युभयवासिभिः॥
—शुक्रनीति—४, ५, २३-२४।

(१) कीनाशाः कारुकाः शिल्पिकुसीदिश्रेणिनर्तकाः।
लिंगिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम्॥
—वीरमित्रोदय।

(१७) 'जायसी' का जीवन-वृत्त

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय एम० ए०, काशी]

ग्रियर्सन साहब एवं पंडित सुधाकर द्विवेदी ने मलिक मुहम्मद जायसी के उद्धार की जो चेष्टा की थी उसके विषय में श्रद्धेय शुक्लजी का कथन है—"इसी प्रकार की भूलों से टीका भरी हुई है। टीका का नाम रखा गया है 'सुधाकर-चंद्रिका'। पर यह चंद्रिका है कि घोर अंधकार! अच्छा हुआ कि एशियाटिक सोसाइटी ने थोड़ा सा निकालकर ही छोड़ दिया[1]।" इस घोर अंधकार से प्रकाश में लाने के लिये "प्रत्येक पृष्ठ में असाधारण या कठिन शब्दों, वाक्यों और कहीं कहीं चरणों के अर्थ फुटनोट में बराबर दिए गए हैं जिससे पाठकों को बहुत सुभीता होगा। इसके अतिरिक्त, मलिक मुहम्मद जायसी पर एक विस्तृत निबंध भी ग्रंथारंभ के पहले लगा दिया गया है जिसमें मैंने कवि की विशेषताओं के अन्वेषण और गुण-दोषों के विवेचन का प्रयत्न अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार किया है[2]।" प्रस्तुत अवतरण से स्पष्ट है कि शुक्लजी ने पाठकों को, जायसी के 'जीवन-वृत्त' के लिये, उसी घोर अंधकार में छोड़कर केवल 'कवि की विशेषताओं के अन्वेषण और गुण-दोषों के विवेचन का प्रयत्न' किया है। शुक्लजी की उस उपेक्षा की पूर्ति आज तक न हो सकी। कुछ दिन पहले यह बात रायबहादुर लाला सीताराम को सूझी। उन्होंने

उपोद्घात

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, नागरी-प्रचारिणी सभा, वक्तव्य, पृ० ४

(२) जायसी-ग्रंथावली, पं० रामचंद्र शुक्ल, नागरी-प्रचारिणी सभा; वक्तव्य, पृ० ८

जायसी के जीवन-वृत्त का अनुसंधान सरकारी ढंग पर आरंभ किया। उनके संशोधन की दामिनी दमककर फिर उसी घोर अंधकार में लुप्त हो गई। उक्त विद्वानों के अतिरिक्त जायसी के संबंध में जिन विद्वानों ने जो कुछ लिखा है उसका विशेष महत्त्व नहीं है। उनके प्रयत्न अनुसंधान नहीं, परिचय मात्र हैं।

पदमावत तथा अखरावट के परित: परिशीलन से जायसी के जीवन के विषय में जो कुछ पता चला वह प्रचलित जीवन-वृत्त से इतना भिन्न था कि हमें उसकी साधुता में सर्वथा संदेह होने लगा। 'पदमावत की लिपि तथा रचना-काल' नामक लेख में, प्रसंगवश कहीं कहीं हमने इस ओर संकेत भी कर दिया था। अपने विचारों की साधुता को पुष्ट करने तथा जायसी के जीवन से परिचित होने की लालसा से हमें अमेठी, जायस आदि उन स्थानों पर जाना पड़ा जिनसे मलिक मुहम्मद साहब का संबंध कहा जाता था। इसका परिणाम हमारे लिये बहुत ही सुखद हुआ। हमें विश्वास हो गया कि एक दिन हम जायसी की जीवनी लिखने में समर्थ हो सकते हैं। फिर भी, यह तभी संभव है जब हिंदी के दिग्गज इस ओर उचित ध्यान दें। उनके उद्बोधन के लिये ही यह हमारा अल्प प्रयत्न है। यदि इससे 'सुधाकर-चंद्रिका' के घोर अंधकार पर कुछ भी प्रकाश पड़ा, जायसी के जीवन-वृत्त का कुछ भी यथार्थ परिचय मिला तो यह चेष्टा फलवती होगी।

हमारा प्रयत्न

परंपरा से मलिक मुहम्मद को जायसी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे जायस के निवासी थे। इस सहज प्रतिज्ञा में एक कठिन अड़चन है जिसके कारण हिंदी के मर्मज्ञ इसको ठीक नहीं समझते। उनका कथन है कि "जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह

विद्वानों के मत

बखानू" से स्पष्ट है कि मलिक मुहम्मद कहीं बाहर से आकर जायस में बस गए थे। सुधाकरजी का कथन है—"इन्होंने कहीं बाहर से जायस में आकर पदुमावती को बनाया। बहुत लोग कहते हैं कि इनका जन्म-स्थान गाजीपुर है[1]।" मिश्रबंधुओं[2] ने इस विषय में सुधाकरजी का साथ दिया है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी[3] भी इसी मत से सहमत हैं। शुक्लजी[4] भी जनश्रुति के आधार पर एक प्रकार से इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदासजी[5] की भी यही राय है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंदी-संसार ने यह मान लिया है कि जायसी का जन्म-स्थान जायस नहीं था; वे अन्यत्र, संभवतः गाजीपुर, से आकर वहाँ बस गए थे। जायस में आने का कारण तथा समय यह है—"परंपरा से प्रसिद्ध है कि एक इनका चेला अमेठो (अवध) में जाकर इनका नाग-मती का बारहमासा गा गाकर भीख माँगा करता था। एक दिन अमेठी के राजा ने इस बारहमासे को सुना। उन्हें वह बहुत अच्छा लगा।......उन्होंने फ़क़ीर से पूछा—'शाहजी! यह दोहा किसका बनाया है?' उस फ़क़ीर से मलिक मुहम्मद का नाम सुनकर राजा ने बड़े सम्मान और विनय के साथ उन्हें अपने यहाँ बुलाया। तब से मलिक मुहम्मद जायस में आकर रहने लगे और वहीं पर इन्होंने पदमावत समाप्त की।"

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट अवगत होता है कि जायसी को अजायसी सिद्ध करने का मुख्य आधार "तहाँ आइ" पद्यांश ही है।

---

(१) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृ० १ भूमिका

(२) मिश्रबंधु-विनोद I, जायसी।

(३) कविता-कौमुदी I, जायसी।

(४) जायसी-ग्रंथावली, पृ० ७।

(५) संक्षिप्त पदमावत, पृ० ६।

उक्त जनश्रुति तो उसके पुष्टीकरण में प्रमाण ठहरती है। अस्तु, हमको इस पद्य की परितः परीक्षा करनी चाहिए। जायसी स्वयं जायस को धर्मस्थान कहते हैं; अपने आ बसने का कारण नहीं उपस्थित करते। इसमें भी कुछ रहस्य है। जायस आजकल एक मनहूस शहर माना जाता है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि स्वयं सैयद अशरफ साहब ने भी जायस को इसी कारण त्याग दिया कि वहाँ रहने से उनके भाव-भजन में विघ्न पड़ता था। कुछ भी हो, आजकल जायस के विषय में यह कहा जाता है—"जायस जाइस ना, जाइस तो रहिस ना, रहिस तो खाइस ना, खाइस तो सोइस ना, सोइस तो रोइस ना।" यही नहीं, उसको लोग 'बड़का शहर' के नाम से ही याद करते हैं, उसका नाम लेना उचित नहीं समझते। इसके संबंध में दंत-कथाएँ भी बहुत सी हैं। प्रचलित प्रवादों की उपेक्षा कर यदि हम जायस की व्याख्या पर ध्यान देते हैं तो भी उसमें किसी प्रकार की धर्म-भावना नहीं मिलती। यदि हम इसका वास्तविक रूप 'जैस' (جیش) मानते हैं तो इसका अर्थ पड़ाव या छावनी ठहरता है, यदि जा + ऐश (جاعیش) तो विलास-भवन और यदि जा + अस्त (جااست) मानते हैं तो भी इसमें किसी प्रकार रमणीयता तो आ जाती है, पर पवित्रता का बोध नहीं होता। जहाँ तक हम समझ सके हैं 'जायस' शब्द जायस को धर्मस्थान नहीं बना सकता। इसका रहस्य इसके इतिहास में छिपा है।

जायस

जायस का इतिहास

जायस एक अति प्राचीन नगर है। मुगलसराय-लखनऊ-रेलवे का एक स्टेशन भी इसी नाम से ख्यात है। शहर स्टेशन से तीन मील की दूरी पर है। मुसलमानों के आगमन के पहले यह रजभरों का एक मुख्य गढ़ था। इसकी परिस्थिति और रंग-ढंग इसके प्राचीन गौरव

के सूचक हैं। कहा जाता है कि अति प्राचीन काल में यह उद्दालक मुनि का निवास-स्थान था। उद्दालक मुनि उपनिषदों के एक प्रसिद्ध ऋषि हैं। उन्हीं के नाम पर इस नगर का प्राचीन नाम उद्दानगर था। यहाँ पर विद्या का बहुत प्रचार था; अतः इसको कुछ लोग विद्यानगर भी कहते थे। इस प्रकार इस शहर के प्राचीन नाम[1] उद्यानगर, विद्यानगर, उद्यान-नगर एवं उज्जालिक नगर भी मिलते हैं। यह नगर ठीक रामनवमी को महमूद गजनवी के शासन में आया। उसकी सेना यहाँ पर ठहरी रही और उसमें के बहुत से सिपाही यहीं बस गए। इस शहर के मुहल्लों का नाम भी यही सिद्ध करता है। कंचाना मुहल्ले से 'जायसी' का विशेष संबंध है। हकीम अहमद अशरफ का कहना है कि फारस में इस नाम की एक जगह है। कुछ भी हो, जायस इसी दृष्टि से धर्मस्थान कहा जा सकता है कि उसकी प्रतिष्ठा हिंदूकाल में धर्मरूप से थी। इस शहर में अब भी कुछ जैन बसते हैं, उनका मंदिर भी है। प्रतीत यह होता है कि मुसलमानों के बस जाने के कारण तथा उनके कुशल से न रह पाने के कारण भी इस शहर को उक्त बदनामी मिली। जायस की महत्ता का द्योतक उसका इतिहास[2] है। जायस अवश्य ही धर्म-स्थान था। उसमें अब भी एक आध हिंदू मंदिर हैं।

---

(१) Malik Mohammad Jaisi by Lala Sita Rama. All. U. Studies, Vol. VI, Part I, P. 325 (note).

(२) 'जायस का इतिहास' कई व्यक्तियों ने लिखा है। वह हिंदी तथा उर्दू में छप भी चुका है। आजकल जायस के सैयद आबेमुहम्मद बी० ए० जायस का एक बहुत ही अच्छा इतिहास, छान-बीन करके, लिख रहे हैं। आशा है, उसके प्रकाश में आने से बहुत सी बातों का पता स्पष्ट रूप से चल जायगा।

इस प्रकार जायस नगर को धर्म-स्थान सिद्ध करने के उपरांत अब यह विचार करना है कि 'तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू' का क्या अर्थ है। हिंदी के विद्वानों ने इस 'आइ' के आधार पर यह सिद्ध मान लिया है कि जायसी जायस के निवासी नहीं थे। कुछ दिन पहले हमारी भी यही धारणा थी। जायस में जाने पर, जायसी के जन्म-स्थान का पता चल जाने पर, इस पर विशेष ध्यान देना स्वाभाविक ही था। जायस के कतिपय विद्वानों ने हमारा समाधान किया, अथवा करने की चेष्टा की। उनका कहना था कि 'आइ' का अर्थ 'जन्म लेकर' है; सूफी लोग प्रायः इस प्रकार का प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में यह संतों के 'प्रकट होने' के समान है। जहाँ तक समझने की हममें क्षमता है, और सूफी साहित्य का जो कुछ अध्ययन हमने किया है, उसके आधार पर हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि उक्त दोनों अर्थ यथार्थ नहीं हैं। प्रथम अर्थ में आपत्ति यह है कि 'आइ' से सिद्ध यह किया जाता है कि जायसी जायस के रहनेवाले ही नहीं थे। जान पड़ता है कि किसी व्यक्ति के लिये अपने जन्म-स्थान से जाने-आने का प्रश्न ही नहीं रहता। कोई भी व्यक्ति अपने किसी कार्य के लिये यह कह सकता है कि अमुक स्थान, चाहे वह जन्म-स्थान ही क्यों न हो, पर आकर मैंने यह किया, वह किया। इस कथन से केवल यही निष्कर्ष निकालना उचित होता है कि उक्त-कथन उसका उसी स्थान का है। निदान उक्त पद्य से ध्वनित यही होता है कि उसकी रचना तथा 'बखान', चाहे जिस किसी का हो, जायसी जायस नगर में कर रहे हैं, अन्यत्र नहीं। जायसी कहीं यात्रा में गए थे, वहाँ से आकर उन्होंने जायस में बखान किया। क्या बखान किया ? यह भी एक प्रश्न है जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है।

'तहाँ आइ' की समीक्षा

पंडित सुधाकर द्विवेदी का मत है "तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" से स्पष्ट है कि इन्होंने कहीं बाहर से जायस में आकर पदुमावती को बनाया[1]।" पंडित रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं—"स्पष्ट है कि ये कहीं बाहर से जायस में आए और वहाँ इन्होंने पद्मावत लिखी[2]।" कहने का आशय यह है कि हिंदी में यह मान्य हो गया है कि जायसी ने पदमावत का ही बखान किया। हमारी अल्प बुद्धि में इस 'बखान' का संबंध समूचे पदमावत से नहीं है। कारण यह है कि जायसी ने प्रस्तुत पद्य के अनंतर आगे चलकर लिखा है—"आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै।" जायसी पहले कहते हैं—"तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" फिर बाद में कहते हैं—"लिखि भाखा चौपाई कहै"। जायसी के इस 'कीन्ह' और 'कहै' के, भूत और वर्त्तमान के विरोध पर विद्वानों ने ध्यान ही नहीं दिया, फिर वे बखान का संबंध पदमावत से क्यों न जोड़ लेते। पदमावत के स्तुति-खंड के इस विरोध की मीमांसा हमने 'पदमावत की लिपि तथा रचना-काल' नामक लेख में यथाशक्य की है। यहाँ पर हमको केवल यही कहना है कि इस 'बखान' का संबंध पदमावत से कदापि नहीं है। बखान का सामान्य अर्थ वर्णन करना है; किंतु यह वर्णन प्रशंसात्मक ही होता है। जायसी ने इस स्तुति-खंड में शेरशाह, सैयद अशरफ जहाँगीर तथा उनके वंश, मानिकपुर-वंश, अपना तथा अपने मित्रों का बखान किया है। जायसी अपने मित्रों के विषय में कहते हैं—"मुहमद चारिउ मीत मिलि, भए जो एकै चित्त। एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरन कित्त[3]।" ठीक इसी दोहे के उपरांत प्रस्तुत पद्य

'कीन्ह बखानू' का संबंध

(१) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, भूमिका
(२) कविता-कौमुदी I, जायसी।
(३) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

"जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" है। फिर, हमारी समझ में नहीं आता कि इसका संबंध संपूर्ण पदमावत से किस न्याय से संगत है ? उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि 'तहाँ आइ' का अर्थ न तो जायसी के जन्मस्थान पर प्रकाश डालता है, और न उनके 'बाहर से आकर जायस में बस' जाने पर।

इतना निवेदन करने के उपरांत हम यह आवश्यक समझते हैं कि 'तहाँ आइ' के रहस्य का उद्घाटन करें। जायसी के दोहे "दीन्ह

'तहाँ आइ' का रहस्य

असीस मुहम्मद, करहु जुगहि जुग राज।
बादशाह तुम जगत के, जग तुम्हार मुहताज[1]॥"

पर विचार करते समय हमने लिखा था—"जान पड़ता है कि जायसी हमारी आँखों के सामने हो शेरशाह को हाथ उठाकर आशीर्वाद दे रहे हैं। इस 'दीन्ह' तथा 'तुम' पर ध्यान दीजिए।" कहा जाता है कि जायसी दिल्ली गए थे और वहीं पर, शेरशाह के दरबार में, उन्होंने अपने प्रसिद्ध वचन "मटियहिं हँसेसि कि कोहरहिं[2]" का उद्घोष किया था। "हमारा अनुमान यह है कि इस राज्याभिषेक (ता० ७ शव्वाल सन् ९४८ हि०) के उपरांत ही जायसी ने शेरशाह की वंदना की और उसको पदमावत में स्थान दिया।" इस दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित हो जाता है कि "तहाँ आइ" का अर्थ

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

(२) हिंदी-संसार में इसका पाठ "मोहि कां हँसेसि कि कोहरहि" के रूप में विख्यात है। पर हमें सर्वत्र उक्त पाठ ही सुनने में आया। विचार करने पर ठीक भी यही समझ पड़ता है। जायसी के कहने का आशय यह था कि जो कुछ तुम देख रहे हो वह 'खाक का पुतला' है, जिसका बनानेवाला 'खुदा' है। अब या तो तुम मिट्टी को हँस सकते हो या ईश्वर को। किसी को भी हँसना व्यर्थ है। रही हमारी बात। वस्तुतः हम आप एक ही हैं, अतः अपने आप पर हँस किस प्रकार सकते हैं ? हमारी दृष्टि में जायसी सा सच्चा सूफी अपने को शरीर नहीं समझ सकता था, वह शरीरी था।

क्या है। सच बात तो यह जान पड़ती है कि जायसी ने दिल्ली से जायस में आकर उक्त बखान किए; जो किसी प्रकार से परंपरा के प्रतिकूल नहीं कहे जा सकते। आज भी इस ढंग की बातें देखने में आती हैं। प्रस्तावना ग्रंथ के समाप्त होने पर भी लिखी जाती है, उसमें हेर-फेर होते ही रहते हैं।

हमने यह अच्छी तरह देख लिया कि "तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू" के आधार पर हम यह नहीं सिद्ध कर सकते कि जायसी का जन्म-स्थान जायस नहीं था। यदि यह बात

गाजीपुर, जन्म-स्थान

यहां तक होती तो कुछ हानि नहीं थी। कहा तो यहाँ तक गया है कि जायसी का जन्म-स्थान गाजीपुर था। इस कथन को पुष्ट करने के लिये यह प्रमाण दिया जाता है कि जायसी के मित्रों में दो ऐसे थे जिनका संबंध भोजपुर और गाजीपुर के महाराज जगतदेव से था। मियाँ सलोने को सलोनेसिंह भी कर दिया गया है। ग्रियर्सन[1] साहब का तो यहाँ तक कहना है कि उक्त महाशयों की जीवन-लीला गोरखपुर में विषैले आम के अति-भक्षण के कारण समाप्त हो गई; किंतु मलिक मुहम्मद किसी प्रकार बच गए। चटगाँव की ओर ठीक इसी ढंग की एक मनोरंजक कथा प्रचलित है, जिसको प्रायः 'सत्यपीर' के उपासक गाते हैं। इस कथा में मृत्यु का कारण कटहल है, जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। संभवतः ग्रियर्सन साहब के इस भ्रम का आधार उक्त कथा ही हो। जायसी ने अपने मित्रों का परिचय अथवा उनका बखान इस प्रकार किया है—

"चारि मीत कवि मुहमद पाए। जोरि मिताई सिर पहुँचाए॥
युसुफ मलिक पंडित बहु ज्ञानी। पहिलै भेद बात वै जानी॥
पुनि सलार कादिम मतिमाहाँ। खाँडेदान उभै निति बाहाँ॥

---

(१) सटीक पदुमावती, कलकत्ता, भूमिका पृष्ठ २।

मियाँ सलोने सिँह बरियारू । बीर खेत-रन खड़ग जुझारू ॥
सेख बड़े, बड़ सिद्ध बखाना । किए आदेस सिद्ध बड़ माना ॥
चारिउ चतुरदसा गुन पढ़े । औ संजोग गोसाईं गढ़े ॥
'मुहमद' चारिउ मीत मिलि, भए जो एकै चित्त ।
एहि जग साथ जो निबहा, ओहि जग बिछुरन कित्त[1] ॥"

इस अवतरण से जो कुछ पता चलता है वह उक्त साहब का विरोधी है। ग्रियर्सन साहब के कथन से सिद्ध होता है कि जायसी के मित्र सलार कादिम और सलोनेसिंह उनके सामने ही मर चुके थे। संभवत: जायसी का संबंध अभी तक जगतदेव से ही था, अमेठी के राजा से नहीं। यदि यह ठीक है तो पदमावत के, अथवा उक्त बखान के पहले ही उक्त मित्रों का स्वर्गवास हो चुका था; क्योंकि प्रस्तुत पद्यों से पता लगता है कि उस समय सभी मित्र जीवित थे। जायसी को उनकी मित्रता में इतना संतोष था कि वे परलोक में भी उनके वियोग की कल्पना नहीं कर सकते थे। प्रसंग-वश इतना कह दिया। इतिहास की बात तो यह है कि उक्त सभी महानुभावों का निवास-स्थान जायस ही था। मियाँ सलोने मियाँ ही थे, सिंह नहीं। उनके भाई अथवा भतीजे सैयद प्यारे जायस के प्रथम जागीरदार थे। जायस के सभी जानकार आदमी उक्त व्यक्तियों से परिचित हैं; परिचय देने में कुछ भूल अवश्य करते हैं।

जायसी के गाजीपुरी होने का प्रबल प्रमाण अभी तक नहीं मिला। जो कुछ उसके पक्ष में कहा जाता है उसकी गति हमने देख ली। जायसी की भाषा क्या, पदमावत अखरावट आदि जायसी के किसी भी ग्रंथ से यह नहीं झलकता कि जायसी गाजीपुरी थे, जायसी नहीं। जिन लोगों ने मलिक मुहम्मद को अजायसी माना है उनका कथन है कि

जायस तथा अमेठी

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

अमेठी के राजा के अनुरोध से वे जायस में जाकर रहने लगे। सुधाकरजी[1] का कथन है—"निदान उस फकीर के कहने पर राजा ने अपने कई एक योग्य सरदारों को उसके साथ भेजकर बहुत विनय के साथ मलिक मुहम्मद को अपने यहाँ बुलाया; तब से यह जायस में रहने लगे और वहीं पर इन्होंने पदुमावती की रचना की।" अमेठी के तृतीय महाराजकुमार श्री रणंजयसिंहजी[2] से पता लगा कि जायस कभी अमेठी राज्य में नहीं था। स्वाभाविक तो यह था कि जायसी इस अवसर के उपरांत कहीं अमेठी राज्य या गढ़ के पास रहते न कि अन्य स्थान जायस में, जहाँ रजभरों का उपद्रव होता ही रहता था और जो मुसलमानों के हाथ में बहुत दिनों से था।

जी तो नहीं चाहता, पर बुद्धि यही कहती है कि जायसी के विषय में, उनके जीवन के संबंध में हिंदी-संसार में जो कुछ प्रचलित है वह निराधार अथवा मनगढ़ंत ही है। स्वयं सुधाकरजी का आदेश है—"साची राह सुधारिए, इतिहासन के मीत। काहे आग्रह करि वृथा, थापत कठिन कुरीत[3]।" अस्तु, हमें निस्संकोच सत्य का प्रतिपादन करना धर्म्य है। हम साहस के साथ पुष्ट प्रमाणों के आधार पर कह सकते हैं कि मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म-स्थान जायस ही था, गाजीपुर या अन्यत्र नहीं। जायस के कंचाना मुहल्ले का नाम ऊपर लिया जा चुका है; जायसी की जन्मभूमि यही मुहल्ला है। उनके घर का चिह्न अब

जायसी की जन्मभूमि

---

(१) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृष्ठ २।

(२) महाराजकुमार श्री रणंजयसिंहजी दद्दन साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं। आपको साहित्य तथा धर्म से विशेष प्रेम है। आपने अपनी वंशावली तथा पुस्तकालय देखने की आज्ञा ही नहीं, उन्हें देखने में सहायता भी दी। आपसे अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चला। आपने जायसी की हस्त-लिखित पदमावत के लिये चेष्टा की। खेद है, वह मकान ही गिर गया जिसमें वह रखी थी।

(३) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ६।

भी आदरणीय है। उनके वंश में एक वहीद नामक सज्जन हैं जिनका कहना है कि उनके पास उनका वंशवृक्ष है। उन्होंने उसकी प्रतिलिपि देने का वचन भी दिया था। खेद है कि वे उन संतानों में हैं जिनके विषय में रहीम ने कहा था—"बारे उजियारो करैं, बढ़े अँधेरो होय।" जायस के एक सज्जन ने खेद के साथ कहा था,—"जिस तरह मलिक साहब का खानदान बरबाद हुआ उस तरह खुदा करे दुश्मन का भी न हो।"

जायसी के पूर्वज

मलिक शब्द भी जायसी शब्द की तरह ही पेचीदा है। लाला सीताराम ने उसकी विशद व्याख्या की है। इस व्याख्या का परिणाम भयंकर है। आपका कथन है—"He was evidently the descendant of a Hindu convert and had received, as will be shown afterwards, a Sufi training."[१] लाला साहब ने मलिक मुहम्मद जायसी के किसी पूर्वज को हिंदू कहा है। उन्होंने इस बात को स्पष्ट नहीं किया है कि उनके कथन का आशय क्या है। संभवतः जायसी के बाप-दादा से ही उनका तात्पर्य है। यदि ऐसा न मानें तो इसका कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता। भारत के बाहर से आनेवाले मुसलमानों के पूर्वज भी हिंदू, बौद्ध तथा अन्यधर्मावलंबी थे। लालाजी की कल्पना कहाँ तक ठीक है यह कहना कठिन है। लालाजी इसको सिद्ध सा समझते हैं। उनके समझने का कारण पर्याप्त नहीं है। जिन दो व्यक्तियों को उन्होंने जायसी के विषय में छानबीन करने के लिये तैनात किया था, उनके विवरण में भी इस बात का संकेत नहीं है कि जायसी के बाप-दादा क्या थे, कब मुसलमान हुए। लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि जायसी के पूर्वज बाहर से भारत में आए। इस विषय की समुचित मीमांसा

(१) All. U. Studies, Vol. VI, Part I, P. 333.

इस समय नहीं हो सकती। मुसलमानों में यह बात विशेष रूप से देखी जाती है कि वे अपना संबंध अन्य देशों से ही स्थापित करना चाहते हैं। जो वस्तुतः हिंदू से मुसलमान हुए हैं—भारतीय वंश-परंपरा में हैं—वे भी अपने को अरब और तुर्क ही सिद्ध करते हैं। इस संबंध में हमें केवल इतना ही कहना है कि केवल मलिक शब्द के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि मलिक मुहम्मद जायसी के पूर्व-पुरुष हिंदू से मुसलमान हुए थे। लाला साहब स्वयं स्वीकार करते हैं कि गोंडा तथा फैजाबाद में मलिक उपाधिधारी अहीर हैं। मलिक शब्द का प्रयोग अन्यत्र किसी भी अर्थ में रहा हो, उससे हमारा विशेष संबंध नहीं, भारत में तो उसका प्रयोग १२ या १२०० सिपाहियों के मालिक के लिये ही होता था। मलकाना मलिक शब्द से भिन्न है। उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि मलिक उपाधिधारी मुसलमान कभी हिंदू थे। आज भी बहुत से हिंदू मलिक कहलाते हैं। इस शब्द को चौधरी शब्द की भाँति उभयनिष्ठ या खाँ शब्द का समकक्ष समझना चाहिए, जिसका प्रयोग कभी कभी हिंदुओं के लिये भी परंपरागत है। मलिक उपाधि जायसी के सम्मान के लिये नहीं है, जैसा कि विनोदकार मानते हैं; यह उनकी बपौती है, उनके वंश के लोग सदा से मलिक कहे जाते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी वस्तुतः जायस के रहनेवाले थे। उनका जन्म-स्थान भी जायस का कंचाना मुहल्ला ही है। जायसी का

जायसी के अवशिष्ट

अर्थ ही इस बात का प्रमाण था, फिर भी हमने विपक्ष की समीक्षा करते समय इस बात को पुष्ट करने की चेष्टा की है कि जायसी का जन्म-स्थान अन्यत्र नहीं था, उनके मित्र भी जायस ही के रहनेवाले थे। अमेठी, जायस आदि स्थानों में प्रसिद्ध भी यही है। जायस में उनके घर का अव-

शिष्ट अब भी बताया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह बात मनगढ़ंत नहीं है; क्योंकि यदि आप उनसे उनके कथन की साधुता में संदेह कीजिए तो वे यही उत्तर देते हैं कि खुदा जाने हम लोग तो यही सुनते आ रहे हैं। उनकी ओर से किसी प्रकार का आग्रह नहीं होगा। उनके वंशज वहीद की भी यही दशा है। वे आज भी जायस में मलिक नाम से ख्यात हैं और उसी कंचाना मुहल्ले में पुराने घर के पास ही रहते भी हैं। खेद यही है कि उनसे कुछ काम नहीं निकल सकता। उनका कहना है कि मलिक मुहम्मद ने अपने वंशजों को पदमावत पढ़ने की आज्ञा नहीं दी। निदान उनके पास वंशावली को छोड़कर और कुछ भी सामग्री ऐसी नहीं है जिससे जायसी के जीवन पर प्रकाश पड़े। जायस में इस विषय के ज्ञाता अशरफ वंश के लोग ही हैं। उनसे मलिक मुहम्मद जायसी के विषय में जो कुछ पता चला उसी के आधार पर अब हम जायसी के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं। जायस के सज्जादानशीन नकी साहब ने जायसी के विषय में कुछ लिपिबद्ध किया है। उनकी पुस्तक फारसी में है और अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी है। उसकी सहायता ही इस समय प्रधान है। जायसी के संबंध में जो कुछ प्रचलित अथवा लिपिबद्ध है उसकी समुचित समीक्षा उनके ग्रंथों तथा इतिहास के आधार पर करना ही श्रेय है।

अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उससे यह तो स्पष्ट अवगत हो गया होगा कि जायसी जायस के कंचाना मुहल्ले में उत्पन्न हुए थे। उनके जन्म-काल के विषय में किसी को कुछ पता नहीं है। जायस में भी इस विषय की जानकारी किसी को नहीं है। ऐसी परिस्थिति में जायसी के ग्रंथों में ही उनके जन्म की छानबीन हमने आरंभ की। जायसी

जायसी की जन्म-तिथि

का एक ग्रंथ है 'आखिरी कलाम[1]'। इसमें उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—"भा अवतार मोर नव सदी। तीस बरख ऊपर कवि बदी।" इससे स्पष्ट है कि जायसी का जन्म सन् ८३० हि० में हुआ था। उनका जन्म-स्थान कहाँ था? इसके विषय में उन्होंने जो "जायस नगर धरम-अस्थानू" कहा था उसका विवेचन हम कर चुके हैं। अन्यत्र[2] भी जायसी उसी का प्रतिपादन करते हैं। उनका आग्रह है—"जायस नगर मोर अस्थानू। नगर को नावँ आदि उदियानू॥ तहाँ दिवस दस पहुँने आयउँ। भा बैराग बहुत सुख पायउँ॥" इसमें संदेह नहीं कि जायसी अपना स्थान जायस ही स्वीकार करते हैं और उसके प्राचीन नाम का परिचय भी देते हैं; किंतु जो लोग हेतुवाद के कट्टर पक्षपाती हैं वे कह सकते हैं कि जायसी तो यहाँ भी 'आयउँ' का प्रयोग करते हैं, अतः वे कहीं अन्यत्र से आकर यहाँ बस गए थे। निवास-स्थान हो जाने पर जायस उनका स्थान बना। उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि यहाँ जायसी के आने का कारण अमेठी के राजा की प्रेरणा नहीं है। यही नहीं, उनकी भावना भी इस स्थल पर सांसारिक नहीं है। वे कहते हैं—

"सुख भा सोच एक दुख मानूँ। वहि बिन जीवन मरन कै जानू॥
नैन रूप सों गयउ समाई। रहा पूर भर हिरदय छाई॥
जहाँ वै देखौं तहँ वै सोई। और न आव दिष्ट तर कोई॥
आपन देख देख मन राखौं। दूसर नाँव सो कासों भाखौं॥"

अस्तु, उक्त 'आयउँ' का अर्थ विचारपूर्वक लगाना चाहिए। जायसी का तात्पर्य "पहुँने आयउँ" से जायस में जन्म लेने का ही है। 'दिवस दस' का अर्थ यहाँ पर वही है जो 'दस दिन की जिंदगी'

---

(१) आखिरी कलाम, पृ० ४।
(२) आखिरी कलाम, पृ० ११।

में दस दिन का। जायसी ने अपने वैराग्य तथा विरह का वर्णन स्पष्ट कर दिया है, फिर संदेह कैसा ?

जायसी जायस में जनमे और वहीं फूले-फले। उनके माता-पिता सामान्य श्रेणी के गृहस्थ थे। कहा गया है कि उनके पिता का देहांत अल्पकाल ही में हो गया था। जायसी की एक आँख बचपन में शीतला से जाती रही। मकनपुर के मदारशाह की मनौती पूरी करने के पहले ही उनकी माता भी उनको अनाथ छोड़कर चल बसीं। जायसी सूफी फकीरों के साथ रहने लगे। यही हिंदी संसार का जायसी-संबंधी संक्षिप्त परिचय है, जो केवल अनुमान पर अवलंबित है। इधर लाला सीतारामजी शीतला की कथा के साथ ही साथ उनके काने होने को भी असत्य ही समझते हैं। कारण, न तो वे स्वयं पदमावत का अध्ययन करना चाहते हैं और न जायस में जाकर छान-बीन करना ही। जायसी के काने होने का पदमावत में स्पष्ट उल्लेख है—"एकनयन कवि मुहमद गुनी[१]" अथवा "मुहमद बाईं दिसि तजा एकनयन अरु कान[२]।" आँख जाने के विषय में शुक्लजी का मत मान्य है, सुधाकरजी या त्रिपाठीजी का नहीं। जायसी के काने होने में जायस या रायपुर (अमेठी) में भी किसी को संदेह नहीं है। हाँ, बहरे होने के संबंध में वे कुछ नहीं कहते। उनके कुरूप होने का प्रमाण 'मटियहिं हँसेसि कि कोहरहि' प्रसिद्ध ही है। प्रश्न केवल यही है कि उनकी इस विशेष कुरूपता का कारण क्या है। शाह नकी साहब का कहना है कि जायसी की कुरूपता का कारण अर्धांग रोग है। कुछ लोगों का विचार है कि जन्म से ही वे कुरूप थे। जायसी ने 'बाईं दिसि तजा' का प्रयोग किया है। इस 'तजा' के अनुरोध

जायसी के संबंध की कुछ बातें

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।
(२) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ६।

से कहा जा सकता है कि उनकी यह दशा जन्म-काल से न थी। जायसी ने बड़ी चातुरी एवं चमत्कार से इसका निर्देश किया है। उनको वाममार्ग इतना अनिष्ट था कि उन्होंने बाएँ कान एवं आँख को त्याग दिया। शीतला की अपेक्षा अर्द्धांगरोग से आक्रांत व्यक्ति में हास की सामग्री अधिक होती है। यदि यह ठीक है तो जायसी की अष्टावक्र-दशा का कारण उनका उक्त रोग ही है, शीतला नहीं।

रही जायसी के माता-पिता की बात; उनके विषय में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका देहावसान कब, किस रूप में हुआ। इतना अवश्य है कि यदि जायसी बचपन में ही अनाथ हो जाते तो अवश्य ही कहीं न कहीं इसका संकेत अपने ग्रंथों में करते। उनके जो ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनमें उक्त विषय का आभास भी नहीं मिलता। यही नहीं, पदमावत जैसे विशद ग्रंथ में उन्होंने अपने वंश का परिचय नहीं दिया। इसका मुख्य कारण क्या था, हम नहीं कह सकते। पदमावत में वात्सल्य का भी एक प्रकार से अभाव ही है। उसके निदर्शन के जो अवसर आए हैं, जायसी ने या तो उनकी उपेक्षा की है या उनको चलता कर दिया है। जिस स्नेह को लेकर सूर और तुलसी ने कमाल किया है, उसी का अभाव जायसी में 'प्रेम की पीर' की दृष्टि से भी खटकता है। हो सकता है कि विरक्त हो जाने पर जायसी को वात्सल्य-भाव में मोह का दर्शन अधिक मिलता हो। सूफियों ने केवल माधुर्य-भाव ही को अपनाया है; अन्य भाव प्रसंगवश किसी अन्य रूप में आते हैं। पदमावत तथा अखरावट की रचना मुरीद होने पर जायसी ने की। संभवतः इस समय वे रमता-जोगी बन चुके थे। अस्तु, उनके लिये स्वाभाविक ही था कि अपने पूर्वजों का परिचय न देकर उस वंश का परिचय दें जिससे उनका उद्धार हो सका, उनको परमेश्वर का दर्शन मिला। निदान

जायसी के माता-पिता

हम कह सकते हैं कि जायसी के माता-पिता के अल्प काल में स्वर्गवास होने का पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता। जायसी ने जहाँ कहीं अपने पीर अथवा गुरु का प्रसंग छेड़ा है वहाँ पर यही कहा है कि उनकी सेवा से मुझको सद्गति मिली। तात्पर्य यह कि जान-बूझकर उन्होंने सत्संग किया। पीर की ओर से जो प्रसाद मिला वह उनके परिश्रम का फल था, गुरु की कोरी कृपा का परिणाम नहीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जायसी उतनी अल्पावस्था में अनाथ नहीं हुए थे जितनी का प्रतिपादन हिंदी-साहित्य में होता रहा है।

जायसी के जीवन का अब तक जो कुछ परिचय हमें प्राप्त था उसके आधार पर हम यही समझते थे कि जायसी एक अविवाहित फकीर थे। इस धारणा का प्रधान कारण उनकी दशा एवं अपना संस्कार था। जायसी के विषय में अनुसंधान से जो पता चला है वह प्रकृत धारणा के परित: प्रतिकूल है। जायसी कुरूप अवश्य थे, किंतु वे निर्धन अथवा अनाथ न थे। संक्षेप में, वे मजे में कमाते खाते थे। वे उस दीन के पाबंद थे जिसमें विवाह करना 'आधा बिहिश्त हासिल करना' था। इसलाम संन्यास का कट्टर विरोधी है। पदमावत का रतनसेन भी पद्मावती के लिये योगी बनता है। सारांश यह कि जायसी जैसा दीन का पाबंद अविवाहित नहीं रह सकता था। कहा जाता है कि जायसी का विवाह जायस में ही हुआ था। उनकी ससुराल के एक सज्जन, जिनका नाम संभवत: जाफर था, कह रहे थे कि जायसी अपने भाई से रुष्ट होकर ससुराल ही में रहते तथा लिखा-पढ़ा करते थे। उन्होंने तो उक्त स्थान का निर्देश भी किया था। जायसी पदमावत में कहीं कहीं कुछ ऐसा कह गए हैं जिनको आजकल का सभ्य समाज स्त्री-निंदा समझ सकता है। फिर भी उनकी यह निंदा कबीर-कोटि की नहीं है। जायसी की दृष्टि में पति-पत्नी

विवाह

का प्रेम भी परमात्मापरक था। पदमावत में उन्होंने इसका प्रतिपादन किया है। एक विवाह की कौन कहे, वे बहु-विवाह के पोषक थे।

जायसी केवल विवाहित ही नहीं थे, उनके बाल-बच्चे भी थे। कहा जाता है[1] कि उनकी कुल सात संतानें थीं। जायसी के

बाल-बच्चे तथा शाप

सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उन सबका निधन हो गया। कुछ लोगों का कथन है कि जायसी के पीर मुबारक शाह पोस्ता पोते थे। जायसी ने उन्हीं को लक्ष्य कर एक छोटी सी पुस्तिका लिखी, जिसका नाम पोस्तीनामा है। जब पीर साहब ने इसको सुना तो सहसा बोल उठे "अरे बे औलाद, कहीं उस्ताद की हजो करते हैं!" कहते हैं कि उसी दिन जायसी की सभी संतानें मकान की छत गिर जाने से मर गईं। जायसी पागल की तरह रहने लगे। एक दिन उनके उस्ताद ने उनकी दीन दशा देखकर पूछा कि जायसी की चिंता का कारण क्या था। जायसी ने कहा—"आपने मेरे अपराध का दंड दिया अब मेरा नाम कैसे चलेगा।" उस्ताद ने उत्तर दिया—"जिस कविता के कारण तुम निस्संतान हुए वही कविता तुमको अमर करेगी। तुम पोथी लिखो।" कुछ हेर-फेर के साथ यही कथा प्रसिद्ध है। यह कहाँ तक सत्य है? निश्चित रूप से इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जायसी के ग्रंथों में कतिपय स्थल ऐसे हैं जिनके परिशीलन से पता चलता है कि जायसी के हृदय में यह कामना थी कि संसार में उनका नाम

---

(१) मौलाना अहमद अशरफ साहब का कहना था कि जितनी संतानें थीं जायसी ने उतने ही ग्रंथ रचे। नाम भी वे अजीब ढंग के—चमकावत, मटकावत, इतरावत आदि—बतलाते थे। परंतु उनका मत साधु नहीं प्रतीत होता। उनके पास 'जायसी' की कोई अज्ञात पुस्तक नहीं है जैसा कि 'हिंदी के मुसलमान कवि' के लेखक की धारणा है।

रहे। 'पदमावत की लिपि तथा रचना-काल'[1] नामक लेख में हमने इसका संकेत इस प्रकार किया था—"पदमावत का अध्ययन करते करते जब हम उसकी कथा के उपसंहार में पहुँचते हैं तब हमारी कुछ विचित्र स्थिति हो जाती है।...उन्होंने उस स्थल पर अपनी एक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय दे दिया है जिसकी संभावना हमको नहीं थी।" वह मनोवृत्ति यह है—"औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत में चीन्हा॥...केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल? जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल[2]॥" पदमावत ही में नहीं अखरावट के भी अंत में यही निवेदन है—"जो न मिटावै कोइ लिखा रहै बहुतै दिना[3]।" संभव है, अधिक संभव है कि जायसी की इस लालसा का मुख्य कारण उनका निस्संतान होना ही हो; नहीं तो फकीरों को नाम से क्या काम?

जायसी की जीविका खेती थी। आप अपने हाथ से हल चलाते, खेत निराते थे। आपको परमात्मा का साक्षात्कार विचित्र रूप से हुआ। आपके विषय में यह कहा जाता है कि आपके गुरु की यह आज्ञा थी कि अकेले भोजन कभी मत करो। जायसी इसी नियम का पालन करते थे। इसलाम के अतिथि-सत्कार से यह अधिक व्यापक है। इसको "अघं स केवलं भुंक्ते" का प्रसाद समझना चाहिए। प्रसिद्ध है कि एक दिन जब जायसी हल चला रहे थे, एक लौंडी उनके पास भोजन लेकर आई। संयोग कुछ ऐसा था कि उस दिन जायसी को किसी व्यक्ति का दर्शन नहीं मिला। उन्होंने लौंडी से आग्रह किया

परमात्मा का साक्षात्कार

(१) नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १३ पृष्ठ १००।
(२) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३३२–३३३।
(३) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३७२।

कि किसी व्यक्ति को खोज लाए। जब उसने अपनी लाचारी जाहिर करते हुए कहा कि उसको बहुत ढूँढ़ने पर भी किसी की सूरत नजर नहीं आई तब जायसी स्वयं इधर-उधर देखने लगे। निदान उनको एक व्यक्ति लकड़ी का बोझ लादे दिखाई दिया। जायसी ने उसको बुलाकर साथ भोजन करने का आग्रह किया। उसने कुष्ठ से जर्जरित हाथ दिखाकर जायसी से प्रार्थना की। जायसी ने उसकी एक भी न सुनी। अंत में जब रक्त तथा पीब से आप्लावित शेषांश के पीने की बारी आई तब जायसी ने हठपूर्वक अपने आप ही पीना चाहा। ज्योंही उन्होंने उसको अपने मुँह से लगाया, उक्त कोढ़ी आँख से ओझल हो गया। जायसी विस्मय में बोल उठे—"बूँदहिं सिंधु समान, यह अचरज कासों कहौं"। अखरावट में पूरा पद्य इस प्रकार है—"बूँदहिं समुद समान, यह अचरज कासों कहौं। जो हेरा सो हेरान 'मुहमद' आपै आप महँ[1]।" कहा जाता है कि उसी दिन से जायसी विरक्त की भाँति रहने लगे और परमात्मा के विरह में निमग्न हो गए।

जायसी के गुरु के विषय में ऊपर मुबारकशाह बोदले का नाम लिया गया है। जायस में लोग उन्हीं को जायसी का पीर मानते हैं। हमारी समझ में जायसी के पीर मुबारक साहब नहीं थे। जायसी ने अपने पीर-वंश का परिचय गुरु-वंश के साथ ही साथ अखरावट तथा पदमावत में दिया है। पीर या मुरशिद का अर्थ केवल दीक्षा-गुरु होता है, उस्ताद नहीं। हमारी समझ में जायसी ने इस भेद पर ध्यान रखकर ही 'पीर' शब्द का प्रयोग किया है। हिंदी का गुरु शब्द अधिक व्यापक है। उससे दीक्षा तथा शिक्षा—दोनों गुरुओं का बोध होता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जायसी का दीक्षा-

पीर और गुरु का भेद

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३३९।

गुरु कौन था। जायसी के इस समय तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं। पदमावत तथा अखरावट से हिंदी-संसार परिचित है। 'आखिरी कलाम' का पता संभवतः उसे अब तक नहीं है। यहाँ पर हमारा कर्त्तव्य है कि हम उक्त ग्रंथों के आधार पर जायसी के दीक्षा-गुरु का निश्चय करें; और देखें कि जायसी के पीर के विषय में जो मत प्रचलित हैं वे कहाँ तक साधु हैं।

जायसी के पीर

ग्रियर्सन साहब[1] का मत है कि जायसी के पीर अथवा दीक्षा-गुरु शेख मुहीउद्दीन थे। जायसी ने सैयद अशरफ जहाँगीर का नाम केवल प्राचीन गुरुजन के नाते लिया है। आप अन्यत्र[2] यह भी कहते हैं कि एक प्रवाद की दृष्टि से शेख मुहीउद्दीन विद्या-गुरु तथा सैयद अशरफ मंत्र-गुरु थे। आप शेख मुहीउद्दीन को उनका पीर किन कारणों से मानते हैं यह आप ही जानें। हम तो यही कहेंगे कि यह भी आपका एक प्रमाद ही है। आप न तो प्रचलित बातों पर ध्यान देते हैं और न जायसी के कथन पर। जायसी स्वयं पदमावत[3] में अपने पीर का नाम सैयद अशरफ बतलाते हैं और उनका बखान भी मुक्त कंठ से करते हैं। आपका कथन यह है—

"सैयद अशरफ पीर पियारा। जेहि मोहिं पंथ दीन्ह उजियारा॥
लेसा हिएँ प्रेम कर दीया। उठी जोति, भा निरमल हीया॥
मारग हुँत अँधियार जो सूझा। भा अँजोर, सब जाना बूझा॥
खार समुद्र पाप मोर मेला। बोहित-धरम लीन्ह कै चेला॥
जहाँगीर वै चिस्ती निहकलंक जस चाँद।
वै मखदूम जगत के हौं ओहि घर कै बाँद॥"

(१) The Padumavati, Calcutta P. I.
(२) The Padumavati, Calcutta (P. II. note)
(३) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ८।

अखरावट[1] में जायसी ने अपनी पीर-परंपरा का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"कही सरीअत चिश्ती पीरू। उधरित अशरफ औ जहँगीरू॥
तेहि कै नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद-जल जिउ न डेराई॥
....
राह हक़ीक़त परै न चूकी। पैठि मारफ़त मार बुड़ूकी॥
ढूँढ़ि उठै लेउ मानिक मोती। जाइ समाइ जोति महँ जोती॥"

आखिरी कलाम[2] में जायसी ने इस बात को इतना स्पष्ट कर दिया है कि उसमें मीन-मेष की जगह नहीं। आप कहते हैं—

"मानिक यक पायउँ उजियारा। सैयद अशरफ पीर पियारा॥
जहाँगीर चिश्ती निरमरा। कुल जग माँ दीपक्र विधि धरा॥
....
तिन घर हौं मुरीद सो पीरू। सँवरत बिनु गुन लावै तीरू॥
कर गहि धरम पंथ दिखरायउ। गा भुलाय तेहि मारग लायउ॥"

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि जायसी चिश्ती-वंश के सैयद अशरफ जहाँगीर के मुरीद थे। 'घर' से तात्पर्य वंश, खांदान या

जायसी और मुबारकशाह का संबंध

सिलसिले से है। जो लोग जायसी को मुबारकशाह बोदले का मुरीद कहते हैं, वे भारी भूल करते हैं। इस भ्रम का एक प्रधान कारण यह है कि लोग इतिहास पर उचित ध्यान नहीं देते। नकी[3] महो-

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३५३—३५४।

(२) आखिरी कलाम, पृष्ठ १०।

(३) सैयद शाह मौलाना अली नकी अशरफ साहब अशरफ वंश के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। आपने फारसी में 'बसरायफ अशरफिय व कवायद अहमदिय' नामक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में मलिक मुहम्मद जायसी के संबंध में पृष्ठ ३३ से ३६ तक कई पुस्तकों के आधार पर एक निबंध लिखा गया है। उसमें तथा जायस में मुबारकशाह ही मलिक के पीर प्रसिद्ध हैं; पर मुबारकशाह की निधन तिथि सन् ६७४ हि० दी गई है। कयूम अशरफ

दय ने भी यही भूल की है। मुहम्मद मुबारकशाह बोदले के विषय में पदमावत में एक स्थल[1] पर जायसी ने इस प्रकार लिखा है—

"सेख मुहम्मद पूनो करा। सेख कमाल जगत निरमरा॥
दुऔ अचल ध्रुव डोलहिं नाहीं। मेरु खिखिंद तिन्हहुँ उपराहीं॥"

जिसका कारण यह है कि जायसी अपने पीरवंश का पूरा परिचय देना चाहते हैं। हम यह नहीं कहते कि जायसी को मुहम्मद मुबारकशाह बोदले से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिली। हमारे कहने का तो सीधा सादा अर्थ यह है कि जायसी ने दीक्षा सैयद अशरफ साहब से ही ली, उनके निधन होने पर शेख हाजी और उनके उपरांत शेख मुबारक से ज्ञान अर्जित करना उन्होंने अपना धर्म समझा। यही इस प्रशंसा का रहस्य है। जो लोग यह जानते हैं कि शेख मुबारक बोदले की निधन-तिथि सन् ९७४ हि० यानी जायसी से २५ वर्ष बाद है, वे हमारे मत से सहमत होंगे। इसमें संदेह नहीं कि जायसी ने पदमावत में जो परंपरा दी है वह अधिक स्पष्ट नहीं है। उसके स्पष्टीकरण के लिये अखरावट, विशेषकर आखिरी कलाम, की शरण वांछनीय है। अखरावट में भी जायसी ने पीर और गुरु के झगड़े को स्पष्ट नहीं किया है। इस विषय में आखिरी कलाम ही प्रमाण है। उसमें आपको केवल सैयद जहाँगीर अशरफ का ही नाम मिलेगा। वस्तुतः अशरफ जहाँगीर ही जायसी के पीर अथवा दीक्षा-गुरु थे। स्मरण रहे कि मुहम्मद मुबारकशाह बोदले का नाम केवल पदमावत में आया है।

साहब ने उक्त पुस्तक से जायसी का जीवन-वृत्त नकल कर हमें दिया, जो हमारे पास है।

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ८।

हमने यह भली भाँति देख लिया कि जायसी के दीक्षा-गुरु सैयद जहाँगीर अशरफ थे। अब हमको यह विचारना चाहिए कि जायसी के शिक्षा-गुरु अथवा उस्ताद कौन थे। इस प्रश्न पर कुछ प्रकाश डालने के पहले ही हम यह अपना परम धर्म समझते हैं कि हम इस बात को स्पष्ट रूप से कह दें कि जायसी "मधुकर सरिस संत गुणग्राही" जीव थे। उन्होंने अपनी मधुकरी वृत्ति से जो मधु-संचय किया है उसका विश्लेषण हमारा काम नहीं है। हमको तो यहाँ पर केवल इतना ही दिखाना अभीष्ट है कि जायसी ने अपने ग्रंथों में किनको गुरु के रूप में स्वीकार किया है। जायसी ने पदमावत[1] में अपने गुरुजनों का परिचय इस प्रकार दिया है—

जायसी के शिक्षा-गुरु

"गुरु मेहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहिं का खेवा॥
अगुवा भयउ शेख बुरहानू। पंथ लाइ मोहिं दीन्ह गियानू॥
अलहदाद भल तेहि कर गुरू। दीन दुनी रोशन सुरखुरू॥
सैयद मुहमद कै वै चेला। सिद्ध-पुरुष-संगम जेहि खेला॥
दानियाल गुरु पंथ लखाए। हजरत ख्वाज खिजिर तेहिं पाए॥
भए प्रसन्न ओहि हजरत ख्वाजे। लिए मेरइ जहँ सैय्यद राजे॥
ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ, प्रेम कवि बरनी॥
वै सुगुरु हौं चेला, निति बिनवौं भा चेर।
उन्ह हुत देखै पायउँ, दरस गोसाईं केर॥"

हमारी धारणा है कि पदमावत के उक्त पद्यों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। ग्रियर्सन साहब ने जायसी की जो गुरु-परंपरा दी है तथा शुक्लजी[2] ने जिसका अनुसरण किया है वह इस प्रकार है—

जायसी की गुरु-परंपरा

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ८-९।
(२) जायसी-ग्रंथावली, भूमिका पृष्ठ ८।

निजामुद्दीन औलिया
|
सिराजुद्दीन
|
शेख अलाउल हक
|
- शेख कुतुब आलम
  |
  शेख हशामुद्दीन
  |
  सैयद राजी हामिद शाह[1]
  |
  शेख दानियाल
  |
  सैयद मुहम्मद
  |
  शेख अलहदाद
  |
  शेख बुरहान
  |
  शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन)
  |
  मलिक मुहम्मद जायसी
- सैयद अशरफ जहाँगीर
  |
  शेख हाजी
  |
  - शेख मुबारक
  - शेख कमाल

शुक्लजी का इस परंपरा के विषय में यह कथन है,—"अपनी गुरु-परंपरा का वर्णन जायसी ने 'पदमावत' और 'अखरावट' दोनों

(१) जायसी ने आपका नाम सैयद राजे ('लिए मेरइ जहँ सैय्यद राजे') लिखा है। ग्रियर्सन साहब ने न जाने किस आधार पर इनको राजी लिख दिया है, जिसका अनुसरण हिंदी में किया गया है। वस्तुतः इनका नाम सैयद हामिदशाह राजे था। अकबालहुसेन मानिकपुरी ने यही लिखा भी है।

में किया है। पर यह परंपरा मुहीउद्दीन से लेकर सैयद राजी हामिदशाह तक तो उपर्युक्त परंपरा के अनुसार ठीक ठीक चलती है पर उसके आगे वह शेख कुतुब आलम की ओर नहीं जाती है। कवि ने मुहीउद्दीन से लेकर सैयद राजी तक की परंपरा जिस स्थल पर कही है उसके पहले ही सैयद अशरफ, शेख हाजी और उनके दो पुत्रों (शेख मुबारक और शेख कमाल) के नाम लिए हैं जो शेख अलाउल हक के दूसरे शिष्य की परंपरा कही जाती है।" संक्षिप्त पदमावत[1] की भूमिका में यह परंपरा इस प्रकार दी गई है—
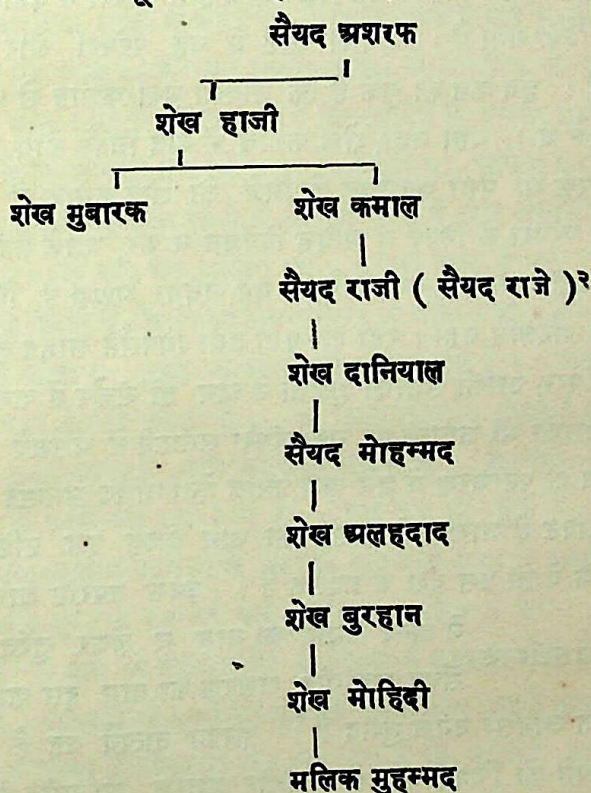
(१) संक्षिप्त पदमावत, पृष्ठ ७।
(२) देखिए पृष्ठ ४०८ की टिप्पणी (१)।

और कहा गया है—"मुसलमानों में प्रचलित गुरु-परंपरा के अनुसार जायसी की दी हुई परंपरा में अंतर पड़ता है। उनके अनुसार सैयद राजे शेख कुतुब आलम और शेख हशामुद्दीन के पश्चात् हुए हैं। शेख आलम और सैयद अशरफ शेख अलाउल हक के चेले थे।" वस्तुतः यह परंपरा पदमावत के आधार पर रची गई है। जायसी ने पदमावत में नामों का जो क्रम दिया है और ग्रियर्सन साहब ने उसको जिस रूप में समझा है उसी के अनुसार यह परंपरा भी बनी है। अंतर केवल यह है कि इस परंपरा में दोनों का मेल कर दिया गया है। हमारी दृष्टि में यह परंपरा और भी अनिष्ट है। हम कह ही चुके हैं कि जायसी मुबारकशाह से पहले हो मर चुके थे। यही नहीं, शेख कमाल के बाद जितने लोग आए हैं उनमें एक भी ऐसा कदाचित् ही मिले जो शेख कमाल से नया हो। इस परंपरा के विषय में अधिक विवेचन न कर, उसके संबंध में हम यही कहना अलम् समझते हैं कि यह सर्वथा अशुद्ध है, किसी विचार का परिणाम नहीं। रही शुक्लजी तथा ग्रियर्सन साहब द्वारा दी गई परंपरा; उसकी समीक्षा शुक्लजी ने स्वयं ही संक्षेप में कर दी है। हम उसको भी जायसी की गुरु-परंपरा समझने में असमर्थ हैं। अपने कथन के पुष्टीकरण में हम कुछ प्रमाण देना उचित समझते हैं।

अपने मत का पुष्टीकरण

अखरावट में जायसी ने चिश्ती का नाम केवल इस दृष्टि से लिया है कि वे ही उस वंश के प्रवर्तक हैं। उनके उपरांत जायसी ने अन्य किसी का नाम न लेकर तुरंत ही सैयद जहाँगीर अशरफ का नाम इस कारण लिया है कि जायसी उनके मुरीद हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जायसी अपने को चिश्ती पंथ के जहाँगीर अशरफ का मुरीद सिद्ध करते हैं। पदमावत में वे केवल अपने पीर की प्रशंसा तथा उनके वंश के अन्य लोगों का बखान करते हैं। यदि उनको अपनी गुरु-

परंपरा अभीष्ट होती तो आदि-प्रवर्त्तक से आरंभ करते। बीच में यदि किसी व्यक्ति को चुनते तो निजामुद्दीन औलिया को; क्योंकि जलालुद्दीन चिश्ती के बाद वे ही इस योग्य थे। जायसी ने तो केवल अपने पीर का स्मरण किया है जो जायस की गद्दी के अधिष्ठाता थे। प्रश्न उठ सकता है कि फिर उनको अन्य गुरुजनों के नाम लेने की क्या आवश्यकता थी। उत्तर में हमारा नम्र निवेदन है कि जायसी अपनी प्रस्तावना में उन बुजुर्गों का ऋण स्वीकार करते हैं जिनके प्रसाद से उनमें उक्त ग्रंथ रचने की क्षमता प्राप्त हो सकी। जायसी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—"ओहि सेवत मैं पाई करनी। उघरी जीभ प्रेम कबि बरनी[1] ॥" अतः जायस के अतिरिक्त जो मानिकपुर तथा अन्य स्थल के गुरुजनों का वे विवरण देते हैं, उसका प्रधान कारण यह है कि जायसी ने उनसे ज्ञानार्जन किया था, कविता करना सीखा था। शेख बुरहान हिंदी में कविता करते थे और जायसी के लगभग २० वर्ष बाद तक जीवित रहे। हमारी दृष्टि में एक यही अटल प्रमाण पर्याप्त है कि किसी वंश-परंपरा में भविष्य का विवरण नहीं दिया जाता। सूफी भी अपने को शाह कहते हैं। उनकी परंपरा भी उसी ढँग से चलती है। जो सज्जादानशीन होता है वही शाहेवक्त कहा जाता है, उसी का नाम चलता है। जायसी ने जो नाम लिए हैं उनमें यह बात नहीं है। हम कह ही चुके हैं कि जायस के मुबारकशाह जायसी से २५ वर्ष बाद सन् ६७४ हि० तथा कालपी के शेख बुरहान २१ वर्ष बाद सन् ६७० हि० में मरे। फिर इन लोगों के बाद के गद्दीनशीनों के विषय में जायसी कैसे लिख सकते थे? जायसी ने अपने परिचय में 'गुरु-चेला' आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है; जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जायसी उक्त सज्जनों में गुरु-भाव रखते थे; और उन्हीं का सत्संग करते थे। इस विषय

---

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ

की छानबीन अभी हम कर रहे हैं। आशा है, फिर कभी इस पर विस्तृत विचार किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जायसी उक्त महानुभावों से ही सीखे-पढ़े थे। शुक्लजी हमारे उस कथन का अनुमोदन इस प्रकार करते हैं—"अत: जायसी ने काव्य-शैली किसी पंडित से न सीखकर किसी कवि से सीखी थी[1]।"

अमेठी के साथ जायसी का इतना घना संबंध सिद्ध किया गया है कि उसके प्रतिकूल कुछ कहने का साहस नहीं होता। प्रसिद्ध है कि जायसी को अमेठी के राजा ने बुलाकर सम्मान के साथ जायस में रखा। उनके आशीर्वाद से राजा का वंश चला। राजा के यहाँ वे ईश्वर की भाँति पूजित थे। जब मरे तब "रानियों के विशेष हठ करने पर राजा ने ठीक किले के सदर फाटक के सामने इनकी कब्र बनवाई[2]।" कह नहीं सकता, किंतु जहाँ तक पता चला है, इससे अधिक असत्य की प्रतिष्ठा हिंदी-साहित्य में अभी तक दूसरी नहीं है। न जाने किस आधार पर पंडित सुधाकर द्विवेदी ने उक्त बातों का प्रचार किया। हम यह पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि जायसी जायस के निवासी थे, उनके जायस के निवास से अमेठी के राजा का कुछ भी संबंध नहीं था। जायसी के अमेठी जाने का कारण यह कहा जाता है—एक दिन मलिक मुहम्मद जायसी और बंदगी मियाँ अपने पीर की सेवा में लगे थे। इन लोगों के दिल में यह बात समाई कि इनके और साथी सेवा का फल प्राप्त कर अन्यत्र धर्म-प्रचार में निमग्न हैं। चट पीर ने आज्ञा दी कि तुम दोनों अमेठी जाओ। इन लोगों ने प्रार्थना की कि दो शाह एक जगह नहीं रहते। पीर ने कहा—"हमको जो कुछ कहना था कह दिया।" पीर के कमरे में दो दरवाजे थे। एक से बंदगी

जायसी का अमेठी जाना

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ २११।
(२) अखरावट, नागरी-प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ३।

मियाँ पश्चिम की ओर, और दूसरे से मलिकजी पूरब की ओर चले। इस प्रकार मलिक मुहम्मद जायसी गढ़ अमेठी पहुँचे और बंदगी मियाँ अमेठी (लखनऊ) में। यही बात जायस तथा अमेठा में कुछ हेर-फेर के साथ प्रसिद्ध है। इस प्रवाद के आधार पर हम यह अच्छी तरह कह सकते हैं कि जायसी के गढ़ अमेठी जाने का प्रधान कारण राजा का आग्रह नहीं, जायसी की धर्म-भावना ही थी।

अमेठी के शासक भरद्वाजगोत्र के कछवाहे राजपूत थे। रज-भरों से उनको उक्त प्रांत मिला। सन् ७७४ हि० से ८०० हि० तक

आशीर्वाद से पुत्र

यहाँ के शासक सूदीसिंहजी थे। च्यवन[1] ऋषि के आशीर्वाद से आपके दो पुत्र उत्पन्न हुए। ऋषि की आज्ञा से इस वंश का गोत्र भरद्वाज से बंधुल हो गया। कहने का प्रयोजन यह कि अमेठी के वंश में यदि आशीर्वाद से पुत्र उत्पन्न हुए तो जायसी के जन्म के पहले। जायसी जब तक जीवित रहे तब तक उक्त वंश में आशीर्वाद से पुत्र-प्राप्ति की नौबत ही न आई। हाँ, हसनअली साहब के समय में इसकी आवश्यकता पड़ी; किंतु उनकी दुआ से उसकी पूर्ति न हो सकी। अमेठी राज के इतिहास में जायसी के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया है। अतः कल्पना अथवा अनुमान का पोषण सत्य के खून से नहीं हो सकता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि अमेठी के दरबार में जायसी का सम्मान था; वे एक सिद्ध फकीर समझे जाते थे। बस, इससे अधिक नहीं। जायस तथा अमेठी की जनता भी इससे आगे नहीं बढ़ती, हिंदी-संसार कुछ भी मानता रहे।

कहा गया है कि जायसी ने अखरावट की रचना अमेठी के राजा रामसिंह के लिये की। यदि यह ठीक है तो जायसी का प्रवेश

---

(१) तारीख राज अमेठी, न० कि०, प्रे०, लखनऊ।

कम से कम ८८८ हि० के पहले अमेठी में हो गया था; क्योंकि इसके बाद ९५६ हि० तक इस नाम का कोई शासक वहाँ नहीं हुआ। अखरावट के—"साठ बरस जो लपई झपई[1]" के ६० वर्ष से यदि जायसी की अवस्था ध्वनित समझें तो यह किसी प्रकार ठीक कहा जा सकता है। किंतु अखरावट की रचना का जो कारण बताया जाता है वह विलक्षण है। कहा जाता है कि कृष्ण जन्माष्टमी को राजा पूजन में मग्न थे। मलिक मुहम्मद साहब फाटक पर पहुँचे। द्वारपालों ने कहा—"आप मुसलमान हैं पूजा में नहीं जा सकते।" मलिक साहब ने कहा—"राजा साहब से कहो, परसाद बँटवा दें। ब्राह्मणों ने समय बताने में भूल की है।" राजा साहब यह सुनकर तुरंत आए और क्षमा-याचना की। जायसी अपने स्थान पर गए और राजा के लिये अखरावट की रचना की। यदि अखरावट का विषय ज्योतिष होता तो इस दंत-कथा में किसी को आपत्ति न होती; किंतु अखरावट का विषय कुछ और ही है। अखरावट की रचना का प्रधान कारण धर्म-प्रचार मान लेने पर प्रकारांतर से यह सत्य सिद्ध हो सकता है कि जायसी ने अखरावट की रचना अमेठी के राजा के लिये ही की।

राजा रामसिंह का अखरावट से संबंध

अखरावट में एक स्थल पर जायसी ने एक जुलाहे का वर्णन इस प्रकार किया है[2]—

अखरावट का जुलाहा

"ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सौं मैं हारा॥
प्रेम तंतु निति ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई॥
दरब गरब सब देइ बिथारी। गनि साथी सब लेइ सँभारी॥
पाँच भूत माँड़ी गनि मलई। ओहि सौं मोर न एकौ चलई॥

(१) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३६१।
(२) जायसी-ग्रंथावली, पृष्ठ ३६५।

विधि कहँ सँवरि साज सो साजै। लेइ लेइ नावँ कूँच सौं माँजै॥
मन मुरीं देइ सब अँग मोरै। तन सो बिनै दोउ कर जोरै॥
सूत सूत सो कया मँजाई। सीझा काम बिनत सिधि पाई॥
राउर आगे का कहै, जो सँवरै मन लाइ।
तेहि राजा नित सँवरै, पूछै धरम बोलाइ॥
तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं।
परै खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं॥"

शुक्लजी की सम्मति में उक्त जुलाहे का निर्देश कबीर की ओर हीं है। 'अखरावट का रचना-काल' नामक लेख में हमने भी यही प्रतिपादित किया था। इधर लाला सीतारामजी[1] ने इसकी साधुता पर संदेह करते हुए यहाँ तक कहा है कि जुलाहे का तात्पर्य कबीर से कदापि नहीं है। यह शब्द प्रतीक के रूप में प्रयुक्त है। लालाजी को यह उद्भाव संभवतः विचारदासजा से मिला है, जो जुलाहे को सदा प्रतीक मानते हैं। हमारे विचार में, किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिये इसमें संदेह करने की सामग्री कुछ भी नहीं है, यह ठीक है कि जायसी कबीर को एक सामान्य जुलाहा नहीं समझते। उनके विचार में कबीर पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों पत्त के जुलाहा हैं। यही नहीं, उक्त दोहे तथा सोरठे में कुछ इस बात का भी संकेत है कि किस प्रकार उनका आदर-सत्कार तथा ताड़न राज-दरबारों में होता था। उनको बुलाकर राजा धर्म की पूछ-ताछ करता था और उनसे सहमत न होने पर आँख दिखाता था। निदान, उक्त जुलाहे से जायसी का आशय कबीर ही से है, जिसका प्रभाव जायसी पर पड़ा और जिसको ग्रियर्सन साहब के साथ ही साथ स्वयं लाला साहब भी स्वीकार करते हैं।

---

(१) Alld. Il. Studies, Vol. VI, Part I, p. 336

जायसी के निधन के विषय में बहुत कुछ कहा जाता है। जो लोग करामात में विश्वास करते हैं, उनका कहना है कि मलिक साहब ने एक दिन अमेठी के राजा से, जब वे उनके पास गए थे, कह दिया था कि मेरी मृत्यु आपके साथ के एक बहेलिये के हाथ से है। राजा साहब ने उस बहेलिये को आज्ञा दे दी कि वह कभी उनके राज्य में न आए। संयोगवश एक दिन रात में वह अपने घर आया। उसे जान पड़ा कि कोई शेर जंगल में घूम रहा है। आत्मरक्षा के लिये उसने गोली चला दी। निकट जाकर देखा तो शेर के वेश में मलिक साहब थे। राजा शब्द सुनकर जायसी के पास दौड़ा गया; और अपने अपराध के लिये क्षमा माँगी। मलिक साहब ने कहा—"जो होना था हो गया, मेरी समाधि यहीं बनवा देना" इसी बात को लोग अनेक रूप से कहते हैं। सारांश में हम कह सकते हैं कि जायसी जिस समय जिक्र असदी (ذکر اسدی) में लगे थे, उनके शब्द को सुनकर, एक व्यक्ति ने, जिसकी गाय को शेर एक दिन पहले खा चुका था, और जो शेर का शिकार करने गया था, शेर[1] का शब्द समझकर गोली मार दी। जायसी उससे आहत हो गिर पड़े। उसी स्थल पर उनकी समाधि दे दी गई। हमको यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि जायसी के जीवन-वृत्त के विवेचन में बड़ी ही असावधानी से अब तक काम लिया

जायसी का निधन

---

(१) महाराजकुमार श्री रणंजयसिंहजी का कहना है कि उक्त वन में कभी शेर नहीं रहते थे। हाँ, बनैले शूकरों का शिकार वहाँ बराबर से होता आया है। परंतु अमेठी (रायपुर) के कुछ अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों, विशेषकर शेख वहाजउद्दीन अहमद का कथन है कि उक्त वन में पहले शेर रहते थे। स्थल-विशेष का नाम 'बघेड़ी' पड़ने का कारण भी यही कहते हैं। कुछ भी हो, भ्रम किसी भी दशा में संभव था। जायसी की मृत्यु गोली के आघात से हुई, यह सभी को मान्य है। यही हमारा अभीष्ट भी है।

गया है। जायसी की समाधि का कोट से कुछ भी संबंध नहीं है। आधुनिक कोट रामनगर से भी जायसी की कब्र पाँच फर्लांग के लगभग दूर है। उस समय का गढ़ रायपुर में देवीपाटन के पास था, जो जायसी की कब्र से लगभग तीन मील दूर है। जायसी की कब्र पर प्रति बृहस्पतिवार को एक छोटा सा मेला होता है। आस-पास के मुसलमान इस पर विशेष ध्यान दे रहे हैं। राजा की ओर से अब कुछ विशेष प्रबंध नहीं है। पहले चिराग-बत्ती के लिये कुछ मिलता था। जायसी की कब्र के पास ही दूधाहारी शाह की कब्र है जो जायसी की सेवा में रहते थे और केवल दूध ही पर जीवन व्यतीत करते थे। जायसी सदा मुरीद रहे, कभी मुरशिद नहीं बने। उनके चेला-चपाटी कभी न थे। वे अमेठों के घने जंगल में रहते थे और वहीं स्वर्गवासी भी हुए। जायस त्यागने का एक मुख्य कारण उनकी एकांतप्रियता भी कही जा सकती है। काजी सैयद नसीरुद्दीन जायसी ने, जिनको नवाब शुजाउद्दौला ने काजी की सनद दी थी, अपनी याददाश्त में, मलिक मुहम्मद जायसी की निधन-तिथि चार रजब सन् ९४९ हि० लिखी है, जा सर्वथा संगत जान पड़ती है।

मलिक मुहम्मद जायसी के जीवन के संबंध में अब तक जो कुछ विवेचन किया गया है उसके आधार पर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसका सिंहावलोकन कर लेना परम आवश्यक है। मलिक मुहम्मद जायसी का वास्तविक नाम मुहम्मद था। मलिक उनके वंश की उपाधि थी। जायस के निवासी होने के कारण वे जायसी कहलाए। जायस में वे मलिक के नाम से ख्यात हैं। जायस के कंचाना मुहल्ले में सन् ८३० हि० में एक सामान्य परिस्थिति के माता-पिता के घर उत्पन्न हुए। आप जन्म से ही कुरूप थे। रोग-विशेष,

उपसंहार

संभवतः अर्द्धांग, से आपका स्वरूप और भी भ्रष्ट हो गया। लोग इनके रूप-रंग पर हँसा करते थे। माता-पिता ने किसी विशेष ढंग की शिक्षा का प्रबंध नहीं किया। आपका विवाह जायस में ही हुआ था। आपकी कई संतानें थीं जिनका स्वर्गवास अल्पकाल ही में हो गया था। आपके भाई का वंश अभी चल रहा है। सैयद अशरफ जहाँगीर आपके पीर थे। शेख मोहिदी, शेख बुरहान आदि सज्जनों से आपने शिक्षा ग्रहण की थी। विरक्त होने के पहले खेती से जीवन-निर्वाह करते थे। परमात्मा का दर्शन पाने के बाद, फकीर होकर इधर-उधर प्रेम की पीर का प्रचार करने लगे। राज-दरबारों में भी कभी कभी जाते थे। अंत में एकांतप्रियता के कारण अमेठी के घने वन में रहने लगे। आपके साथ एक और फकीर दूधाहारी शाह रहते थे। उसी वन में अचानक, श्रवण कुमार की भाँति, आप शांत हुए। आपने कभी किसी को चेला नहीं किया, आजीवन मुरीद रहे। आप योग-साधना करते थे और परमात्मा के स्मरण में ही सन् ९४९ हि० में आपका स्वर्गवास गोली लगने से हो गया। इस प्रकार जायसी की आयु ११९ वर्ष (९४९-८३०), हम लोगों के गणनानुसार ११५ या ११६ वर्ष ठहरती है; जिसको कुछ लोग असत्य समझ सकते हैं। परंतु जिन लोगों ने पदमावत का अध्ययन विचार-पूर्वक किया है उनको यह सर्वथा संगत प्रतीत होगी। जायसी बुढ़ापे से ऊबकर यहाँ तक कह चुके थे— "बूढ़ी आयु होहु तुम केइ अस दीन्ह असीस"। जायसी की १४ पुस्तकें कही जाती हैं। कुछ के नाम ये हैं— पोस्तीनामा, कहार-नामा, मुराईनामा, मेखरावट, चंपावत, अखरावट, पदमावत और आखिरी कलाम। कहा जाता है कि इन्होंने 'नमाज' पर भी एक पुस्तक लिखी थी, जो एक बुढ़िया को याद थी। खेद है कि वह बुढ़िया अब नहीं है। उक्त पुस्तकों में पदमावत तथा अखरावट

का संपादन पंडित रामचंद्रजी शुक्ल ने जायसी-ग्रंथावली के नाम से किया है। आखिरी कलाम हमारे पास है। शेष पुस्तकों का पता अभी नहीं चला। यह हिंदी का सौभाग्य है कि जायसी से दीन के पक्के पाबंद मुसलमान ने उसको अपनाया और उसकी श्री-वृद्धि की। जायसी को इसका फल मिला—"सब रुपवंतइ पाउँ गहि मुख जोहहिं कै चाउ।" हिंदी-साहित्य ही नहीं, मानव-जाति भी मलिक मुहम्मद जायसी की चिर ऋणी है। इनके शील और साहित्य की समीक्षा अन्यत्र ही संभव है। यहाँ पर इतना ही पर्याप्त है कि आप एक आदर्श व्यक्ति थे। आपका काव्य भी आदर्श है।

---

(१८) राजा उदयादित्य और भोजराज का संबंध

[लेखक—श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन]

परमार राजा 'उदयादित्य' और भोज की परस्पर रिश्तेदारी के प्रमाणित करने के विषय में मि० डी० सी० गांगुली और श्री के० पी० जायसवालजी के बीच एक सुंदर वाद छिड़ गया है। 'माडर्न रिव्यू' के जुलाईवाले अंक में मि० गांगुली की दलीलें प्रकाशित हुई थीं। उन दलीलों का उत्तर देते हुए जायसवाल महोदय ने जो छोटा सा किंतु महत्त्वपूर्ण निबंध लिखा है उसे, पाठकों की जानकारी के लिये, हम यहाँ उपस्थित करते हैं। हमारी दृष्टि में जायसवालजी के प्रमाण गांगुली बाबू की दलीलों का स्पष्ट खंडन करते हैं—

'माडर्न रिव्यू' के जुलाईवाले अंक के पृष्ठ ६७ में मिस्टर डी० सी० गांगुली इस प्रकार दलील पेश करते हैं—

(अ) वह उदयादित्य—जिसने उदयपुर मंदिर बनवाया—"राजा भोज का चचेरा भाई" था [माडर्न रिव्यू के जूनवाले अंक में जिस प्रकार मैंने वर्णन किया है।]

(आ) उदयादित्य परमार-वंश (Paramara Family) की किसी विशिष्ट शाखा से संबद्ध थे। [J. A. S. B. की जिल्द ९ वीं, पृष्ठ ५४९ के अनुसार।]

(इ) उदयादित्य ने मालवा के राजा की हैसियत से वास्तव में कभी मंदिर नहीं बनवाया, क्योंकि १०५९ में तो मालवा का राजा जयसिंह था।

(ई) मालवा के सिंहासन पर आसीन होने के बहुत पहले ही उदयादित्य ने मंदिर बनवाया था।

(उ) मिस्टर जायसवाल का यह कहना कि "उदयपुर मंदिर भोज की स्मृति में एवं अपने कुटुंब को अपनी सेवाएँ, मंदिर बनाकर अपना नाम चलाने के लिये, समर्पित करने के वास्ते उदयादित्य ने यह (मंदिर) बनाया" समीचीन नहीं।

मिस्टर गांगुली का (उपर्युक्त) सारा कथन बिलकुल गलत है, उनका खास उद्देश्य यह है कि उदयादित्य उस परमारवंश के नहीं थे जिसका राजा भोज था लेकिन वे उसकी किसी विशेष शाखा के थे। साथ ही उनका यह भी मतलब है कि पैतृक नहीं बल्कि अपनी विजय के कारण ही उदयादित्य मालवा के राजा हुए। ("...कि गुर्जर कर्ण को हराकर उदयादित्य ने मालवा का राज्य पाया।")

इसमें शक नहीं कि हमारे पास जो परमारों के दस्तावेज हैं उससे उपर्युक्त कथन नितांत विरुद्ध जाते हैं। उन दस्तावेजों के अनुसार भोज के बाद ही उदयादित्य का खास परमार शाखा में ही वर्णन है। उदाहरण के लिये कीलहॉर्न (Keilhorn) की सूची देखिए—

नं० ८२—"सिंधुराज, भोज, उदयादित्य और नरवर्मा।"

नं० १६५—"भोज, उदयादित्य और उसका पुत्र नरवर्मा, उसका लड़का यशोवर्मा, उसका पुत्र अजवर्मा, उसका लड़का विंध्यवर्मा, उसका लड़का सुभटवर्मा और उसका लड़का अर्जुन [1]।"

नं० ७६—"वैरीसिंह, उसका पुत्र सियक, उसका पुत्र मुंजराज, उसका छोटा भाई सिंधुराज, उसका पुत्र भोज, उसका बंधु उदयादित्य, उसका लड़का लक्ष्मणदेव, उसका भाई नरवर्मा।"

---

(१) 'उदयादित्य के तीन पुत्र थे—१—लक्ष्मणदेव, २—नरवर्मदेव, और ३—जगदेव। एक कन्या भी थी।'—'धार' का इतिहास।

उदयादित्य की प्रत्येक "वंश की सनद" में, जो वंशवृक्ष के तौर पर लिखी गई है, उसे सिंधुराज और भोज की पंक्ति में ही रखा गया है और उसे भोज के बाद का तत्काल-राजा माना गया है। डाक्टर बूहलर ने, जिनके बारे में शिलालेखों आदि के पढ़ने की पर्याप्त प्रसिद्धि फैली हुई है, भिन्न भिन्न साधनों द्वारा, एक वंशवृक्ष तैयार किया है उसमें भी राजा भोज के बाद ही उदयादित्य लिखा गया है (एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १, पृष्ठ २२३)।

इसमें सन्देह नहीं कि मि० गांगुली ने बहुत सी पुस्तकों को देखा है किंतु वे बूहलर, कीलहॉर्न एवं अन्य साधारण शिलालेखों को देखना भूल गए। वंश के शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों के होते हुए यह कहना या दलील करना कि उदयादित्य सिंधुराज एवं भोज के प्रधान वंश का नहीं है और न वह पैतृक हकदार की तरह गद्दी पर बैठा, नितांत असंभव है।

मिस्टर गांगुली ने एक ऐसे शिलालेख (Inscription) पर विश्वास किया है जिसे प्रत्येक विद्वान् ने अग्राह्य माना है। वे अपने इस कथन—कि उदयादित्य किसी भिन्न शाखा का था—के लिये पाठकों को J. A. S. B. जिल्द ९ वीं के पृष्ठ ५४९ को पढ़ने का अनुरोध करते हैं। गांगुली महाशय के इस "प्रमाण ग्रंथ" के बारे में डाक्टर कीलहॉर्न की सम्मति से डा० हॉल कहते हैं—

"वह मनुष्य, जिसके बारे में यह उच्छृंखल अभागा लिख रहा है, मालवा के उदयादित्य का वंशज था चाहे यह बात हो या न हो, किंतु यह स्पष्ट हो गया कि यह लेखक (९ वीं जिल्दवाला) उदयादित्य के वंश के बारे में कुछ नहीं जानता"—E. J. जिल्द ५ वीं, सूची पृष्ठ ११।

यही राय उस नवीं जिल्द के बारे में डाक्टर बूहलर की भी है (E. I. i 233) कि वह शिलालेख उदयादित्य के समय से ४५० वर्ष बाद का है।

इस निर्विवाद एवं सुप्रसिद्ध बात को कि "उदयादित्य धार के परमारों की प्रधान वंशावली में हो था"। ध्यान में रखते हुए हमें यह देखना है कि उसका भोज के साथ क्या रिश्ता था। मि० गांगुली ने जिस प्रकार उसे भोज का चचेरा भाई बताया यह ठीक नहीं। उदयपुर में मैंने स्थानीय प्राचीन संवादों में लोगों के मुँह से सुना है कि उदयादित्य भोज का पुत्र और गद्दी का हकदार था। वही उसके बाद गद्दी पर बैठा। यही बात कई साल पूर्व जनरल कनिंघम ने भी उदयपुर में जाकर सुनी थी। अपनी "रिपोर्ट" के दसवें भाग के पृष्ठ ६५ में वे लिखते हैं—"उदयपुर या उदयपुर का शहर भिलसा (भेलसा) से ३४ मील उत्तर में है। इसका यह नाम सुप्रसिद्ध धार के भोज के लड़के उदयादित्य परमारवंशीय के कारण ही पड़ा और बहुत करके यही उसका स्थापित करनेवाला भी हो।"

डाक्टर बूहलर, जो परमार-वंशवृक्ष (एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द i. 223) के सर्व-प्रथम पुनः निर्माणकर्ता थे, चार अन्य साधनों के सदुपयोग एवं उदयपुर-प्रशस्ति और नागपुर-प्रशस्ति के आधार पर उदयादित्य की वंशावली इस प्रकार लिखते हैं—

उदयपुर-प्रशस्ति	नागपुर-प्रशस्ति
सिंधुराज	सिंधुराज
|	|
भोज	भोज
|	|
उदयादित्य	उदयादित्य

उपर्युक्त वंशवृक्ष से सिद्ध हो गया कि बूहलर भी उदयादित्य को भोज का लड़का ही मानता है। ऐसे मामलों में प्राचीन संवादों (चली आई हुई बातों) को तब तक नहीं अस्वीकार किया जा सकता जब तक कि वे गलत साबित न कर दिए जायँ। सभी व्याव-

हारिक कार्य के लिये उदयादित्य भोज का लड़का माना गया है क्योंकि इसी ने भोज के शत्रुओं को परास्त किया और भोज की प्रतिष्ठा एवं उसका नाम रखा और अपने वंश के स्वातंत्र्य को स्थिर रखा। यह दंतकथा मैं इसी लिये मानता हूँ और मैंने लिखा भी है कि उदयादित्य ही भोज के बाद गद्दी पर बैठा; वही उसका लड़का एवं उत्तराधिकारी था। हैदराबाद रियासत से जो १६३१ में लेख निकला एवं प्रकाशित हुआ (A. R. A. D. Nizam's Dominions for 1337 F—1927-28) वह पहले मेरे हाथ में नहीं आया। उससे भोज और उदयादित्य का ठीक संबंध प्रकट हो जाता है। इससे हमारी सारी शंका साफ हो जाती है। वास्तव में नागपुर के लेख में भी "संबंध" साफ साफ दिया हुआ है लेकिन उसमें कथित "बंधु" शब्द का अर्थ विद्वानों ने "रिश्तेदार" लिया है। उसका वास्तविक अर्थ भाई ही होता है। ३२वीं पंक्ति कविता ३२ में वर्णित कि "जब भोज इंद्र का साथी हो गया और समस्त साम्राज्य पादाक्रांत हो गया तब उसका बंधु उदयादित्य राजा हुआ। राजाओं से त्रस्त वसुधा को अपने हाथ में कर और कर्णो से राज्य लेकर—जो करनाटाज (Karnatas) के साथ मिल गया था—अगाध समुद्र की तरह सुशोभित हुआ। राजकुमार ने उस समय सचमुच पवित्र वाराह (Holy Boar) की तरह कार्य संपादन किया था।"

यह सब संदर्भ उदयादित्य को गद्दी पर बैठानेवाले राजा भोज का है और इसी अर्थ में डाक्टर बूहलर और कीलहॉर्न ने इसे लिया है। लेकिन मिस्टर गांगुली इसे भोज के अज्ञात अनाम किसी पुत्र का संदर्भ मानते हैं, जो असंभव है। संस्कृत व्याकरण को एक तरफ पटकते हुए भी यह विचार हमें इस निर्णय पर पहुँचा देगा कि उदयादित्य भोज का नहीं वरन् उसके अनाम पुत्र का भाई था अर्थात् उदयादित्य भी भोज का ही लड़का हुआ। इससे नवीन

खोज में प्राप्त जैनद शिलालेख से, जो उदयादित्य के समकालीन सेनापति का है, यह पता चलता है कि जगद्देव, उदयादित्य का लड़का और पिता की ओर से भोज का भतीजा था। इन दोनों ने राजा की पदवी पाई (वसुधाधिपत्यप्राप्तप्रतिष्ठौ)। भोज जो जगद्देव का पितृव्य (यस्य देवः पितृव्यः स च भोजराजः) होता है, उदयादित्य का भाई होना ही चाहिए। इस हिसाब से नागपुर-प्रशस्ति में भोज का "बंधु" लिखा जाना बिलकुल ठीक है। नागपुर के लेखों में इस वंश के सभी राजाओं के ठीक ठीक संबंध दिए गए हैं इसलिये यहाँ बंधु शब्द से ठीक ठीक रिश्तेदारीवाला साफ साफ अर्थ प्रकट हो ही जाता है। इस प्रकार उदयादित्य राजा भोज का लघु-बंधु हुआ जो भोज के बाद अवतरित हुआ।

उदयपुर-प्रशस्ति से उपेंद्रराज से लगाकर भोज तक का कौटुंबिक इतिवृत्त मालूम होता है। उदयादित्य, जो भोज के बाद गद्दी पर बैठा, १६-२० तक की कविताएँ भोज के लिये लिखता है। यह वर्णन सबसे लंबा है जिसमें उसके कार्य—सैनिक एवं सामाजिक, साहित्यिक एवं धार्मिक सभी—वर्णित हैं। और २१-२२ तक की कविता में उसने बताया है कि भोज के शत्रुओं से उसने राज्य किस तरह बचाया। मुख्य उद्देश्य तो भोज की महत्ता और उसकी सेवाएँ हैं और यह कार्य इतने उत्साह से किया गया कि इसमें बूहलर को भी चिढ़ हो गई। (उदयपुर-प्रशस्ति के सिंधुराज के लड़के भोज के बयान तो बहुत ही अजीब हैं) यदि उदयादित्य भोज की कीर्ति को अमर नहीं बनाना चाहता था तो फिर उसने इतना लिख क्यों डाला ?

भोज के लड़के जयसिंह की तख्तनशीनी के वर्णन को लीजिए। हमारे पास उस संबंध के दो लेख हैं जिनमें १११२ से १११६ संवत् तक लिखा है (१०५५ से १०५९ ईस्वी), मंदिर के प्रारंभ

के लिये गर्दे साहब ने १०५६ ईस्वी दी है और काम खतम होने की तारीख १०८० ई० दी है। वास्तव में उदयादित्य १०८०-८१ ईस्वी तक राज्य कर रहा था (E. I. iii 48)। भोज वास्तव में १०५५ ई० में या इसके पहले मरा। यद्यपि जयसिंह ने १०५५ से १०५६ ई० तक राज्य किया तो भी इससे वह बात अग्राह्य नहीं कही जा सकती कि उदयादित्य ने, मालवा के राजा की हैसियत से मंदिर-निर्माण का कार्य १०५६ ई० में आरंभ किया। मि० गांगुली का यह ख्याल कि "मालवा के राजा की हैसियत से उदयादित्य ने कभी उदयपुर का मंदिर बनवाया ही नहीं, क्योंकि १०५६ में जयसिंह वहाँ का राजा था" बिलकुल अग्राह्य है। १०५६ ई० वाला साल तो जयसिंह के राज्य का अंत और उदयादित्य के राज्य का आरंभ दोनों को बता रहा है।

यद्यपि हमें अब इससे आगे बढ़ने की आवश्यकता नहीं तथापि इतना तो और कहना ही ठीक है कि जयसिंह का राज्य केवल नाम-मात्र का राज्य था और वह देश के थोड़े ही हिस्से पर था। जयसिंह, जैनद लेखों के अनुसार (Arch. Annual Report of Hyderabad, 1337 F., page 24), उदयादित्य के आधिपत्य में ही अरबूदा नामक स्थान पर लड़ा था, ठीक वैसे ही जैसे उदयादित्य का लड़का जगद्देव दक्षिण में लड़ा था। उदयादित्य के कुटुंब ने कभी जयसिंह को भोज का उत्तराधिकारी या स्वतंत्र राजा नहीं माना। अंत में कीलहॉर्न लिखते हैं कि वह उदयादित्य ही था "जिसने भोजदेव की मृत्यु के समय की संकटावस्था का अंत किया"। जयसिंह आधिपत्य की दशा को ही स्वीकार कर सका था।

मैं गांगुली महाशय को इसलिये धन्यवाद देता हूँ कि उनके इस सवाल के उठाने से जैनद लेख के प्रकाश में हमें भोज और उदयादित्य के वास्तविक संबंध को निश्चित करने का मौका मिल

गया। हाँ, यह ठीक है कि इससे मेरे उदयपुरवाले मंदिर पर लिखे गए पर्चों पर कोई असर न हुआ, न संशोधन ही करना पड़ा।

टि०—उदयेश्वर मंदिर के पूरा बन जाने की तारीख लेखानुसार संवत् ११३७ वैशाख सुदी सप्तमी लिखी है—"श्रीमदुदयेश्वरदेवस्य ध्वजारोहः संपूर्णः। मंगलं महाश्रीः।"

मंदिरारंभ और पताका-आरोहण का यह लेख मंदिर के पूर्वीय भाग के एक पत्थर पर खुदा है। इसमें संदेह नहीं कि मि० गांगुली इस लेख से अनभिज्ञ थे, क्योंकि इसे कीलहॉर्न भी भूल गए हैं (Indian Antiquary XX 83)।—के० पी० जायसवाल।

(१६) जटमल की गोरा बादल की बात

क्या वह गद्य में है ?

[लेखक—श्री नरोत्तमदास स्वामी एम० ए०, विशारद, बीकानेर]

जटमल की **गोरा-बादल की बात** हिंदी-साहित्य की एक सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण रचना है। हिंदी भाषा और हिंदी-साहित्य के इतिहास में उसका विशेष महत्त्व है जिसका कारण यह है कि वह खड़ी बोली में लिखी गई है। इससे पूर्व की खड़ी बोली की रचनाएँ, विशेषकर हिंदू लेखकों द्वारा लिखित, बहुत ही कम मिलती हैं। इतनी बड़ी पहली रचना तो संभवतया यही है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह रचना बड़ी सुंदर है। वीररस की ऐसी फड़कती हुई रचना हिंदी में शायद ही दूसरी हो।

गोरा-बादल की बात का एक और महत्त्व हिंदी-साहित्य के इतिहास में है। वह यह कि हिंदी में प्राचीन काल की जो एकाध गद्य-रचनाएँ मिलती हैं उनमें यह भी एक है। **गोकुलनाथ** की **वैष्णवन की वारताओं** को छोड़कर यह उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, और संभवतः सबसे बड़ी भी, है। खड़ी बोली के गद्य की तो एक ही रचना ऐसी है जो इससे पूर्व की है और वह है **गंगा भाट** की **चंद छंद बरनन की महिमा**।

हिंदी के विद्वानों में अभी तक ऐसा ही प्रसिद्ध है। उनकी धारणा यही है कि जटमल ने अपनी यह कृति गद्य में लिखी थी। हिंदी की हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की अधीनता और देख-रेख में होती है। उसकी रिपोर्ट भी प्रकाशित होती है। सन् १९०१ की रिपोर्ट में इस कृति के विषय में इस प्रकार लिखा है—

No. 48—गोरा बादल की कथा—Prose and verse. Substance—country-made paper. Leaves—43. Size—9½″ × 7½″. Lines 30 to page. Extent—1000 slokas. Appearance—Ordinary. Complete. Incorrect. Character—Devanagari. Place of deposit—Asiatic Society of Bengal, Calcutta.

The story of Ratanasena and Padmavati, and, connected with it, that of Gora and Badal, who animated by the noble sentiment of patriotism and honour, sacrificed themselves (?) for the cause of their chief, their queen, and their country. Written in Samvat 1680 (A. D. 1923).

Beginning—श्रीरामजी प्रसन्न होये। श्रीगनेसाये नमः। लछमीकांत। हे वात कीसा चित्तौड़ के गोरा बादल हुआ है जीनकी वारता की कीताब हींदवी में बनाकर तयार करी है॥

सुक सपेत दायेक सकल सींद बुद सहेत गनेस।
वीगण वीजरला वीनसो वेलो तुज परणमेस॥ १॥
जगमल वाणी सरस रस कहता सरस वरंद।
चइवाण कुल उवधारो हुवा जु वाचावंद[1]॥ २॥

End—गोरे की आवरत आवेसा वचन सुनकर आपने खावंद की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सीवपुर में जाके वाहा दोनों मेले हुवे॥ १४४॥ गोराबादल की कथा गुरू के वस सरस्वती की महरबानगी से पुरन भई तीस वास्ते गुरुकू व सरस्वतीकू नमस-

(१) पहले तो प्रति का पाठ ही शुद्ध नहीं फिर यह अवतरण लेनेवाले ने तो कमाल किया है। यही कारण है कि इस अवतरण का, विशेषतः इन पद्यों का, पाठ अत्यंत भ्रष्ट है।—लेखक।

कार करता हु ॥ १४५ ॥ ये कथा सोलसे आसी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई । ये कथा में दो रसे ह वीरारस व सीनगार रस हे सो कथा ॥ १४६ ॥ मोरछडो नाव ग़ाव का रहनेवाला कवेसर जगहा उस गाव के लोग भोहोत सुकी हे, घर घर में आनंद होता है । कोई घर में फकीर दीषता नहीं ॥ १४७ ॥ उस जग आली षान बाबा राज करता हे मसीह वाका लड़का हे सो सब पटानों में सरदार है जयेसे तारों में चंद्रमा आयेसा वो हे ॥ १४८ ॥ धरमसी नाव का वेतलीन का बेटा जटमल नाव कवेसर ने ये कथा सवल गाँव में पुरण करी ॥ १४९ ॥

हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत मिश्रबंधु अपने मिश्रबंधुविनोद में लिखते हैं—

२५५ जटमल—इस कवि ने संवत् १६८० में गोरा-बादल की कथा गद्य में कही और इस भाषा में खड़ी बोली का प्राधान्य है। अतः खड़ी बोली प्रधान गद्य का, गंगा भाट के पीछे, सबसे प्रथम रचयिता यही जटमल कवि है। (खोज १९०१)[1]

मिश्रबंधुविनोद में भी इस कथा का एक उद्धरण दिया गया है जो इस प्रकार है—

गोरा-बादल की कथा गुरू के बस सरस्वती के महरबानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरू कू व सरस्वती कू नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोलसे आसी के साल में फागुन सुदो पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस हे वीरारस व सीनगार रस हे सो कथा। मोरछड़ो नाव गाव का रहनेवाला कबेसर जगहा उस गाँव के लोग भोहोत सुको हे घर घर मे आनंद होता है कोई घर में फकीर दीषता नहीं। धरमसी नाव का वेतलीन का बेटा जटमल नाव कबेसर ने ये कथा सवल गाँव में पूरन करी[1]।

---

(१) मिश्रबंधुविनोद, भाग १, पृष्ठ ३७२।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में इस संबंध में इस प्रकार लिखते हैं—

संवत् १६८० में मेवाड़ के रहनेवाले जटमल ने गोरा-बादल की जो कथा लिखी थी वह कुछ राजस्थानीपन लिए खड़ी बोली में थी। भाषा का नमूना देखिए[1]।

इसके आगे मिश्रबंधु-विनोद में दिया हुआ उक्त अवतरण कुछ पाठ-भेद के साथ दिया गया है (अंतिम वाक्य छोड़ दिया गया है।)

स्वनामधन्य रायबहादुर आचार्य श्यामसुंदरदास अपने हिंदी-भाषा और साहित्य नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

इसी प्रकार १६८० में जटमल ने 'गोरा-बादल की कथा' भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है, जिसकी बानगी यह है—"चित्तौड़गढ़ के गोरा-बादल हुआ है जिनकी वीरता की किताब हिंदवी बनाकर तयार करी है[2]।"

इस प्रकार हिंदी के विद्वान् इसे गद्य-रचना ही मानते आए हैं और अब भी मानते हैं। पिछले कई वर्षों में हमें राजस्थान की हस्त-लिखित पुस्तकों के कतिपय भंडारों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन भंडारों में जटमल-रचित गोरा-बादल की बात की अनेक प्रतियाँ हमें देखने को मिलीं पर देखने पर ज्ञात हुआ कि वे सबकी सब पद्य में हैं। हमने इस विषय में विशेष ध्यान रखा कि संभव है कि गद्य में लिखित वार्त्ता भी कहीं मिल जाय। परंतु हमारे बहुत प्रयत्न करने पर भी ऐसी कोई प्रति देखने में नहीं आई। पद्यात्मक प्रतियों में लेखक का नाम जटमल लिखा है और उसका परिचय भी ठीक वैसा ही है जैसा कि ऊपर के उद्धरणों में है। (केवल गद्य की जगह पद्यों में दिया हुआ है।) हमने हिंदी के अनेक

---

(१) हिंदी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४७२।

(२) हिंदी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १२० (पृष्ठ ४६० भी)।

विद्वानों से पूछ-ताछ भी की पर सबसे यही उत्तर मिला कि जटमल की गद्य-वार्त्ता उनके देखने में नहीं आई। हिंदी-साहित्य के इतिहासों एवं अन्य पुस्तकों में जो अवतरण दिए गए हैं उन सबका आधार नागरीप्रचारिणी सभा की खोज की रिपोर्ट ही है—हम इसी परिणाम पर पहुँचे। केवल रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदासजी ने हमें सूचित किया कि उन्होंने जटमल का ग्रंथ गद्य में लिखा हुआ देखा है। उन्होंने यह भी सूचित किया कि उक्त गद्य-वार्त्ता बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में सुरक्षित है (जैसा कि रिपोर्ट में भी लिखा है)। इस पर हमने नागरीप्रचारिणी-सभा के द्वारा उक्त सोसाइटी को इस वार्त्ता की प्रतिलिपि भिजवाने के लिये लिखवाया पर सोसाइटी की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला।

अब हम इसी निश्चय पर पहुँचे कि जटमल की गोरा-बादल की बात नामक वार्त्ता पद्य में ही लिखी गई थी न कि गद्य में। हमारे इस निश्चय के आधार नीचे लिखे अनुसार थे—

(क) जटमल की उक्त वार्त्ता की अनेक हस्त-लिखित प्रतियाँ हमारे देखने में आईं पर वे सबकी सब, बिना किसी अपवाद के, पद्य में थीं। उन सबमें रचयिता का नाम स्पष्टतया जटमल लिखा हुआ था और उसका परिचय भी ठीक वैसा ही था जैसा कि सभा की खोज की रिपोर्टवाले अवतरण में।

(ख) बहुत खोज करने पर भी किसी गद्यात्मक प्रति का पता नहीं चला। एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में गद्यात्मक प्रति का होना बताया जाता था पर बारबार पत्र लिखने पर भी सोसाइटी चुप्पी साधे बैठी थी।

(ग) सोसाइटीवाली प्रति के अंतिम भाग का जो अवतरण खोज की रिपोर्ट में लिया गया है उसके बीच बीच में,

दुहरी पाइयों के बीच में, अंक दिए हुए हैं जिससे स्पष्टतया सिद्ध होता है कि वह अवतरण कतिपय पद्यों का अनुवाद है जिनकी संख्या इन अंकों द्वारा सूचित होती है।

(घ) हमने अनुमान किया कि सोसाइटीवाली प्रति में मूल वार्त्ता और साथ ही साथ उसका अनुवाद, दोनों दिए हुए हैं। सभा की रिपोर्ट भी उसे गद्य-पद्यात्मक (Prose and Verse) बतलाती है जिससे उसमें पद्यों का होना तो निःसंदिग्ध है।

(ङ) अन्य प्राप्त प्रतियों से, जो सभी पद्यात्मक हैं, पद्यात्मक वार्त्ता का रचयिता जटमल ठहरता है अतः इस प्रति का केवल पद्यात्मक अंश ही जटमल का है और गद्यानुवाद किसी ने पीछे से जोड़ दिया है। यदि पद्यवार्त्ता के साथ साथ गद्य भी जटमल का होता तो वह सब प्रतियों में, नहीं तो कम से कम एकाध और प्रति में तो अवश्य, पाया जाता। पर इस गद्य का अस्तित्व सोसाइटीवाली प्रति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

(च) उक्त खोज की रिपोर्ट में आरंभ का जो अवतरण दिया गया है वह भी पीछे का जोड़ा हुआ जान पड़ा। इसमें पहले मंगलाचरणवाला जो दोहा है वह हेमरतन[1] नामक जैन कवि की गोरा-बादल-चउपई नामक ग्रंथ का पहला दूहा है। बाद में किसी ने भूल से, या अन्य किसी कारण से, उसे जटमल की वार्त्ता में जोड़ दिया है। इसके आगे जो दोहा है वह भी बाद में जोड़ा हुआ जान पड़ा क्योंकि उसमें जटमल की प्रशंसा की गई है। हमारी उपलब्ध प्रतियों में से (घ) प्रति में, जो स्पष्टतः बहुत

(१) यह कवि जटमल से पहले महाराणा प्रताप के समय में हुआ था। प्रताप के सुप्रसिद्ध मंत्री भामाशाह का अनुज ताराचंद इसका आश्रयदाता था। उसने अपना यह ग्रंथ संवत् १६४५ में, जटमल की वार्त्ता के ३५ वर्ष पहले, समाप्त किया था।

बाद की है, आरंभ में चार दोहे ऐसे पाए जाते हैं जो अन्य प्रतियों में नहीं मिलते (इनमें से दो दोहे वही हैं जो खोज की रिपोर्ट के अवतरण में हैं)। वहाँ भी ये बाद में जोड़े हुए ही जान पड़े क्योंकि इन दूहों के बाद फिर मंगलाचरण का दोहा आता है (जिससे अन्य प्रतियों की कथा आरंभ होती है)। कोई भी कवि एक बार मंगलाचरण करके कथा का आरंभ करने के बाद दुबारा मंगलाचरण नहीं करेगा।

गत श्रावण मास में मुझे बीकानेर राज्य के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर श्रीयुत ठाकुर रामसिंहजी एम० ए० के साथ कलकत्ते जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वहाँ हमने सोसाइटीवाली प्रति को देखकर अंतिम निर्णय कर लेने का निश्चय किया। सोसाइटी में जाकर हमने कार्य-कर्त्ताओं से पूछ-ताछ की पर उस प्रति का कहीं पता न चला। सूचियों में भी वह दर्ज की हुई नहीं पाई गई। निराश होकर हमने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत पूर्णचंद्रजी नाहर बी० ए०, बी० एल० की सहायता ली। पता चला कि सोसाइटी के पुस्तकालय में कुछ हस्तलिखित ग्रंथ ऐसे भी हैं जिनकी सूचा बनी हुई नहीं है। बड़ी कठिनता से, रिपोर्ट में उल्लिखित, गोरा-बादल की बात की प्रति को प्राप्त करने में हम समर्थ हुए[1]। देखने पर ज्ञात हुआ कि हमारा अनुमान सर्वांश में ठीक था। यह प्रति कोई १००-१२५ वर्ष की पुरानी है और एटकिनसन नामक साहब के पास इंदौर

---

(१) इस संबंध में सोसाइटी के संस्कृत-विभाग के पंडित महोदय विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं। आपकी कृपा से ही अनेक पुस्तकों के ढेर में इस प्रति का पता मिलना संभव हुआ। अब यह ग्रंथ सूची के रजिस्टर में दर्ज हो चुका है और इसका नंबर H/34 है।

राज्य के रेजिडेंट ई० वेलेजली एस्कायर द्वारा तैयार करवाकर भेजी गई थी[1]।

इस प्रति का प्रत्येक पृष्ठ दो स्तंभों में विभक्त है। पहले अर्थात् बाएँ स्तंभ में जटमल की वार्त्ता का मूल पद्य-भाग दिया हुआ है और दूसरे, दाहिने, स्तंभ में इस वार्त्ता का गद्यानुवाद। पद्यभाग थोड़े ही पृष्ठों में समाप्त हो गया है पर गद्यानुवाद लंबा होने के कारण आगे और कई पृष्ठों तक चला गया है। इन पृष्ठों में पद्योंवाला बायाँ स्तंभ कोरा छूटा हुआ है। गद्यानुवाद में पद्य की संख्या के अनुसार अंक भी दिए हुए हैं। आरंभ में मूल वार्त्ता के पहले कुछ गद्य-पद्यात्मक अंश प्रस्तावना-रूप में है जिसका कम से कम गद्य-भाग अनुवादक की कृति जान पड़ता है। सभा की खोज की रिपोर्ट के लिये अवतरण लेनेवाले ने आरंभ और अंत के जो अंश लिए हैं वे दोनों ही जटमल की रचना नहीं—आरंभ का अंश तो अनुवादक की ओर से जोड़ा हुआ प्रस्तावना-भाग है और अंतवाला अंश गद्यानुवाद का है।

इस प्रकार अवतरण लेनेवाले महाशय की भूल के कारण हिंदी-संसार में यह भ्रांति फैल गई कि जटमल सत्रहवीं शताब्दी का खड़ी बोली का गद्य-लेखक है और उसकी गोरा-बादल की बात खड़ी बोली की प्रारंभिक गद्य-रचनाओं में है।

---

(१) Sent by E. Wellesely, Esquire, Resident at Indore to Mr. Atkinson. Received June 2nd, 1824. Legend of Padmini, wife of Ranah of Chitore, including attack on Chitorgarh by Alauddin, on her account and the actions of Gora and Badal in her defence. The original version is in a mixed Hindooee provincial dialect as given in one column. The other column is a version in ordinary Hindooee.

यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जटमल की मूल वार्त्ता पद्य में थी। पर इस गद्यानुवाद का कर्त्ता कौन है? जटमल इसका कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि जटमल होता, तो पद्यवार्त्ता की प्रतियों के साथ यह गद्य भी मिलता (सबमें नहीं तो कुछ में तो अवश्य); अथवा गद्यात्मक वार्त्ता की प्रतियाँ भी यत्र-तत्र मिलतीं। पर सिवा सोसाइटी की प्रति के गद्यात्मक वार्त्ता की कोई प्रति नहीं मिलती। अतः यही संभव जान पड़ता है कि जिसने यह प्रति तैयार करवाई है, गद्यानुवाद भी उसी का तैयार कराया हुआ है। अतः यह सत्रहवीं शताब्दी का न होकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है। ऊपर लिखा जा चुका है कि यह प्रति इंदौर राज्य के रेजिडेंट ने एटकिनसन साहब के लिये तैयार करवाई थी। प्रति के अंत में जो अँगरेजी लेख है (यह पीछे उद्धृत किया जा चुका है) उसमें स्पष्ट लिखा है कि मूल कथा केवल पहले स्तंभ में दी गई है और दूसरे स्तंभ में साधारण (तत्कालीन बोलचाल की) हिंदुई में उसका रूपांतर दिया गया है। बहुत संभव है कि उक्त साहब के समझने के लिये यह गद्यात्मक रूपांतर किसी स्थानीय पंडित द्वारा तैयार करवाया गया हो। फिर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यदि कोई प्राचीन लेखक यह अनुवाद करता तो अपना नाम और परिचय भी आरंभ या अंत में देता, पर इस प्रति में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

सारांश

(१) जटमल ने अपनी गोरा-बादलरी बात नामक वार्त्ता खड़ी बोली के गद्य में नहीं किंतु खड़ी बोली-मिश्रित राजस्थानी के पद्य में लिखी थी।

(२) अतः उक्त वार्त्ता खड़ी बोली की प्रारंभिक गद्य-रचनाओं में परिगणित नहीं की जा सकती और हिंदी-साहित्य के इतिहास-कारों का जटमल को गद्य-लेखक मानना भूल है।

(३) एशियाटिक सोसाइटी की प्रति का गद्यानुवाद, और खोज की रिपोर्ट में उद्धृत गद्यांश, जटमल की रचना नहीं है और न वह सत्रहवीं शताब्दी के खड़ी बोली-गद्य का नमूना कहा जा सकता है।

(४) यह गद्यानुवाद संभवत: उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की रचना है।

इतना होने पर भी इस वार्त्ता का मूल्य कम नहीं हो जाता। खड़ी बोली के इतिहास में और खड़ी बोली की रचनाओं में इसका स्थान सदा महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। हिंदी में जो दो-चार गिनी-चुनी वीररस की रचनाएँ हैं उनमें इसका स्थान बहुत ऊँचा होगा इसमें भी कोई संदेह नहीं। यह एक प्रकार का लोक-गीत (Ballad) है जिसमें कृत्रिमता और साहित्यिक आडंबर का प्राय: अभाव है।

---

(२०) शाहनामा में भारत की चर्चा

[लेखक—श्री शालिग्राम श्रीवास्तव, प्रयाग]

शाहनामा फारसी भाषा का एक वीररस-प्रधान महाकाव्य है, जिसकी रचना ईरान के जगद्विख्यात महाकवि फिरदौसी ने ग्यारहवीं शताब्दी में की थी। यह प्रकांड ग्रंथ चार बड़े बड़े खंडों में विभाजित है, जिनमें लगभग साठ हजार बैत हैं। इसको ईरान का महाभारत कहना चाहिए, जिसमें उस देश के पुराने नरेशों का चरित, अरबों के आक्रमण तक का, बड़े ओजस्वी शब्दों में वर्णन किया गया है और जो अधिकांश वहाँ के गृहयुद्ध का वृत्तांत है।

यह सच है कि उक्त पुस्तक में बहुत सी ऊटपटाँग बातें भी भरी हुई हैं, जिन पर विश्वास करना कठिन है, परंतु उनके साथ साथ यत्र-तत्र बहुत कुछ ऐतिहासिक तत्त्व का भी समावेश है।

पिछले दिनों हमें इसके अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ। जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, यह पुस्तक विशेषतया ईरान का ऐतिहासिक काव्य है, फिर भी बीच बीच में प्रसंगवश कहीं कहीं हमारे देश की भी चर्चा आई है। अतः हम इस लेख में केवल उसी अंश को उद्धृत करके यह दिखलाना चाहते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से उनका मूल्य क्या है?

(१) तीसरे खंड के पृ० ११६-१२५[1] में लिखा है कि "सिकंदर जब हिंदुस्तान पर आक्रमण करने को था तो इस देश का एक राजा, जिसका नाम कवि ने 'कैद हिंदी' लिखा है, निरंतर दस रातों तक विचित्र स्वप्न देखता रहा। उसने एक चतुर ज्ञाता से

---

(१) हमने इस लेख में नवलकिशोर प्रेस के सन् १८८४ के संस्करण के पृष्ठ का पता लिखा है।—लेखक।

उनका आशय पूछा। उसने विचार कर बतलाया कि यहाँ सिकंदर नामक एक महाप्रतापी नरेश रूम और ईरान से दल-बादल सेना लेकर आनेवाला है। तुम उससे युद्ध न करना, किंतु चार अनुपम वस्तुओं को, जो तुम्हारे पास हैं, भेंट करना। तदनुसार कैद ने सिकंदर से पत्र-व्यवहार करके वे चारों चीजें उसको भेंट कर दीं। उनमें से एक तो उसकी रूपवती कन्या थी, दूसरा उसका एक दार्शनिक विद्वान्, तीसरा एक चतुर वैद्य और चौथा एक ऐसा विलक्षण पात्र था, जिसका जल आग या धूप से गर्म नहीं होता था और न पीने से कम होता था। इसके पश्चात् सिकंदर ने पंजाब पर चढ़ाई की। पहले वहाँ के राजा 'फोर' को धमकी देते हुए लिखा कि यदि अपना कुशल चाहते हो तो हार मानकर तुरंत चले आओ नहीं तो तुम्हारा अनिष्ट होगा। फोर ने इसका बड़ा कठोर उत्तर दिया। उसने लिखा कि तुम मुझे इस अपमान के साथ बुलाते हो। तुमको लज्जा नहीं आती। दारा को जीतकर और कैद से मिलकर तुम्हारे हौसले बहुत बढ़ गए हैं। यदि तुम लड़ना चाहते हो तो यहाँ भी विशाल सेना तैयार है। यह सुनकर सिकंदर ने फोर से घोर युद्ध किया, जिसमें अंत में फोर वीरगति को प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् सिकंदर ने उसके लड़के को, जिसका नाम 'स्वर्ग' था, गद्दी पर बैठाया और स्वयं जलमार्ग से अरब की ओर चला गया।"

यह तो हुआ शाहनामा का वर्णन। इतिहासों में लिखा है कि "जब सिकंदर यहाँ आया था तो उस समय पंजाब अनेक छोटी छोटी रियासतों में विभक्त था, जिनमें परस्पर कलह और द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। अतः तक्षशिला के राजा 'आंभी' ने, जिसका नाम फिरदौसी ने 'कैद हिंदी' लिखा है, सिकंदर का खूब आगत-स्वागत किया और उसकी सेना को रसद-पानी पहुँचाया। इतना ही नहीं, किंतु उसने पाँच हजार सैनिकों से भी सिकंदर को

सहायता दी, जिनको लेकर उसने पंजाब पर चढ़ाई की। वहाँ के राजा 'पोरस' अथवा 'पुरु'—या शाहनामा के अनुसार 'फोर'—ने बड़ी वीरता से सिकंदर के साथ युद्ध किया, परंतु संयोगवश रणक्षेत्र में हाथी के बिगड़ जाने से उसकी हार हो गई और वह अत्यंत घायल हो गया। सिकंदर पोरस का भीमकाय शरीर तथा उसकी निर्भीकता देखकर मुग्ध हो गया और उसका राज्य उसको लौटा दिया[1]।"

इसमें न तो आंभी के कन्यादान की चर्चा है और न पोरस के मारे जाने की, जैसा कि फिरदौसी ने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लिखा है।

(२) शाहनामा के इसी खंड के पृष्ठ १३४ में वर्णित है कि "सिकंदर अपने तत्त्वदर्शी विद्वानों को साथ लेकर ब्राह्मणों के देश में गया, जो पर्वत पर एकांतवास करते थे और फल तथा घास के बीज खाते थे और पत्ते पहनते थे। सिकंदर ने उनसे कई प्रश्न किए, जिनके उचित उत्तर पाकर वह संतुष्ट होकर चला गया।"

इसका कुछ संकेत इतिहास के इस वर्णन में पाया जाता है, जिसमें लिखा है कि "सिकंदर पंजाब से लौटते हुए पाटला पहुँचा जो 'बहमनाबाद' के निकट था[2]।"

संभव है, फिरदौसी ने इसी बहमनाबाद को "ब्राह्मणों का देश" लिखा हो।

(३) इसी खंड के पृष्ठ १४५ में है कि "सिकंदर ने चीन से लौटकर सिंधवालों से युद्ध किया, जिसमें सिंधियों की हार हो गई थी।"

इसकी पुष्टि इतिहास के इस वर्णन से होती है कि "सिकंदर जब जल-मार्ग द्वारा ईरान को लौट रहा था तो सिंध के ऊपरी भाग की

---

(१) देखो Early History of India by Vincent A. Smith, Chapter III.

(२) Abid, Chapter IV.

कई जातियों से उसका घोर युद्ध हुआ, जिनमें मालव जातिवालों का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है, परंतु अंत में वे सब पराजित हो गए।"

(४) फिर आगे पृष्ठ १६८ में लिखा है कि "ईरान का बादशाह 'अर्द शेर' अपने घरेलू झगड़ों से बहुत खिन्न हो रहा था। उसने कैद हिंदी के पास बहुत से घोड़े, अशर्फियाँ तथा चीन के रेशमी वस्त्र इत्यादि भेंट के रूप में भेजे और पूछा कि इस झंझट से मेरा कब छुटकारा होगा ? कैद ने ज्योतिष से विचार कर उसका उत्तर कहला भेजा।"

(५) इसके आगे पृष्ठ २४८-२६० में लिखा है कि "एक बार ईरान का बादशाह 'बहराम' दूत का वेश धारण करके स्वयं अपना पत्र लेकर कन्नौज के राजा "शिंगल" के पास आया। शिंगल ने उसकी वीरता की अनेक प्रकार से परीक्षा ली, जिसमें वह पूरा उतरा। इस पर शिंगल ने अपनी कन्या बहराम को ब्याह दी और उससे कहा कि अब तुम ईरान मत जाओ; परंतु बहराम कुछ दिन पीछे अपनी स्त्री सहित छिपकर भाग गया। उसका कुछ दूर तक पीछा करके शिंगल लौट आया। इसके पीछे शिंगल और बहराम से ईरान में अन्य सात बादशाहों के साथ फिर भेंट हुई। इसके पश्चात् शिंगल कन्नौज का राज्य अपनी लड़की के नाम लिखकर हिंदुस्तान लौट आया। फिर उसके पीछे बहराम ने शिंगल के द्वारा यहाँ से कुछ गवैयों को ईरान बुलवाया।"

इतिहास से इस घटना का कोई साक्ष्य नहीं मिलता, किंतु यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब स्वयं फिरदौसी के कालगणनानुसार बहराम चौथी शताब्दी के अंत में हुआ था—जब कि कन्नौज का कोई राज्य ही न था, किंतु वह मगध साम्राज्य के अंतर्गत था—तब फिर वहाँ के किसी राजा से बहराम का समागम क्योंकर संभव

(१) Early History of India by V. A. Smith, Chapter IV.

है ? जान पड़ता है, फिरदौसी ने इस वार्ता को भी किसी से यों ही सुनकर लिख दिया है, जैसा कि अपनी पुस्तक के अंत में उसने स्वयं लिखा है—

"सर आमद कुनूँ बरमन ईं दास्ताँ।
कि बशुनीदम अज़ गुफ़्तये पास्ताँ[1] ॥"

अर्थात् अब यह कथा समाप्त हुई, जैसी कि मैंने पुराने लोगों से सुनी थी।

सर जॉन मालकम ने ईरान के इतिहास में लिखा है कि "वहाँ के इतिहासकारों ने बहराम के विजय की, जो उसने हिंदुस्तान में की थी, एक बड़ी लंबी-चौड़ी कहानी लिखी है। वे लोग लिखते हैं कि बहराम भेस बदलकर भारत में गया था, इत्यादि, पर यह ऐसी (प्रामाणिक) बात नहीं है कि इसकी चर्चा की जाय[1]।"

फिर कुछ आगे चलकर मालकम साहब लिखते हैं कि "बहराम जंगलों में घूमने-फिरने से बहुत प्रसन्न रहता था और इसी स्वभाव के कारण वह कहानी गढ़ी गई है जिसमें उसके हिंदुस्तान जाने की चर्चा है[2]।"

(६) चौथे खंड के पृष्ठ ५२-६४ में है कि "कन्नौज के राजा ने नौशेरवाँ के पास शतरंज भेजा। वहाँ के लोग यह न समझ पाए कि वह कैसे खेला जाय। अतः उन्होंने बादशाह से एक सप्ताह की मुहलत ली; परंतु फिर भी वे नहीं समझ सके। तब नौशेरवाँ ने अपने दर्बार के प्रधान मंत्री तथा प्रसिद्ध विद्वान् बुजुर्च मिहर को

---

(१) देखो History of Persia by Sir Johan Malcolm—Vol. I, P. 93.

(२) Ibid, P. 95.

बुलाया। उसने कई दिन सोच-विचार करने के पश्चात् समझा। फिर उसके उत्तर में उसने नर्द (चौपड़) का आविष्कार किया और उसको कन्नौज के राजा के पास भेजा। यहाँवाले उसको नहीं समझ सके। बुजुर्च मिहर ईरान से साथ आया था। अंत में उसने खेलकर समझाया।"

इसी प्रसंग में यह भी लिखा है कि भारत में शतरंज का आविष्कार कैसे हुआ था। लिखा है कि "हिंदुस्तान में जमहूर नाम का एक महाप्रतापी राजा था। संदल उसकी राजधानी थी। उसकी रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम "गो" रखा गया। इसके पीछे शीघ्र ही पिता बीमार होकर मर गया और लड़के को उसकी माता के सिपुर्द कर गया। राजा के एक भाई का नाम माय था जो दंबर में रहता था। वह वहाँ से बुलाया गया और जमहूर की गद्दी पर बैठकर गो का पालन-पोषण करने लगा। फिर माय के यहाँ एक लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम तलहंद रखा गया। जब वह दो वर्ष का हुआ और गो सात वर्ष का, तब माय भी बीमार होकर मर गया। इस पर लोगों ने जमहूर की रानी को गद्दी पर बैठाया। जब वे दोनों लड़के युवा हुए तो उन दोनों में राज्य के लिये युद्ध हुआ, जिसमें अंत में तलहंद की मृत्यु हो गई। रानी ने गो को बुलाकर बहुत फटकारा कि तूने राज्य के लिये भाई को मार डाला। गो ने कहा—मैंने नहीं मारा; वह स्वयं मर गया है। रानी ने पूछा—कैसे? तब गो ने एक विद्वान् को बुलाया, उसने शतरंज की बिसात बिछाकर दोनों ओर के मुहरों को क्रमशः लड़ाना आरंभ किया और अंत में दिखलाया कि देखो इस प्रकार से तलहंद की मात हो गई थी।"

इसमें और तो कुछ पता नहीं चलता, पर "गो" का जो नाम आया है वह कहीं राजपूताने का "गोह" तो नहीं है, जिसकी चर्चा

टॉड राजस्थान में इस प्रकार आई है कि "मेवाड़ की पुरानी राजधानी वल्लभीपुर को नौशेरवाँ की सेना ने नष्ट कर डाला था, जिसमें वहाँ के अंतिम नरेश महाराज शीलादित्य मारे गए। उनकी गर्भवती रानी पुष्पावती भागकर पर्वत की एक गुहा में जा छिपी। वहाँ उसके एक पुत्र जनमा जिसका नाम "गोह" रखा गया। उसी के वंशज गहिलोत राजपूत कहलाते हैं।"

(७) इसी खंड के पृष्ठ ६४ से भारत के संबंध में एक और वर्णन आरंभ होता है। लिखा है कि "नौशेरवाँ के दर्बार में "बुजुर्च" नाम का एक धुरंधर विद्वान् था। एक दिन उसने बादशाह से कहा कि मैंने हिंदुओं की पुस्तकों में पढ़ा है कि उनके देश के पर्वतों में एक ऐसी दिव्य बूटी होती है जिसे यदि मृतक के मुँह में डाल दिया जाय तो वह बोलने लगता है। इसलिये आज्ञा हो तो मैं जाकर वहाँ से ले आऊँ। नौशेरवाँ ने कहा—यह असंभव है; फिर भी परीक्षा करनी चाहिए। फिर उस बूटी के लिये एक पत्र हिंदुस्तान के राजा के नाम लिखकर बुजुर्च को दिया और उसके साथ बहुत सा धन और तीन सौ ऊँटों पर अनेक प्रकार की भेंटें भेजीं, जिनमें बहुत से बहुमूल्य रत्न आदि थे। राजा ने बुजुर्च को अपने विद्वानों के साथ पर्वत पर एक ब्राह्मण के पास भेजा, जो अनेक प्रकार की बूटियों का ज्ञाता था। वहाँ बहुत सी बूटियों का, जो चमकती थीं, मुर्दों पर परीक्षण किया गया, पर कोई जीवित न हुआ। तब बुजुर्च ने निराश होकर एक वृद्ध से जाकर पूछा। उसने हँसकर कहा—भोले जिज्ञासु ! यह एक प्रकार का अलंकार है। वास्तव में बूटी विद्वान् और पर्वत बुद्धि है। मूर्ख मृतक के समान है जो बुद्धि से मानो जीवित हो जाता है। हमारे राजा के पास कलेला-दमना (करटक-दमनक) नामक एक पुस्तक है, जो बुद्धि का भंडार है। तुम उसी को लेने का उद्योग करो। बुजुर्च यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और

बुलाया। उसने कई दिन सोच-विचार करने के पश्चात् समझा। फिर उसके उत्तर में उसने नर्द (चौपड़) का आविष्कार किया और उसको कन्नौज के राजा के पास भेजा। यहाँवाले उसको नहीं समझ सके। बुजुर्चे मिहर ईरान से साथ आया था। अंत में उसने खेलकर समझाया।''

इसी प्रसंग में यह भी लिखा है कि भारत में शतरंज का आविष्कार कैसे हुआ था। लिखा है कि "हिंदुस्तान में जमहूर नाम का एक महाप्रतापी राजा था। संदल उसकी राजधानी थी। उसकी रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम "गो" रखा गया। इसके पीछे शीघ्र ही पिता बीमार होकर मर गया और लड़के को उसकी माता के सिपुर्द कर गया। राजा के एक भाई का नाम माय था जो दंबर में रहता था। वह वहाँ से बुलाया गया और जमहूर की गद्दी पर बैठकर गो का पालन-पोषण करने लगा। फिर माय के यहाँ एक लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम तलहंद रखा गया। जब वह दो वर्ष का हुआ और गो सात वर्ष का, तब माय भी बीमार होकर मर गया। इस पर लोगों ने जमहूर की रानी को गद्दी पर बैठाया। जब वे दोनों लड़के युवा हुए तो उन दोनों में राज्य के लिये युद्ध हुआ, जिसमें अंत में तलहंद की मृत्यु हो गई। रानी ने गो को बुलाकर बहुत फटकारा कि तूने राज्य के लिये भाई को मार डाला। गो ने कहा—मैंने नहीं मारा; वह स्वयं मर गया है। रानी ने पूछा—कैसे? तब गो ने एक विद्वान् को बुलाया, उसने शतरंज की बिसात बिछाकर दोनों ओर के मुहरों को क्रमशः लड़ाना आरंभ किया और अंत में दिखलाया कि देखो इस प्रकार से तलहंद की मात हो गई थी।''

इसमें और तो कुछ पता नहीं चलता, पर "गो" का जो नाम आया है वह कहीं राजपूताने का "गोह" तो नहीं है, जिसकी चर्चा

टॉड राजस्थान में इस प्रकार आई है कि "मेवाड़ की पुरानी राजधानी वल्लभीपुर को नौशेरवाँ की सेना ने नष्ट कर डाला था, जिसमें वहाँ के अंतिम नरेश महाराज शीलादित्य मारे गए। उनकी गर्भवती रानी पुष्पावती भागकर पर्वत की एक गुहा में जा छिपी। वहाँ उसके एक पुत्र जनमा जिसका नाम "गोह" रखा गया। उसी के वंशज गहिलोत राजपूत कहलाते हैं।"

(७) इसी खंड के पृष्ठ ६४ से भारत के संबंध में एक और वर्णन आरंभ होता है। लिखा है कि "नौशेरवाँ के दर्बार में "बुजुर्च" नाम का एक धुरंधर विद्वान् था। एक दिन उसने बादशाह से कहा कि मैंने हिंदुओं की पुस्तकों में पढ़ा है कि उनके देश के पर्वतों में एक ऐसी दिव्य बूटी होती है जिसे यदि मृतक के मुँह में डाल दिया जाय तो वह बोलने लगता है। इसलिये आज्ञा हो तो मैं जाकर वहाँ से ले आऊँ। नौशेरवाँ ने कहा—यह असंभव है; फिर भी परीक्षा करनी चाहिए। फिर उस बूटी के लिये एक पत्र हिंदुस्तान के राजा के नाम लिखकर बुजुर्च को दिया और उसके साथ बहुत सा धन और तीन सौ ऊँटों पर अनेक प्रकार की भेंटें भेजीं, जिनमें बहुत से बहुमूल्य रत्न आदि थे। राजा ने बुजुर्च को अपने विद्वानों के साथ पर्वत पर एक ब्राह्मण के पास भेजा, जो अनेक प्रकार की बूटियों का ज्ञाता था। वहाँ बहुत सी बूटियों का, जो चमकती थीं, मुर्दों पर परीक्षण किया गया, पर कोई जीवित न हुआ। तब बुजुर्च ने निराश होकर एक वृद्ध से जाकर पूछा। उसने हँसकर कहा—भोले जिज्ञासु ! यह एक प्रकार का अलंकार है। वास्तव में बूटी विद्वान् और पर्वत बुद्धि है। मूर्ख मृतक के समान है जो बुद्धि से मानो जीवित हो जाता है। हमारे राजा के पास कलेला-दमना (करटक-दमनक) नामक एक पुस्तक है, जो बुद्धि का भंडार है। तुम उसी को लेने का उद्योग करो। बुजुर्च यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और

राजा के पास जाकर उस पुस्तक के लिये याचना की। राजा ने मंत्री को बुलाकर आज्ञा दी। तदनुसार वह बुजुर्च को पुस्तक पढ़कर सुनाने लगा, जिसको बुजुर्च लिखता जाता था। समाप्त होने पर वह प्रतिलिपि लेकर नौशेरवाँ के दर्बार में लौट गया और सब हाल कह सुनाया। बादशाह ने उसका बहुत आदर-सम्मान किया और उसे बहुत कुछ इनाम-इकराम तथा खिलअत दी, परंतु बुजुर्च ने सिवा खिलअत के और कुछ न लिया और यह प्रार्थना की कि मुझसे यह पुस्तक फिर से लिखाई जाय और उसके आरंभ में मेरा नाम स्मारक के रूप में अंकित कर दिया जाय। बादशाह ने कहा—एवमस्तु।

"तदनुसार बुजुर्च मिहिर ने पहलवी में उस पुस्तक का संपादन किया, जो ईरान की प्राचीन भाषा थी। तत्पश्चात् बगदाद के खलीफा मामूँ ने उसका ताज़ी (अरबी) में अनुवाद कराया। फिर ईरान के शाह नसर के समय में रोदकी नामक कवि ने उसे फारसी में पद्य-बद्ध किया।"

बस, शाहनामा में भारत के संबंध में इतना ही वर्णन मिलता है। कहना न होगा कि उपर्युक्त ग्रंथरत्न हमारे यहाँ का "पंचतंत्र" है जिसका उस समय विदेश में इतना आदर हुआ था।

अब यह पुस्तक फारसी में "अनवार सुहेली" के नाम से मिलती है, जिसकी कहानियाँ पंचतंत्र तथा हितोपदेश के आधार पर लिखी हुई मालूम होती हैं।

अब शाहनामा के विषय में भारत-संबंधी दो एक बातें और लिखकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं।

शाहनामा में भारत के जिन स्थानों के नाम आए हैं उनमें संदल, जंदल और दंबर अज्ञात हैं, शेष कन्नौज, सिंध, कश्मीर और मुलतान के नाम मिलते हैं।

नदियों में केवल "सिंधु" का नाम मिलता है। गंगा के नाम का स्पष्टतया उल्लेख नहीं है, पर एक जगह "दरियाय कन्नौज"[1] आया है, जिसका तात्पर्य गंगा के सिवा दूसरा नहीं हो सकता।

यहाँ की तत्कालीन प्रसिद्ध वस्तुओं में रेशमी वस्त्र का यत्र-तत्र उल्लेख "देवाय हिंदी" और "हरीर हिंदी" के नाम से आया है, परंतु सबसे अधिक प्रशंसा यहाँ के "खड्ग" की "तेग हिंदी"[2] और "खंजरे हिंदुआँ"[3] के नाम से की गई है।

---

(१) دگر گفت کاے نامور دے هند
ز دریاے قنوج تا پیش هند

(२) ز یاقوت و الماس وز تیغ هند
همه تیغ هندي سروسر پرند

(३) ز تیرو کمان وزیر گتورن
ز گوپال وز خنجر هندوان

(२१) विक्रम संवत्

[लेखक—पं० वेणीप्रसाद शुक्ल, प्रयाग]

उत्तर भारत में विक्रम संवत् और नर्मदा नदी के दक्षिण भारत में शक संवत् का प्रचार है। ईसवी सन् के ५७ वर्ष पहले सम्राट् विक्रमादित्य ने उत्तर भारत में संवत्सर तथा सम्राट् शालिवाहन ने ईसवी सन् के ७८ वर्ष बाद शक संवत् चलाया। भारतवासी परंपरा से मानते आए हैं कि उज्जयिनी और पाटलिपुत्र के सम्राट् विक्रमादित्य ने विदेशी यवन शकों और विधर्मी बौद्धों तथा जैनों को जीतकर कलिकाल में अश्वमेध यज्ञ किया। इसी यज्ञ की स्मृति में संवत्सर का आरंभ है। इसी से विक्रमाब्द धार्मिक संवत् माना जाता है और उत्तर भारत के ब्राह्मण धार्मिक कार्यों में इसी संवत् का व्यवहार करते हैं।

भारतवर्ष का इतिहास लिखनेवाले योरोपियन विद्वान् संवत् की उत्पत्ति का निर्णय नहीं कर सके। ईसवी सन् के ५७ वर्ष पहले भारत में विक्रमादित्य नाम के किसी सम्राट् की हस्ती ही वे नहीं मानते। अभी तक अनेक विद्वानों का मत है कि "ईसा से पहली सदी में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर कण्व आदि कोई निर्बल वंश अधिकारी था। उत्तर-पश्चिम से शक म्लेच्छों की बाढ़, पंजाब के यवन राज्यों को दबाती, मध्य भारत की ओर बढ़ रही थी। इस काल में दक्षिण भारत (प्रतिष्ठान) के आंध्र सबसे प्रबल थे। इन्हीं आंध्रों की सहायता से युद्धजीवी मालवगण[1] ने, जो यवन शकों के युद्धों से थककर अपना देश दक्षिण पंजाब छोड़कर अवंति देश में बस गए थे, चंबल नदी के किनारे युद्ध में शक सेनापति

---

(१) सिकंदर के आक्रमण-काल में पंजाब में मालव गण-तंत्र राज्य था। मालव-युद्ध में सिकंदर घायल हो गया था, जिससे क्रुद्ध होकर यूनानियों ने मालवों का संहार कर डाला। सिकंदर के अनंतर छोटे छोटे ग्रीक राज्यों से लड़ते

नहपान को परास्त कर अपनी विजय की स्मृति में संवत् चलाया। इसी से यह संवत् शिलालेखों में मालव संवत् लिखा मिलता है। मालव संवत् में ४०० वर्ष के अनंतर गुप्त-सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपना नाम और विरुद मिला दिया, जिससे संवत् विक्रम संवत् लिखा जाने लगा। संवत् के विषय में यही अनुमान किया गया है; किंतु अभी तक पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गए भारत के इतिहास में विक्रम संवत् पर कोई निश्चित मत नहीं है। प्रचलित संवत् के तीन नाम शिलालेखों में मिलते हैं—कृत संवत्,[1] मालव संवत्[2] और विक्रम संवत्[3]।

लड़ते मालवगण पंजाब छोड़कर, राजपूताना होते हुए, अवंति देश में बस गए थे। जयपुर के पास ऐसी हजारों मुद्राएँ मिली हैं जिनमें ये शब्द लिखे हैं—"मालवानां जय"। पश्चिमी विद्वानों का खयाल है कि शकों पर मालवों की इसी जय से संवत् की उत्पत्ति है। (Cunnigham's A. Surnay Report, Vol. I, Page 165.)

(१) नंदसा पिलर इंसक्रिप्शन जिसमें शक्तिगुणगुरु ने अपना षष्टिरात्रि यज्ञ करना ब्राह्मी में अंकित किया है।

कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयो (२८२)

यातेषु चतुर्षु 'कृतेषु' सौम्यैष्वासीत सोत्तरपदेष्विह वत्सरेषु।

शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्त्तिकस्य मासस्य सर्वजनचित्तसुखावहस्य।

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु फाल्गुणबहुलस्या पंचदश्यां

पूर्वायां (फ्लीट—गुप्त इंसक्रिप्शन, पृष्ठ २४३)

(२) मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशतसंयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु।

(ग्यारिसपुर का शिलालेख)

मालवेशगतवत्सरैः शतैः द्वादशैश्च षड्विंशपूर्वकैः

(मैनालगढ़ का शिलालेख)

पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवति सहितेषु।

मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु।

संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्गतैः सप्तभिर्मालवेशानाम्।

(३) वसु नव अष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य

वैशाषस्य सितायां रविवार युत द्वितीयायाम्।

(सन् ८४१ ई० धौलपुर का शिलालेख)

"संवत् के कृत, मालव और विक्रम नाम तो शिलालेखों में मिलते हैं, किंतु विक्रमादित्य के समय और इतिहास का ठीक पता नहीं लगता। जैन ग्रंथों में विक्रमादित्य की कथा विशद रूप से मिलती है। उनमें लिखा है कि मौर्य-सम्राट् अशोक के अनंतर मौर्यवंश की दो शाखाएँ हो गई थीं—पाटलिपुत्र और उज्जयिनी। अशोक के पौत्र संप्रति ने, जो जैन था, पाटलिपुत्र अपने भाई दशरथ के लिये छोड़कर उज्जयिनी को राजधानी बनाया। जैन धर्म में संप्रति की वैसी ही कीर्ति है, जैसी अशोक की बौद्धों में। संप्रति की आठवीं पीढ़ी में विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य जैनी थे और इनके पिता का नाम गर्दभिल्ल था। गर्दभिल्ल शकों के हाथ से मारे गए। शकों को जीतकर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य राज्यासन पर बैठे। इत्यादि।"

संवत् यदि जैन संवत् होता या जैनों का चलाया होता तो क्या ब्राह्मण इसे अपने धार्मिक पंचांग में स्थान देते? कदापि नहीं। बौद्ध और जैन धर्मों से ब्राह्मणों की घोर शत्रुता थी। बौद्ध और जैन धर्मों के प्राबल्य-काल को कलिकाल या कलियुग, और उन बौद्ध और जैन नरेशों को, जिनका राज्यकाल भारत के इतिहास में स्वर्णयुग माना जा रहा है, ब्राह्मणों ने पुराणों में—बड़े निंदायुक्त शब्दों में—अधार्मिक[1], अत्याचारी, म्लेच्छ और वर्णसंकर कहा है। पुराणकार कहते हैं कि जब कलि में अधर्म[2] (बौद्ध-जैन-धर्म) घोर रूप धारण करेगा, सहस्रा-

---

(१) स्त्रीबालगोद्विजघ्नाश्च परदारधनाहताः।
उदितास्तमितप्राया अल्पसत्वाल्पकायुषः॥
असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः।
प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥

(२) बौद्धों का वर्णन (वायुपुराण)—
अरक्षितारो हर्तारो बलिभागस्य पार्थिवाः।
युगान्ते प्रभविष्यन्ति स्वरक्षणपरायणाः॥

धिक वर्ष तक वैदिक यज्ञ-यागादि बंद रहेंगे, तब भगवान् विष्णु ब्राह्मण के घर में कल्कि नाम से २४ वाँ अवतार[1] धारण करेंगे। वे श्वेत घोड़े पर सवार होकर खड्ग से अधर्मियों और म्लेच्छों का संहार करेंगे तथा वेदों और ब्राह्मणों की रक्षा कर पृथ्वी का भार उतारेंगे। तब सहस्राधिक वर्ष से लुप्तप्राय वैदिक अश्वमेध यज्ञ भारत में होगा। इसी यज्ञ से कृतयुग आरंभ होगा। कृतयुग के आरंभ से कृत संवत् की उत्पत्ति है। संवत् का जन्म बौद्ध और जैन धर्मों पर ब्राह्मण धर्म की महान् विजय की स्मृति है।

सहस्राधिक वर्ष से लुप्तप्राय वैदिक धर्म का उद्धार, धर्मद्रोहियों का संहार और भारत के इतिहास में पौरव जनमेजय के अनंतर पहला अश्वमेध यज्ञ ये महान् घटनाएँ मौर्य-साम्राज्य के अंतिम काल में हुई हैं, जब कि ब्राह्मणों के उभाड़ने से ब्राह्मण[2] सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने, रथयात्रा के मेले में, सेना दिखाने के बहाने, अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को मारकर, धन-रत्नों से भरे पाटलिपुत्र के विशाल संघारामों को लूटकर, बौद्धों और जैनों का, भिक्षुओं और श्रमणों का भीषण संहार किया और नगर के बाहर बौद्ध स्तूपों को तोड़कर असंख्य धनराशि निकाल

राजवृत्तिस्थिताश्चौरा राजानश्चौरशीलिनः।
शूद्रा धर्मं चरिष्यन्ति शाक्यबुद्धोऽपजीविनः॥

(१) शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति॥
विचरन्नाशुना क्षोण्यां हयेन प्रतिमद्युति।
नृपलिंगच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति॥
(श्रीमद्भागवत, द्वादश स्कंध)

(२) प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यंबृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्। (हर्षचरित)

तथा लाटायन श्रौतसूत्र में अन्य आचार्यों में शुंगाचार्य्य भी हैं। अग्निरिन्द्रायोपास्मै पवस्व वाच इति स्तोत्रीय शुंगाः। (शुङ्गाचार्याः मन्यन्ते)

ली। उसने नैव मूर्धाभिषिक्त अत्याचारी बौद्ध यवनों[1] को, जिन्होंने माध्यमिका (चित्तौड़) और साकेत (अयोध्या) को जीतकर पाटलिपुत्र को घेर लिया था, मार भगाया। बहुबल-कोषाधीश कलिंगराज जैन खारवेल को, जिन्होंने अपने मस्त हाथियों से ही गंगा पार कर मौर्यों के सुगांगप्रासाद में अपने रण-दिग्गजों[2] को बाँध दिया था, पराजित किया। अधर्म और पाषंड का नाश कर, वैदिक धर्म की पुनः स्थापना कर, कलि का अंत कर, पतंजलि[3] को पुरोहित बनाकर, पहला अश्वमेध यज्ञ किया। इसी से ब्राह्मणों ने, ब्राह्मण के भवन[4]

---

(१) अल्पप्रसादा ह्यनृताः महाक्रोधा ह्यधार्मिकाः।
भविष्यन्तीह यवनाः धर्मतः कामतोर्थतः॥
नैव मूर्धाभिषिक्तास्ते भविष्यन्ति नराधिपाः।
युगदोषदुराचारा भविष्यन्ति नृपास्तु ते॥
स्त्रीणां बालवधेनैव हत्वा चैव परस्परम्।
भोक्ष्यन्ति कलिशेषे तु × × × ॥ (वायुपुराण)

(२) मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हत्थी सुगंगीय पाययति मागधं च राजानं वहसति मितं पादे वंदापयति। (हस्तिगुंफ शिलालेख, प्रा० लिपिमाला)

(३) इह पुष्यमित्रो याजमानः। (पतंजलि, महाभाष्य)

(४) जनमेजय ने यज्ञ के अनंतर व्यासजी से पूछा कि अब कलि में कभी अश्वमेध यज्ञ होगा या नहीं। व्यासजी ने विचार कर कहा कि एक ब्राह्मण सेनानी काश्यप कलि में अश्वमेध यज्ञ करेगा।

उपात्तयज्ञो देवेषु ब्राह्मणेषूपपत्स्यते।
तेजसा व्याहृतं तेजस् तेजस्येवावतिष्ठते॥
औद्भिज्यो भविता कश्चित् सेनानीः काश्यपः द्विजः।
अश्वमेधं कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति॥
तद्युगे तत् कुलीनश्च राजसूयमपि क्रतुम्।
त्वया वृत्तं कृतं चैव वाजिमेधं परंतप॥
क्षत्रिया नाहरिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति।
(हरिवंश पुराण, R. P. Jayaswal, B & D. R. J.)

में उत्पन्न, दो अश्वमेध[1] के कर्ता सेनानी काश्यप द्विज पुष्यमित्र शुंग को चौबीसवाँ अवतार माना। सेनानी के पुत्र अग्निमित्र "विदिशा" (मालव) को, मूर्धाभिषिक्त कर सम्राट् बनाकर, विक्रमादित्य विरुद देकर, कृतयुग, कृत, मालव या विक्रम संवत् का आरंभ किया।

पुराणकारों ने बौद्धों और जैनों के संहार से प्रसन्न होकर जैसे पुष्यमित्र को धर्मोद्धारक और विष्णु का अवतार माना है वैसे ही बौद्धों ने पुष्यमित्र को धर्मनाशक और महा अत्याचारी लिखा है। बौद्ध लिखते हैं कि पुष्यमित्र ने यवनों के प्रधान नगर शांकल से पाटलिपुत्र तक समग्र बौद्ध विहारों और संघारामों को लूटकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बौद्ध भिक्षुओं का घोर संहार किया। जो भिक्षु मारे नहीं गए उनके पीले वस्त्र उतरवा लिए गए। इस निर्दयता से बौद्ध मारे गए कि शांकल में एक भिक्षुश्रमण[2] के सिर के लिये एक सौ अशर्फियाँ (दीनार) दी जाती थीं। जैनों ने बौद्धों की तरह जैनधर्मनाशक का नाम पुष्यमित्र साफ साफ नहीं लिखा, लेकिन अत्याचारी कल्कि का जैसा वर्णन जैनों ने किया है उससे वह कल्कि पुष्यमित्र ही निश्चित होते हैं। पुष्यमित्र के हाथ से ब्राह्मण धर्म का उद्धार, बौद्ध तथा जैन धर्मों के नाश, की कथा पुराणों तथा बौद्ध और जैन ग्रंथों में एक ही सी है।

---

(१) कोशलाधिपेन द्विः अश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन(देवेन) धर्मराज्ञी पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं। (अ० शिलालेख)

(२) यावत् पुष्यमित्रो यावत् संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः स यावत् शांकलमनुप्राप्त तेनाभिहितं यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि। (दिव्यावदान)

जैन कहते हैं कि "अत्याचारी कल्कि पाटलिपुत्र में उत्पन्न होगा। वह धर्म का नाश कर डालेगा। श्रमण-रक्त से पृथ्वी भर जायगी। धर्म-कर्म बंद हो जायगा। जो जैन मठ आदि अत्याचार से बच जायँगे वे गंगा की भीषण बाढ़ से, पाटलिपुत्र के साथ साथ, नष्ट हो जायँगे, अर्थात् जैन धर्म का अंत हो जायगा। जब कल्कि का अत्याचार असह्य हो जायगा तब दक्षिण से आकर इंद्र कल्कि[1] को दंड देंगे।" पुष्यमित्र को दंड देने की सामर्थ्य इंद्र के सिवा किसी में नहीं थी। पुष्यमित्र को यक्ष (वैताल) सिद्ध होने से जैनों ने अजेय लिखा है। पाटलिपुत्र के जैन-वर्णित कल्कि पुष्यमित्र ही हैं। दक्षिण से आनेवाले इंद्र जैन-सम्राट् खारवेल हैं, जो भारी हाथी पर सवार होने के कारण महामेघवाहन और महेंद्र भी कहलाते थे। जैनों पर अत्याचार होने से उन्होंने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर पुष्यमित्र को दंड दिया। (वहसति मितं पादे वंदापयति।)

कृत संवत् के कर्त्ता पुष्यमित्र शुंग तथा उनके पुत्र अग्निमित्र शुंग को मालव और विक्रमादित्य, तथा इन दोनों पिता-पुत्रों का समय हम ईसा से ७० वर्ष पहले मानते हैं। भारत के इतिहास में आज तक पुष्यमित्र का समय १७० वर्ष ई० पू० माना जा रहा है। इस प्रचलित मत से हमारे सिद्धांत में १०० वर्ष का अंतर है। पुष्यमित्र के समय-निरूपण का मुख्य आधार इंडो-ग्रीक मुद्राओं पर है। इंडो-ग्रीक मुद्राएँ भारत के इतिहास के लिये बहुमूल्य हैं। अभी तक काबुल और पंजाब में २८ से अधिक इंडो-ग्रीक मुद्राएँ

---

(१) इत्युदित्वा स शक्रेण मम निर्वाणतो गते।
वर्षसहस्रद्वितये भाद्रशुक्लाष्टमी दिने॥
ज्येष्ठर्क्षे रविवारे च चपेटा प्रहतो रुषा।
षडशीतिसमायुक्तः कल्कीराड् नरकं गमी॥
(जिनसुंदरीय दीपालिकल्प)

मिली हैं जिनसे २८ से अधिक ग्रीक (यवन) राजाओं के नाम मालूम होते हैं, जो काबुल और पंजाब पर राज्य करते थे। इन्हीं सिक्कों से और पुराणों से भी हम अपने सिद्धांत का प्रतिपादन और प्रचलित सिद्धांत में १०० वर्ष की भूल सिद्ध करेंगे। पुष्यमित्र के समय में पाटलिपुत्र पर यवनों का आक्रमण हुआ है। मौर्य-साम्राज्य पर आक्रमण करनेवाले दो इंडो-ग्रीक नरेश हैं—डेमेट्रियस और मेनांडर। ये दोनों एक ही समय में नहीं थे। दोनों में एक शताब्दी का अंतर है। निर्बल मौर्यों के समय में डेमेट्रियस ने पंजाब पर आक्रमण किया किंतु घरेलू झगड़े से वह शीघ्र लौट गया। डेमेट्रियस के अनंतर मौर्य-सम्राट् और बौद्धों के संहार से क्रुद्ध होकर मेनांडर ने पुष्यमित्र पर आक्रमण किया। इससे मेनांडर और पुष्यमित्र का समय एक ही है।

इंडो-ग्रीक नरेशों में मेनांडर सबसे बड़ा और प्रतापी था। मेनांडर ने यूक्रेटाइडस के राज्य पर बने पंजाब के छोटे छोटे यवन राज्यों को जीतकर, तथा काबुल के पारथी राज्य का अंत कर, पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। 'महाराजस जयधरस धार्मिकस' मेनांडर, बौद्ध होने के कारण, बौद्ध-साहित्य में भी प्रसिद्ध है। बौद्ध गुरु नागार्जुन से मेनांडर का बौद्ध-धर्म-संबंधी प्रश्न—बौद्ध धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक—'मलिंद पन्हें।' है। धार्मिक मेनांडर ने शाकल राजधानी को बड़े बड़े विशाल बौद्ध मठों तथा संघारामों से अलंकृत किया। इसी सद्धर्मी (बौद्ध) मेनांडर ने, बौद्ध मौर्य-सम्राट् तथा बौद्ध भिक्षुओं के वध से क्रुद्ध होकर, माध्यमिका[1] (चित्तौड़) और साकेत[2] (अयोध्या) को जीतकर, पुष्यमित्र को पाटलिपुत्र में घेर

---

(१) अरुणाद् यवनः माध्यमिकम्।

(२) अरुणाद् यवनः साकेतम्। (महाभाष्य पतंजलि)

लिया, जिससे देशवासी बड़े व्याकुल[1] हो गए। मेनांडर को मगध से पराजित होकर लौटना पड़ा और शुंग-काल में ही पंजाब में यवनों का बल सदा के लिये टूट गया। जो छोटे छोटे यवन राज्य बचे उन पर कुछ समय पश्चात् शकों ने (कादफिसस) अधिकार कर लिया। पुष्यमित्र के समय कलियुग का अंत हो गया और भारत में यवन राज्य भी कलि[2] के अंत में ही है। मेनांडर के साथ ही कलि और यवनों की भी समाप्ति है।

पुराणों में चंद्रगुप्त मौर्य से बृहद्रथ तक दस मौर्य-सम्राटों के नाम हैं। इन दस सम्राटों का समय १३७ वर्ष पुराणों में लिखा है। बौद्ध पुराणों में लिखा है कि राजगृह का राजा बिंबसार श्रेणिक और उसका पुत्र अजातशत्रु कुणिक गौतम बुद्ध के समकालीन थे। बुद्ध का निर्वाण-काल बहुमत से ईसा से ४८७ वर्ष पहले माना जा रहा है। अजातशत्रु से अंतिम मौर्य बृहद्रथ तक ४१६ वर्ष होते हैं। इस हिसाब से भी बृहद्रथ मौर्य और पुष्यमित्र का समय ईसा से ७० वर्ष पहले सिद्ध हो जाता है।

---

(१) ततः साकेतमाक्रम्य पंचालान् मथुरांस्तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे पथि ते हिते।
आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः॥
(बृहत्संहिता)

(२) शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः।
यवना ज्यापयिष्यन्ति न शरण्यं च पार्थिवः॥
मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः।
तेषां अन्योन्यसंभावा भविष्यन्ति न संशयः॥
(वायुपुराण)

अजातशत्रु	३७ वर्ष	...	अजातशत्रुर्भविता सप्तत्रिंशत्समा नृपः।
वंशक	२४ वर्ष	...	चतुर्विंशत्समा राजा वंशकस्तु भविष्यति।
			(मत्स्यपुराण, अ० २७२)
उदायी	३३ वर्ष	...	उदायी भविता तस्मात् त्रयस्त्रिंशत्समा नृपः।
			स वै पुरवरं रम्यं पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्।
नंदिवर्धन	४२ वर्ष	...	द्वाचत्वारिंशत्समा भाव्यो राजा वै नंदिवर्धनः।
महानंदिन्	४३ वर्ष	...	चत्वारिंशत्त्रयं चैव महानंदी भविष्यति।
			(वायुपुराण, अ० ३७)
नवनंद	१०० वर्ष	...	महानंदिसुतश्चापि शूद्रायां कालसंवृतः।
			उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रांतकृन्नृपः।
			अष्टाशीति तु वर्षाणि पृथिवीं पालयिष्यति।
			सर्वक्षत्रं समुद्धृत्य भाविनोर्थस्य वै बलात्।
			तत्पश्चात् तत्सुता ह्यष्टौ समा द्वादश ते नृपाः।
			महापद्मस्य पर्याये भविष्यन्ति नृपाः क्रमात्।
			उद्धरिष्यति तान् सर्वान् कौटिल्यो वै द्विजर्षभः।
			भुक्त्वा महीं वर्षशतं नरेंद्रः स भविष्यति।
			(श्रीमद्भागवत)
दश मौर्य	१३७ वर्ष	...	मौर्या ह्येते दश नृपाः सप्तत्रिंशच्छतोत्तरम्।
	४१६ वर्ष	...	

इस तालिका से सिद्ध है कि पुराणों के अनुसार अजातशत्रु से बृहद्रथ मौर्य तक ४१६ वर्ष होते हैं और अजातशत्रु के राज्य-काल के ४६० में ४१६ वर्ष घटाने से अंतिम मौर्य बृहद्रथ का अंत ६४ ई० पू० होता है। ६४ ई० पू० में मौर्य-सम्राट् को मारकर तथा ७ वर्षों में लगातार युद्धों के अनंतर विजयी होकर पुष्य-मित्र ने ५७ ई० पू० में अश्वमेध यज्ञ कर अपने पुत्र को सम्राट् बनाया।

कृत संवत् बहुत शीघ्र बदलकर मालव नाम से प्रसिद्ध होने लगा और सहस्र वर्ष तक इसी नाम से चला, फिर धीरे धीरे विक्रम संवत् हुआ जो आज तक लिखा जा रहा है। संवत् का नाम इस-लिये बदला कि अग्निमित्र शुंग मालव थे और विक्रमादित्य भी थे। मौर्य-साम्राज्य की सेना में अवंति के मालव सैनिकों की संख्या बहुत अधिक थी। पुष्यमित्र और अग्निमित्र, जो सेनापति के पद पर पहुँच गए थे, विदिशा के रहनेवाले थे। विदिशा-निवासी होने के कारण वे "विदिश" थे। उस समय भारत की राजधानी थी पाटलि-पुत्र नगरी। और दक्षिण-पश्चिम भारत की प्रधान पुरी थी उज्जयिनी। सम्राट् हो जाने पर अग्निमित्र यद्यपि पाटलिपुत्र और उज्जयिनी में भी निवास करते थे; किंतु अधिकतर वे विदिशा में ही, अपने रमणीक महल में, रहते थे। विदिशा की राजसभा में नवरत्न थे जिनमें कालिदास मुख्य थे। कविकुलगुरु कालिदास का प्रेम विदिशा और उज्जयिनी से तो था ही, मालवेंद्र[1] (अग्निमित्र) पर भी वैसा ही प्रेम और आदर था। विद्वानों को यह बात बहुत खटकती है कि महाकवि ने अपना जीवन-वृत्तांत नहीं बतलाया तथा अपने आश्रयदाता सम्राट् को भी परदे में रख छोड़ा है।

---

(१) मालविकाग्निमित्र में कविवर अग्निमित्र को आशीर्वाद देते हैं—

त्वं मे प्रसादसुमुखी भव देवि नित्य-
मेतावदेव हृदये प्रतिपालनीयम्।
आशास्यमभ्यधिगमात् प्रभृति प्रजानाम्
संपद्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे॥

मत्तोऽधुना कृतिरियं सति मालवेन्द्रे
श्रीविक्रमार्कनृपराजवरे समासीत्।
यद् राजधान्युज्जयिनी महापुरी
सदा महाकालमहेशयोगिनी॥
(ज्योतिर्विदाभरण)

इसी से रघुवंश महाकाव्य में गुप्त शब्द के बार बार आने से कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं कि "कालिदास ने दिलीप के यज्ञ के बहाने सम्राट् समुद्रगुप्त के यज्ञ का वर्णन किया है और वे स्वयं सम्राट् चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा की शोभा बढ़ाते थे"।

महाकवि पर यह दोषारोपण ठीक नहीं है। अपना जीवन-वृत्तांत और वंश-परिचय न देते हुए भी कविकुलगुरु अपने प्रिय सम्राट् का नाम प्रकाशित करना भूल नहीं गए। यद्यपि रघुवंश में उन्होंने सम्राट् के पिता (द्विरश्वमेधयाजिन् पुष्यमित्रः) के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन बहाने से किया है, तथापि सम्राट् के असली नाम और विरुद पर भी दो नाटकों की रचना की है। इन दो नाटकों में सम्राट् के नाम से "मालविकाग्निमित्र" और विरुद पर "विक्रमोर्वशी" लिखा है। नायिका का नाम मालविका इसलिये है कि नायक भी मालव थे और नायिका मालविका की लीला-भूमि थी अवंति—मालव देश की प्रधान नगरी विदिशा। विक्रमोर्वशी में पुरूरवा और उर्वशी की कथा है। पुराणों में पुरूरवा का नाम या विरुद विक्रम कहीं नहीं मिलता। विक्रम शब्द केवल अग्निमित्र को नव-प्राप्त विक्रमादित्य विरुद के साथ प्रसिद्ध करना था। रघुवंश बनाकर कवि ने उस अश्वमेध यज्ञ का वर्णन किया है जो सहस्राधिक वर्ष से भारत में असंभव हो रहा था। प्रथम अश्वमेध और समुद्रगुप्त से पहले तक ४०० वर्ष में अनेक अश्वमेध हो गए थे। शुंग-काल में लिखे जाने से रघुवंश तथा मालविकाग्निमित्र आदि कालिदास की पुस्तकों में यवनों[1] का विशद वर्णन है। कुछ

---

(१) यवनी धनुर्हस्ता प्रविश्य। (विक्रमोर्वशी)

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः॥
(रघुवंश)

विद्वानों का मत है कि "कालिदास शुंग-काल में नहीं हो सकते। शुंग-काल में कालिदास की शैली की संस्कृत का प्रचार ही नहीं था" इत्यादि। किंतु कालिदास की शैली की संस्कृत महाकवि से सैकड़ों वर्ष पहले से लिखी जा रही है। महाकवि भास[1] और अश्वघोष[2] तो ईसा से १०० वर्ष पहले माने जाते हैं। इन महाकवियों की संस्कृत-शैली और कालिदास[3] की शैली एक ही है।

यद्यपि जैन साहित्य में विक्रमादित्य की कथा विशद रूप से है तथा संवत्कर्त्ता विक्रम[4] का नाम साफ़ लिखा है, तथापि ब्राह्मणों के खिलाफ होने से गर्दभिल्ल के पुत्र मौर्य विक्रमादित्य की बात

यज्ञाश्व पकड़ लेनेवाले यवन घुड़सवारों से सिंधु नदी के दक्षिण युद्ध हुआ। योसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतम् वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सराय निवर्तनीयो निरर्गलस्तुरंगमो विसर्जितः। स सिन्धोर्दक्षिणे रोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत् संमर्दः। (मालविकाग्निमित्र)

(१) भास कवि का शरद्-वर्णन सुभाषितावलि से—

तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृङ्गं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव धर्मचिन्ता
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पंकः॥

(२) श्रियं परार्ध्यां विदधद्विजातृजित् तमो निरस्यन्नभिभूतभानुभृत्।
नुदन्निदाघं जितचारुचन्द्रमाः स वन्द्यतेऽर्हन्निह यस्य नोपमा॥
(अश्वघोषकृत बुद्धचरित)

(३) शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपांडुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥
(कालिदासकृत रघुवंश)

(४) इति श्रीविक्रमादित्यः शास्त्यवन्तीं नराधिपः।
अनृणां पृथिवीं कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सरम्॥
(प्रभावकचरित, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, मुनि कल्याणविजय)

भ्रमात्मक है। गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त भी संवत्कर्त्ता विक्रमादित्य नहीं हो सकते। परम भट्टारक, परम वैष्णव, परम माहेश्वर गुप्त सम्राट् परम अर्हत भी थे अर्थात् वे बौद्धों का भी आदर करते थे। किसी धर्म पर गुप्तों का अत्याचार नहीं था। ब्राह्मण-साहित्य के अनुसार विक्रमादित्य ने कलिंग[1] देश (खारवेल) को जीतकर विजय-श्री प्राप्त की। उन्होंने सहज में ही कांबोज, यवन, हूण आदि नीच, बर्बर तथा त्यक्ताचार पारसीकादिकों को जीतकर पृथ्वी का भार उतारा। तब भगवान् विष्णु ने महीपति विक्रमादित्य से कहा कि तुम हमारे अंश से उत्पन्न हुए हो, अर्थात् चौबीसवाँ अवतार हो। बृहत्कथा-मंजरी की विक्रमादित्य-विषयक यह कथा बौद्ध और जैन धर्मों का नाश करनेवाले, यवन, शक, कांबोजादिकों को पराजित करनेवाले, कलिंगविजेता, सहस्राधिक वर्ष से भारत में लुप्तप्राय वैदिक धर्म का उद्धार कर अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, विष्णु के चौबीसवें अवतार, द्विअश्वमेधयाजी काश्यप द्विज, मालव, संवत्सर के प्रवर्तक शुंग-वंश पर ही पूर्ण रीति से घटित होती है।

---

(१) ततो विजित्य समरे कलिंगनृपतिं विभुः।
राजा श्री विक्रमादित्यः श्रीं प्राप विजयश्रियम्॥
अथ श्री विक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान् काम्बोजयवनान् नीचान् हूणान् सबर्बरान्।
तुषारान् पारसीकांश्च त्यक्ताचारान् विश्रृङ्खलान्।
हत्वा भ्रूभंगमात्रेण भुवो भारमवारयत्॥
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशशांकतः॥
(बृहत्कथामंजरी)

(२२) हिंदी का एक उपेक्षित उज्ज्वल पक्ष

[लेखक—श्री सूर्यकरण पारिख एम० ए०, पिलानी]

पिछले कुछ वर्षों से हमें इस ओर धुन सी लग गई है और दिन प्रति दिन यह धारणा दृढ़ हो रही है कि हिंदी की पूर्णोन्नति के लिये राजस्थानी साहित्य का उद्धार होना नितांत आवश्यक है। लेखक स्वयं राजस्थानवासी है, अतएव लोग यह विचार सहज ही में कर सकते हैं कि इस धारणा के आधार में, "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं कापुरुषा पिबन्ति" वाली पक्षपात-वृत्ति हो। परंतु ऐसी बात नहीं है। वास्तव में बात यह है कि राजस्थान में अब भी उत्कृष्ट कोटि का साहित्य इतने प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा है कि यदि उसका आंशिक प्रकाशन भी हो जाय तो हिंदी-साहित्य-भांडार के कई रिक्त स्थल भरे-पूरे किए जा सकते हैं। परंतु, इस बात का पूरा खेद है कि हिंदी के विद्वानों ने राजस्थान के साहित्य को अब तक उपेक्षा की दृष्टि से देखा है।

कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि राजस्थानी एक प्रांतीय भाषा है और हिंदी से बहुत कुछ स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। अतएव उसके साहित्य की वृद्धि होने से हिंदी की उन्नति न होकर, हिंदी की एक प्रतिस्पर्द्धिनी भाषा की प्रतिष्ठा होगी, जिससे हिंदी की वर्धमान गति में अवरोध होने की आशंका की जाती है। यह आशंका निर्मूल है। पहले तो साहित्यिक दृष्टि से राजस्थानी को हिंदी से स्वतंत्र भाषा मानना ही भारी भूल है। ऐसा विचार करने पर तो अवधी, व्रजभाषा, बिहारी आदि हिंदी की अंगभूत भाषाएँ और उनके साहित्य भी स्वतंत्र भाषा और साहित्य समझे जा सकते हैं। तब तो सूर, तुलसी, जायसी, विद्यापति आदि महा-

कवियों का हिंदी से कोई वास्ता न रहेगा और इन कवियों को निकाल देने पर हिंदी में रह ही क्या जायगा। इसी प्रकार यदि राजस्थानी को हिंदी से पृथक् समझा जायगा तो चंद और मीरा की हिंदी कवियों की श्रेणी में गणना करना भी भूल ही होगी। परंतु ऐसी बात नहीं है। वास्तव में न तो सूर, तुलसी और जायसी ही हिंदी से पृथक् किए जा सकते हैं और न चंद और मीरा ही। हिंदी को खड़ी बोली के संकुचित क्षेत्र में सीमाबद्ध करने का प्रयास करना हिंदी के प्रति अन्याय करना होगा। भारतवर्ष जैसे विस्तृत देश की राष्ट्रभाषा होने का दावा रखनेवाली भाषा का कलेवर सुविस्तृत और व्यापक होना चाहिए और वास्तव में है भी ऐसा ही।

व्रजभाषा, राजस्थानी, अवधी और पूर्वी हिंदी का राष्ट्रभाषा हिंदी के साथ अंगागि संबंध है और जिस प्रकार अवयव और अंगों को शरीर (अंगी) से पृथक् समझना मिथ्या कल्पना है उसी प्रकार इन भाषाओं को भी हिंदी से अलग समझना भारी भूल है। अँगरेजी साहित्य की ओर ही देखिए। अँगरेज जाति ने अपने अर्वाचीन साहित्य में इतनी उन्नति की है कि यदि शेक्सपियर और मिल्टन के बाद के समय के साहित्य को ही वे अपना जातीय साहित्य मानने लगें और संकुचित भावों से प्रेरित होकर उनके पहले के ऐंग्लो-सैक्सन भाषा के कवियों और लेखकों को अपने साहित्य से पृथक् कर दें, तो उनको विशेष क्षति नहीं होती। परंतु, क्या उन्होंने ऐसा किया है ? क्या चॉसर, मार्लो, गॉवर इत्यादि पूर्ववर्ती कवियों को उन्होंने अँगरेजी का कवि नहीं माना है ? यही नहीं, अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल के स्कॉटिश कवि बर्न्स (Burns) को अँगरेजी साहित्य में उतना ही समादरणीय स्थान मिला है जितना कि वर्डसूवर्थ और शेली को, यद्यपि बर्न्स की भाषा का रूप प्रांतीय ही है। सच बात तो यह है कि किसी भी समृद्ध भाषा में व्यापकता और सहिष्णुता

का गुण होना परमावश्यक है। विवेकशील हिंदी-हितैषियों के समक्ष हमारा यह कथन अन्यथा नहीं समझा जायगा, ऐसी आशा की जाती है।

इस बात को हिंदी के सभी ज्ञाता एवं विद्वान् जानते हैं कि राजस्थानी भाषा और हिंदी का चोली-दामन का साथ रहा है। वास्तव में देखा जाय तो हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अपने राजस्थानी रूप में ही प्रकट हुआ है। हिंदी-साहित्य के इतिहास-निर्माण में और हिंदी भाषा के विकास में राजस्थानी का बड़ा महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। मीराबाई स्त्री-कवियों में हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ कवयित्री हैं और वही राजस्थानी काव्य की आत्मा भी है। चंद बरदाई हिंदी के आदि-कवि समझे जाते हैं और वही राज-स्थानी के श्रेष्ठ कवि भी हैं। नरपति नाल्ह का "बीसलदेव रासो" प्राचीन हिंदी का शृंगार है और राजस्थानी भी उस पर गर्व करती है। कबीर को हिंदी का प्राचीन कवि समझा जाता है, परंतु कहना न होगा कि उनकी कविता पर राजस्थानी भाषा की पूरी छाप लगी है और राजस्थानी जनता ने भी कबीर को अपने लोक-सम्मान्य कवि की तरह अपनाया है। सारांश, राज-स्थानी और हिंदी में इतनी घनिष्ठता और एकता है कि दोनों को पृथक् करने की चेष्टा और कुछ नहीं तो विवेकशून्य अवश्य प्रतीत होती है। प्राचीनता के नाते से राजस्थानी हिंदी की बड़ी बहिन हुई। हिंदी को बाल्यकाल में पालन-पोषण करने का श्रेय राजस्थानी को अवश्य देना पड़ेगा। और यह भी कहे बिना रहा नहीं जाता कि इतना स्नेहपूर्ण दायित्व और अधिकार होने पर भी यदि हिंदी का अपनी बड़ी बहिन के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार रहा, तो इसका अभिप्राय यह होगा कि बाल-चापल्यवश हिंदी बड़े-बूढ़ों का सम्मान करना भूल गई है।

अस्तु, हमने पक्षपात और स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, बल्कि सोच-समझकर हिंदी के हित की प्रेरणा से साहित्य-सेवियों का ध्यान हिंदी के इस उपेक्षित पक्ष की ओर आकर्षित किया है।

उपर्युक्त कथन के संबंध में संक्षेप में यह भी बता देना युक्ति-संगत होगा कि किस प्रकार और किन किन अंगों में राजस्थानी साहित्य की खोज करने से हिंदी की समृद्धि हो सकती है और इस प्रकार की खोज से हिंदी को विशेष लाभ होने की संभावना है भी या नहीं।

राजस्थान की इतिहास-प्रसिद्ध भूमि भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता और महत्त्वपूर्ण आदर्शों की केंद्र रही है; यह तो सभी जानते हैं। इसी आधार पर यह अनुमान करना भी अयुक्तिसंगत न होगा कि भारत के इतिहास में अग्रणी रहनेवाली भूमि का साहित्य भी महत्त्व-पूर्ण और सर्वांग-संपूर्ण रहा होगा। परंतु राजस्थानी का साहित्य-भांडार उत्तमोत्तम रत्नों से परिपूर्ण होते हुए भी उनकी झलक सूर्य के प्रकाश में बाह्य जगत् को अब तक नहीं मिली है। इस प्रसंग में यह बात भूलना न होगा कि काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा और बंगाल की एशियाटिक सोसायटी जैसी कुछ संस्थाओं तथा कर्नल जेम्स टॉड, डाक्टर टैसीटरी, महामहोपाध्याय राय बहादुर गौरी-शंकर हीराचंद ओझा, पं० रामकरण आसोपा, मुंशी देवीप्रसाद; श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ जैसे महापुरुषों का हमको उपकार मानना चाहिए कि जिन्होंने इस अप्रकाशित रत्न-भांडार के कुछ देदीप्यमान कक्षों को स्वयं देखा है और समय समय पर साहित्य-जगत् को गंभीर सूचना दी है कि इस भाषा में साहित्य के सभी अंगों पर बहुमूल्य भांडार भरा पड़ा है। परंतु जब तक मन की सच्ची लगन से उत्साहित होकर परिश्रमशील साहित्य-सेवी इस ओर अन्वेषण और प्रकाशन के कार्य में कटिबद्ध नहीं होते तब तक इस निधि का होना न होना बराबर है।

राजस्थानी साहित्य की खोज अब तक कई प्रमुख विद्वान कर चुके हैं। उनमें से कुछ के नाम तथा इतर अन्वेषण-सूत्रों का संक्षिप्त विवरण देना यहाँ पर अप्रयुक्त न होगा।

(१) डाक्टर एल० पी० टैसीटरी—एशियाटिक सोसायटी, बंगाल की ओर से इन्होंने पश्चिमी राजस्थान में कई वर्षों तक साहित्यिक खोज की थी। परिणामतः जिन जिन ग्रंथों का इनको पता लगा उनकी संक्षिप्त विवरण-सूची इन्होंने सोसायटी की "Bibliotheca Indica" शीर्षक रिपोर्टों में छपवा दी। अपने अन्वेषण के उत्तर काल में डा० टैसीटरी ने बीकानेर दरबार लायब्रेरी को अपना केंद्र बनाकर उस पुस्तकालय के कई ग्रंथ-रत्नों को एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित भी करवाया था। इनके विवरणों से हजारों उत्तमोत्तम ऐतिहासिक गद्य, पद्य, गीत और आख्यायिका, संगीत और ज्योतिष-विज्ञान के राजस्थानी और संस्कृत में लिखित ग्रंथों का पता लगता है। उत्साही साहित्यज्ञों को इन मार्ग-प्रदर्शक रिपोर्टों से अपने साहित्योद्धार कार्य में बहुत कुछ सुगमता हो गई है।

(२) महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने भी इसी प्रकार की खोज करके एशियाटिक सोसायटी की ओर से एक रिपोर्ट लिखी है जिससे भावी अन्वेषक लाभ उठा सकते हैं।

(३) गुजरात के कुछ पुरातत्त्ववेत्ता साहित्यान्वेषकों ने भी इधर कुछ खोज की है। इनमें श्री चीमनलाल डाह्याभाई दलाल बी० ए० का नाम उल्लेखनीय है, जो बड़ौदा की प्रसिद्ध गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज के संपादक रहे हैं और जिन्होंने जेसलमेर के प्रसिद्ध राजकीय प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकागार की विवरणात्मक सूची तैयार की है। इनका परिश्रम भी भावी अन्वेषकों को अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

(४) इसके अतिरिक्त राजस्थान की प्रमुख रियासतों—यथा बीकानेर, जोधपुर, जेसलमेर—के अनेक जैन-पुस्तक-भांडारों में प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें सुरक्षित हैं, जिनमें से हजारों बहुमूल्य पुस्तकें अब तक अप्रकाशित हैं।

उपर्युक्त सूत्रों की सहायता से अपने सौभाग्यवश हम भी उस अनिर्वचनीय रत्नागार की एक हलकी सी झलक देख चुके हैं। परंतु इस विशाल रत्नाकर में पैठकर बहुमूल्य मणियों की खोज करने का श्रेय अब तक हमें नहीं मिला है। हम तो अभी किनारे पर बैठे हुए प्रतिफलित आभा मात्र के चमत्कार को ही देखकर मुग्ध हो रहे हैं। इस सागर की गंभीरता में पैठने का कार्य उन साहित्य-महारथियों का होगा जिनका अदम्य उत्साह और जिनकी प्रखर योग्यता इस महान् कार्य के लिये उपयुक्त है। परंतु तो भी अपने बालसुलभ कौतुक के भावों को प्रकाशित किए बिना हम नहीं रह सके, अतएव यह निवेदन करना उचित समझा।

वर्तमान समय में हिंदी-साहित्य को इस बृहत् रत्न-भांडार से जो लाभ होना संभव है, उसके संबंध में दो शब्द कह देना उचित होगा।

(१) हमारी समझ में हिंदी के इतिहास-विभाग में, राजपूत-इतिहास के संबंध में, बहुत सी बहुमूल्य बातें राजस्थानी साहित्य की खोज से मालूम हो सकती हैं। इस मार्ग पर श्री ओझाजी तथा श्री रेऊजी को छोड़कर अभी बहुत कम गण्यमान्य विद्वान् दृष्टिगोचर होते हैं। पक्षपात अथवा वैमनस्यमूलक बहुत सी संदिग्ध एवं कपोलकल्पित बातें राजपूत कुलों के संबंध में प्रचलित हो गई हैं, जिनका परिमार्जन सच्चे इतिहास की नवीन खोज से हो सकता है। यह इतिहास की सामग्री कई भिन्न रूपों में उपलब्ध होती है। राजस्थानी में "ख्यात" शब्द से इतिहास का अभिप्राय होता है। यथा—(१) "मूँता नैणसी री राजस्थान री ख्यात", (२) "राठौड़ाँ

री ख्यात सिंधायच दयालदास कृत"। इनमें से प्रथम पुस्तक नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हो रही है। गद्यमय ख्यातों के अतिरिक्त पद्यमय ऐतिहासिक सामग्री भी बहुतायत से प्राप्त होती है। यद्यपि इसमें कवि-कल्पना की पुट मिली होती है परंतु तो भी अतिशयोक्ति को अलग करने पर जो अंश बाकी बच रहता है उसमें बहुत कुछ ऐतिहासिक तथ्य रहता है। इस प्रकार का एक काव्य-ग्रंथ "राउ जैतसी रउ छंद" है, जिसमें उस ऐतिहासिक वृत्तांत का विवरण है जब बीकानेर के राव जैतसिंह ने, पश्चिमी राजस्थान को विजय करने को निकले हुए, मुगल शाहजादे कामराँन को बीकानेर के गढ़ घेरने के समय बड़ी भारी मुसलमानी फौज सहित हराकर भगा दिया था। इस वृत्तांत का सच्चा विवरण बहुत कम मुसलमानी तवारीखों में मिलता है। इस प्रकार के पद्य-प्रबंधों के अतिरिक्त हजारों वीरों की वीरता के गीतों से बड़े बड़े पोथे भरे पड़े हैं। इनसे भी इतिहास-तत्त्वों का अन्वेषण हो सकता है।

(२) हिंदी-साहित्य में कहानी-कला आधुनिक समय में खूब उन्नति कर रही है। उत्तमोत्तम कहानियाँ लिखी जा रही हैं और लोकरुचि भी उपन्यासों को छोड़कर इस ओर बढ़ती दिखाई देती है। परंतु एक समय था (और अब भी वह समय पूर्णतः चला नहीं गया है) जब राजस्थान में वीरता, नीति और धर्म-संबंधी कहानियाँ कहने-सुनने का बड़ा प्रचार था। राजा-महाराजा, ठाकुर-सरदार और प्रतिष्ठित महाजनों के पास चारण, भाट, बंदीजन इसी कार्य के लिये रहते थे कि वे अपने अद्वितीय ढंग से कहानी कहें अथवा लिखें। बहुत सी कहानियाँ तो बहुश्रुत ऐतिहासिक घटनाओं किंवा सामाजिक वृत्तांतों पर आश्रित होती थीं। राजस्थानी कहानी की भी एक निराली कला है जो हिंदी की आजकल की गल्प-लेखन-शैली से सर्वथा भिन्न है। हमारा इन कहानियों का अध्य-

यन और परिशीलन हमें यह लिखने को बाध्य करता है कि हिंदी की कहानी में वह लोच, वह आकर्षकता, वह सजीवता, वह चमत्कारपूर्ण हृदयग्राही वर्णन-शैली और प्रसादपूर्ण वह जनमोहक शक्ति अब तक पूर्ण रीति से दृष्टिगोचर नहीं होती जो राजस्थानी कहानियों में प्रकट हुई है। इन कहानियों की गद्य-शैली का ढंग किसी भी गौरवशालिनी भाषा का अलंकरण होने के सर्वथा योग्य है। ऐसी असंख्य कहानियों से अप्रकाशित राजस्थानी साहित्य भरा पड़ा है। साहित्य-रसज्ञों की इस ओर भी दृष्टि जाना नितांत आवश्यक है। इस प्रकार की कहानियों में से ७ प्रसिद्ध कहानियों का हिंदी रूपांतर शीघ्र ही प्रकाशित करने का प्रयत्न हम कर रहे हैं।

(३) काव्य-ग्रंथ तो राजस्थानी में इतने हैं जिनकी कोई गणना नहीं हो सकती। ये प्रायः डिंगल (साहित्यिक राजस्थानी अथवा चारणों की परंपराबद्ध काव्य-भाषा) में लिखे मिलते हैं। बहुत से काव्यों का विषय तो राजस्थान के वीर राजाओं का जीवन-वृत्तांत लिखना होता है, कुछ में इतर वीर अथवा धार्मिक महापुरुषों के गुणगान किए गए हैं, कुछ में धर्म और नीति-संबंधी दोहे हैं। खोज करने पर इनमें से बहुत से ऐसे उत्तम ग्रंथ भी निकल सकते हैं जिनकी कविता में उत्तम काव्य के लक्षण विद्यमान हैं और जो राजस्थानी और हिंदी की स्थायी काव्य-संपत्ति बन सकते हैं। इन्हीं में से तीन काव्य-रत्नों का संपादन करके प्रकाशित करने का, अपने मित्रों सहित इस लेखक ने, प्रयास किया है। (१) वेलि, कृष्ण रुक्मिणी री, महाराज पृथ्वीराज राठौड़ कृत, (२) ढोला-मारू रा दूहा—१६ वीं शताब्दि के लगभग लिखित राजस्थान का एक लोकप्रिय गीत-काव्य। (३) "राउ जैतसी रउ छंद"। इनमें से प्रथम तो हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है।

दूसरा नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा लगभग प्रकाशित होने को है। तीसरा भी क्रमशः प्रकाशित होगा।

इसके अतिरिक्त बहुत से वैज्ञानिक विषयों पर लिखे हुए पद्यमय डिंगल अथवा संस्कृत ग्रंथ भी इतस्ततः उपलब्ध होते हैं, जिनमें ज्योतिष, गणित, मृगया, पशुपालन, अश्वविद्या, शस्त्रविद्या, संगीत आदि विषयों का वैज्ञानिक रीति से विवेचन किया हुआ मिलता है, जिससे अनुमान होता है कि राजस्थान के राजा और रईस कितने विद्याव्यसनी और सद्वृत्त महापुरुष होते थे। उदाहरण के लिये जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह, जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह, मेवाड़ के राणा राजसिंह इसी प्रकार के साहित्यशील और प्रख्यात वीर नरेश हुए हैं।

अब इस लेख को यहीं समाप्त करते हुए हम हिंदी-प्रेमी सज्जनों से प्रार्थना करेंगे कि वे संकुचित विचारों को त्यागकर उदारता सहित हिंदी की इस चिर उपेक्षित बहुमूल्य निधि को अपनावें और मातृभाषा के कोष को नए नए अमूल्य रत्नों से अलंकृत करें।

---

(२३) हिंदी में प्रेमगाथा साहित्य और मलिक मुहम्मद जायसी

[लेखक—श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी एम० ए०]

जायसी से प्रायः सौ सवा सौ बरस पहले हिंदू और मुसलमान जनता सांप्रदायिक विद्वेष को बहुत कुछ किनारे कर एक दूसरे की संस्कृति, उपासना, विचार आदि को सहानुभूति-पूर्वक समझने और परस्पर उनके आदान-प्रदान की ओर रुचि करने लगी थी। यद्यपि तत्कालीन मुसलमान शासकों का भाव हिंदू प्रजा के प्रति विशेष सहानुभूतिपूर्ण न था तथापि हिंदू और मुसलमान प्रजा में एक प्रकार का भ्रातृभाव स्थापित हो चला था, और यह उत्तरोत्तर दृढ़ से दृढ़तर होता चला जा रहा था। मुसलमान प्रजा यह समझने लगी थी कि हिंदुस्तान में यदि हमें रहना ही है तो हिंदुओं के विश्वास, संस्कृति, साहित्य आदि के प्रति उदासीन होकर रहना असंभव है। शायद यही कारण था कि तत्कालीन कुछ मुसलमान विचारक, फकीर और कवि हिंदुओं के साहित्य और संस्कृति के अध्ययन की ओर तो झुके ही, कुछ ने हिंदुओं की तत्कालीन काव्यभाषा में साहित्य-निर्माण का भी श्रीगणेश किया। इन लोगों ने यह ठीक ठीक समझ लिया था कि दोनों संप्रदायों में एक दूसरे के संस्कृति और साहित्य को लोकप्रिय बनाने से बढ़कर आपस में घनिष्ठता और सौहार्द स्थापित करने का दूसरा उपाय नहीं हो सकता। इसी विचार से प्रेरित होकर खुसरो, कबीर, जायसी आदि कुछ दूरदर्शी कवियों ने इस दिशा की ओर पैर बढ़ाया और इसमें उन्हें अच्छी सफलता भी मिली। सबसे पहले खुसरो ही इस कार्य में अग्रसर हुआ।

प्रेमगाथा काव्य का प्रादुर्भाव

उसकी कविता का एक बड़ा भाग लुप्त हो गया है तो भी जो प्राप्त है उससे हिंदुओं के धर्मग्रंथ, संस्कृति तथा साहित्य आदि के प्रति उसकी पूरी श्रद्धा और सहानुभूति स्पष्ट है। कबीर का मार्ग सबसे निराला था। इन्होंने दोनों की बुराइयों का प्रतिवाद करते हुए उन्हें प्रेम के साधारण सूत्र में बाँधने की चेष्टा की। इनके प्रतिवाद प्रायः इतने तीव्र—परंतु अच्छे—हुआ करते थे कि दोनों ही संप्रदायों के कट्टर और धर्मांध लोग इनके घोर विरोधी हो गए। पर इतना होते हुए भी दोनों ही संप्रदायों की अधिकांश जनता पर इनकी शिक्षाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा, और दोनों ही जातियों की अधिकांश जनता—जो धार्मिक कट्टरपन की बहक से बरी थी—कबीर की अनुयायिनी बन गई।

इसके बाद कुतुबन और जायसी आदि का समय आता है। कबीर की उक्तियों से जो बात न हुई वह इनकी प्रेमगाथाओं से हुई।

प्रेमगाथाओं का लक्ष्य

इन लोगों ने अपनी प्रेमगाथाओं द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य मात्र के हृदय में—चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, या कोई हो—प्रेमभावना का वही बीज समान रूप से अंकुरित होता है। इन लोगों ने आख्यानक-काव्य द्वारा यह दिखलाया कि किसी के रूप-गुण से आकृष्ट होकर उससे मिलने की इच्छा करना, इस कार्य की सिद्धि के लिये नाना प्रकार के असह्य कष्ट झेलना, अंत में उसकी प्राप्ति के सुख और फिर उसके वियोग के दुःख तथा प्रेम की पीर—क्या हिंदू, क्या मुसलमान—सबके हृदय में समान रूप से उठती हैं। इन लोगों ने मुसलमान होकर हिंदू घरानों में प्रचलित प्राचीन प्रेम-कहानियों को उन्हीं की भाषा में कहा, पर अपने ढंग से, और इस प्रकार यह सिद्ध कर दिया कि जहाँ प्रेम है वहाँ जाति, संप्रदाय या मत-मतांतर का भेद कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार की

प्रेमगाथा लिखनेवालों में सबसे पहले कवि, जिनकी रचना प्राप्य है, शेख कुतुबन हैं। ये चिश्तीवंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और इनकी रचित 'मृगावती' (निर्माण-काल ९०९ हिजरी, अर्थात् संवत् १५५८-९ वि०) इस प्रकार का पहला आख्यानक काव्य है। इसमें अवधी बोली में दोहा-चौपाइयों में चंद्रनगर के राजा गणपति-देव के राजकुमार और कंचननगर के राजा रूपकुमार की राज-कन्या मृगावती की प्रेम-कहानी वर्णित है।

गाथाओं की विशेषताएँ

हम ऊपर कह चुके हैं कि इन लोगों ने हिंदुओं की कहा-नियाँ अपने ढंग से कहीं। भारतीय साहित्य में प्रबंध-काव्यों की जो सर्गबद्ध प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है उससे इन्होंने काम नहीं लिया। इन्होंने फारस की मसनवियों को आदर्श बनाया। इनमें कथा, विचार के अनुसार, सर्गों या अध्यायों में विभक्त नहीं होती। एक सिरे से इनका क्रम अखंड रूप से बराबर चला जाता है, केवल कहीं कहीं घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षकों के रूप में दे दिया जाता है; जैसे—'सात समुद्र खंड', 'राजा गढ़ छेंका खंड' या 'राजा बादशाह युद्ध खंड' इत्यादि। मसनवियों की रचना के संबंध में कुछ विशेष साहित्यिक परंपराओं के पालन का प्रसंग नहीं होता। इनमें केवल इतना ही आवश्यक होता है कि सारी रचना केवल एक ही छंद में हो, पर कथावस्तु के संबंध में एक परंपरा का पालन अवश्य करना पड़ता है। आरंभ में परमेश्वर, नबी और तत्कालीन बादशाह की स्तुति मसनवियों में अनिवार्य समझी जाती है। इस परंपरा का पालन जायसी और कुतुबन आदि सभी प्रेम-गाथा-कारों ने नियम से किया है। छंद भी इन लोगों ने आद्यो-पांत दोहा-चौपाई ही (सात सात या कहीं कहीं नौ नौ चौपाइयों के बाद एक एक दोहा) रखा है। चौपाइयों की संख्या देखकर

यह धारणा होती है कि ये लोग दो ही चरणों से चैापाई पूरी मानते रहे होंगे। पर जैसा चौपाई शब्द से ही स्पष्ट है, चार चरणों में एक चैापाई पूरी होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ऐसा ही किया है।

सबसे मार्के की बात इन प्रेमगाथाओं के संबंध में यह है कि यह सभी अवधी में और दोहा-चैापाई छंद में ही लिखी गई हैं।

प्रेमगाथाओं का रूप और विषय

अब तक प्रायः दस प्रेमगाथाओं का पता लग चुका है। पर उनमें के प्रकाशित संस्करण केवल तीन ही हमारे देखने में आए हैं। सबकी भाषा, शैली तथा विषय-निर्वाह आदि के संबंध में आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है, यहाँ तक कि लेखकों के भिन्न भिन्न नाम यदि न बताए जायँ तो पाठक यही समझेगा कि ये सब एक ही लेखक की लिखी हुई हैं। विषय प्रायः सभी में कुछ कुछ इसी ढंग का होता है। कोई राजकुमार किसी राजकुमारी के रूप-गुण की प्रशंसा सुन या प्रत्यक्ष या स्वप्न या चित्र में देखकर आकृष्ट होता है। उधर भी यही हालत होती है। अंत में वह कुछ विश्वस्त साथियों को साथ लेकर उसकी खोज में चल पड़ता है। प्रायः उसे कोई मार्ग-प्रदर्शक भी मिल जाता है। यह अधिकतर राजकुमारी का भेजा हुआ कोई दूत या दूत का काम करनेवाला कोई पक्षी या तोता हुआ करता है। राह में उसे बड़ी बड़ी विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है। कई बार फलागम होते होते कोई ऐसा विघ्न आ पड़ता है, या कोई ऐसी भूल उससे हो जाती है जिससे उसकी उद्देश्य-सिद्धि फिर एक अनिश्चित काल तक के लिये टल जाती है। इतना ही नहीं, कारागार और प्राणसंकट तक की नौबत आती है। रक्त-पात और युद्ध-वर्णन भी इन आख्यायिकाओं का एक आवश्यक अंग होता है। इनके संबंध में यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि इन

कहानियों का आधार सदा ऐतिहासिक होता है, और बहुत सी घटनाएँ भी ऐतिहासिक होती हैं। यद्यपि कवि उसमें अपनी आवश्यकता के अनुसार हेर-फेर किए रहता है, तथापि इन इतिहास-मूलक कथानकों के अतिरिक्त कवि अपनी इच्छा या आवश्यकता के अनुसार एक या अधिक काल्पनिक कथानक भी मिला देता है। यह प्रायः चरितनायक का उत्कर्ष बढ़ाने और कथा में अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष स्पष्ट करने के उद्देश्य से होता है।

प्रेमगाथाओं में रहस्यवाद

इन प्रेमगाथाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण वह अंश होता है जिसका संबंध अध्यात्म या रहस्यवाद से होता है। लौकिक कथा के द्वारा कवि जो परोक्ष की ओर संकेत करता है वही शायद रचना का प्रधान उद्देश्य रहता है। कथा के अंत में कवि स्पष्ट रूप से कह देता है कि यह सारी कथा अन्योक्ति रूप में कही गई है और उसी रूप में कथा को समझने के लिये वह पाठक से अनुरोध करता है। उदाहरणार्थ—पदमावत में नायक 'रतनसेन' को साधक समझना चाहिए। 'पद्मावती' को प्राप्त करने की इच्छा से उसके हृदय में जो प्रेम की पीर उठती है उसे ईश्वरोन्मुख प्रेम या लगन समझना चाहिए। पद्मावती तक पहुँचने की राह बतानेवाला सुआ गुरु, राघव दूत शैतान, रानी नागमती सांसारिक बंधन तथा सुलतान अलाउद्दीन माया का प्रतिनिधि बताया गया है। निम्न-लिखित चौपाइयाँ देखिए—

मैं यहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पद्मिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥

नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न वहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेमकथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझै पारहु॥

इस प्रकार अंतिम चौपाई में कवि एक प्रकार से चुनौती दे देता है कि यदि उक्त रीति से कथा को समझना चाहो तो समझ लो।

हिंदी और संस्कृत के अधिकांश प्राचीन कवियों की भाँति प्रेमगाथा साहित्य के प्रधान कवि जायसी की भी जन्म-मरण-तिथि, जन्मस्थान, माता-पिता आदि के संबंध में प्रामाणिक रूप से कुछ ज्ञात नहीं है।

मलिक मुहम्मद जायसी

इतना तो इनके उपनाम जायसी से ही प्रकट है कि ये अवध प्रांत के अंतर्गत 'जायस' नामक स्थान के रहनेवाले थे। प्रकृत मातृभूमि या जन्मस्थान चाहे जायस न रहा हो, पर इनके क्रिया-कलाप का केंद्र यही रहा होगा। पदमावत में आई हुई इस पंक्ति से भी यही धारणा पुष्ट होती है—"जायस नगर धरम अस्थानू, तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू।" इस पंक्ति से यह स्पष्ट है कि कहीं से आकर (तहाँ आइ) ये जायस में बस गए थे। कहाँ से आकर, इसका कुछ पता नहीं। इनकी उत्पत्ति के संबंध में यह किंवदंती बहुत दिन से चली आ रही है कि इनका जन्म गाजीपुर के जिले में एक बड़े दरिद्र परिवार में हुआ था। सात वर्ष की अवस्था में इन्हें चेचक की बीमारी हुई जिसमें इनके प्राण तो बच गए, पर इनकी एक आँख जाती रही। कहते हैं कि इस बीमारी से इनकी रक्षा करने के लिये इनकी माता ने मकनपुर के पीर मदारशाह की मनौती मानी थी, और इन्हीं की दुआ से इनकी जान बची। पर मनौती पूरी करने के पूर्व ही इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इनके पिता तो पहले ही मर चुके थे।

इनके एकाच होने का प्रमाण पदमावत की इस पंक्ति से मिलता है—"एक नयन कवि महमद गुनी।" एक दोहे में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि बीमारी में इनकी बाईं आँख तो फूटी थी ही बाँया कान भी बहरा हो गया था[1]। इन किंवदंतियों तथा अन्य ऐतिहासिक वृत्तांतों से इनके अत्यंत कुरूप होने का प्रमाण मिलता है। एक बार अवध का कोई राजा, जो इन्हें पहचानता न था, इनके कुरूप चेहरे को देखकर हँसा। इस पर इन्होंने उससे केवल इतना ही कहा—'मोहिंका हँसेसि कि कोहरहि' अर्थात् तू मुझ पर हँसा कि उस कुम्हार (निर्माता, ईश्वर) पर? कहते हैं कि इस पर राजा बड़ा लज्जित हुआ। बाद में इनका परिचय जानने पर उसने इनसे क्षमा माँगी। इनके जीवनकाल का कुछ अनुमान पदमावत के रचना-काल से भी लगता है जो इन्होंने उक्त ग्रंथ में दे दिया है—"सन नव सै सैंतालीस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा।" इस ग्रंथ का आरंभ सन् ६४७ हिजरी, अथवा तदनुसार संवत् १५६७, में हुआ था। यह शेरशाह का राजत्व-काल था और ग्रंथारंभ में कवि ने इसकी प्रशंसा में भी बहुत से पद्य लिखे हैं। बस इसी से जायसी के आविर्भाव और कविता-काल का स्थूल अनुमान किया जा सकता है।

जायसी के गुरु शेख मोहदी (मुहीउद्दीन) थे। अपनी गुरु-परंपरा का वर्णन जायसी की पदमावत और अखरावट दोनों में दिया हुआ है। यह परंपरा निजामुद्दीन औलिया से आरंभ होती है। इसका सारांश आगे दिया जाता है—

---

(१) 'मुहम्मद बाईं दिसि तजा एक सरवन एक आंखि।'

निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु १३२५ ई०)
|
सिराजुद्दीन
|
शेख अलाउल हक़
|
शेख कुतुब आलम (पंडोई के, १४१५ ई०) — सैयद अशरफ जहाँगीर
|
शेख हशामुद्दीन (मानिकपुर के)
|
सैयद राजी हामिद शाह
|
शेख दानियाल (मृत्यु १४८६ ई०)
|
सैयद मुहम्मद
|
शेख अलहदाद
|
शेख बुरहान (कालपी के, मृत्यु सन् १५६२ ई०)
|
शेख मोहिदी (मोहीउद्दीन)
|
मलिक मुहम्मद (जायसी)

सैयद अशरफ जहाँगीर
|
शेख हाजी
|
शेख मुबारक — शेख कमाल
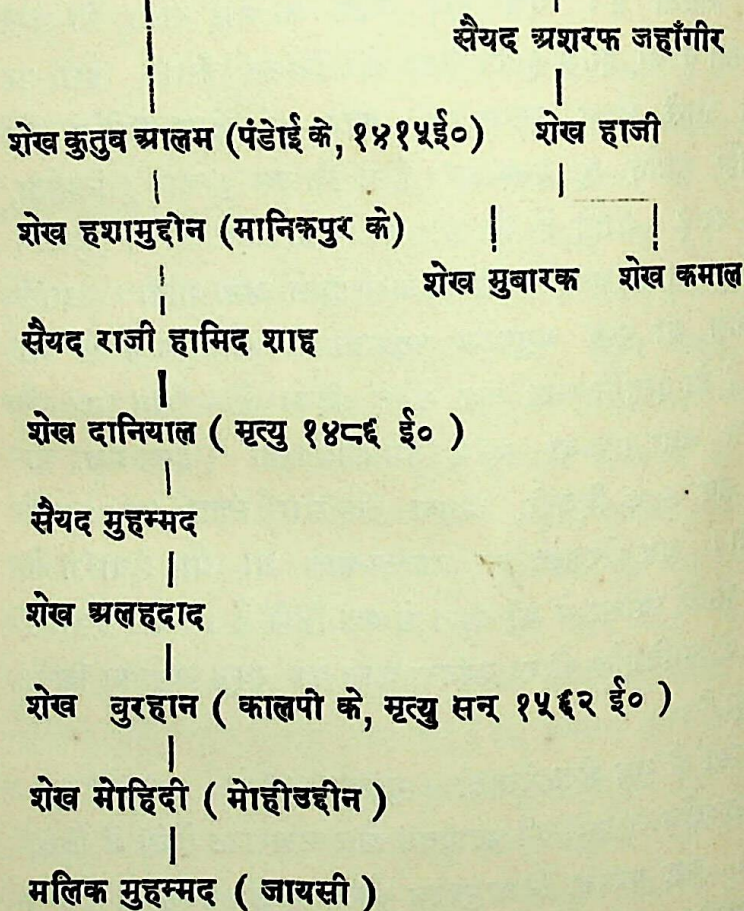
उपर्युक्त परंपरा जायसी के अनुयायी मुसलमानों में अब तक प्रचलित है। पदमावत में दी हुई वंशावली इससे कुछ भिन्न है। अखरावट में इन्होंने अपनी गुरु-परंपरा का इस प्रकार वर्णन किया है—

पा०—पाएउँ गुरू मोहदी मीठा। मिला पंथ जो दरसन दीठा॥
नावँ पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू॥
औ तिन्ह दरस गोसाँईं पावा। अलहदाद गुरु पंथ लखावा॥
अलहदाद गुरु सिद्ध नवेला। सैयद मुहमद के वै चेला॥
सैयद मुहमद दीनहि साँचा। दानियाल सिख दीन्ह सुवाचा॥
जुग जुग अमरस्ता हजरत ख्वाजे। हजरत नबी रसूल नेवाजे॥
दानियाल तइँ परगट कीन्हा। हजरत ख्वाज खिजिर पथ दीन्हा॥

दोनों वंशावलियों का मिलान करने से मालूम होगा कि शेख दानियाल तक तो दोनों एक हैं; पर इसके आगे जायसी की दी हुई वंशावली में दानियाल के गुरु हामिदशाह और इनके ऊपर के गुरुओं का उल्लेख नहीं है। अस्तु, यह तो हुई जायसी की वास्तविक गुरु-परंपरा। परंतु इनके ग्रंथ के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने अन्य संप्रदायवालों से भी बहुत कुछ संस्कृति और ज्ञान पाया था। इनकी रचनाओं में योग तथा वेदांत दर्शन के बहुत से सिद्धांतों का सूफी संप्रदाय के सिद्धांतों के साथ एक बड़ा रुचिर संमिश्रण देखने में आता है, जो शायद अन्य किसी भी कवि की रचना में दुष्प्राप्य है। परमात्मा की प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न आचार्य्यों ने जितने मार्ग दिखाए हैं उनमें से किसी की भी इन्होंने कबीर की भाँति तीव्र आलोचना नहीं की है। जहाँ जिसकी चर्चा की है वहाँ उसके प्रति श्रद्धा भी प्रकट की है। पर इसके साथ ही एक सच्चे मुसलमान की भाँति मुहम्मद साहब के बताए हुए मार्ग को सबसे सुगम और अतएव सर्वश्रेष्ठ माना है। नीचे लिखी हुई चौपाइयों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

विधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोंवाँ जेते॥
तिन्ह महँ पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनो जग छाज बड़ाई॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥

जायसी की एक मुख्य विशेषता यही है कि एक सच्चे पहुँचे हुए फकीर या साधक की भाँति ये सदा दैन्य भाव से ही रहे; न तो इन्होंने कबीर आदि की भाँति अपना कोई नया पंथ ही चलाने का विचार किया, और न इन्होंने अपनी फकीरी के संबंध में किसी प्रकार की गर्वोक्ति ही की। कबीर का तो यहाँ तक दावा था कि जिस चादर (चोला या शरीर) को सुर-नर-मुनि सबने ओढ़कर उसमें धब्बा लगा दिया उसे मैंने ज्यों की त्यों धर दिया। जायसी की भगवद्‌भक्ति में अहंकार के लिये स्थान नहीं था। इन्हें हम सदा एक विनयावनत जिज्ञासु के रूप में ही देखते हैं। इनके एक मात्र आश्रयदाता अमेठी के तत्कालीन महाराजा माने जाते हैं। अमेठी-दरबार में इनका प्रवेश इस प्रकार हुआ—एक बार इनका कोई शिष्य अमेठी में जाकर इनका रचा हुआ नागमती का बारहमासा (पदमावत का एक प्रकरण) गा गाकर भीख माँग रहा था। लोगों ने उसे बहुत पसंद किया और उसे राजा साहब के पास ले जाकर उन्हें भी सुनवाया। राजा साहब को भी यह बहुत पसंद आया और खासकर उन्हें यह दोहा बहुत पसंद आया—

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाय।
सूखि बेलि पुनि पलुहै, जौ पिउ सींचै आइ॥

इस शिष्य से पूछने पर मालूम हुआ कि यह मलिक मुहम्मद नाम के संत कवि की रचना है। राजा साहब ने तुरंत बड़े आदर और आग्रह से उन्हें बुलाया। जायसी वहीं रहने लगे। वहीं पदमावत की रचना भी पूरी हुई। कहते हैं कि अमेठी के राजा के कोई संतति नहीं थी और इन्हीं की दुआ से उनका वंश चला। तबसे इनकी प्रतिष्ठा उक्त दरबार में बहुत बढ़ गई। लोग इन्हें कोई असाधारण सिद्ध पुरुष समझकर दूर दूर से इनके दर्शनों को

आने लगे। इनका देहावसान होने पर कोट के सामने ही इनकी कब्र बनवाई गई, जो अद्यावधि वर्तमान है।

'पदमावत' और 'अखरावट' नामक केवल दो ही ग्रंथ प्राप्त और प्रकाशित हैं। इनमें मुख्य पदमावत है जो अवधी में एक प्रबंध-काव्य है। ग्रंथ दोहा-चौपाइयों में है, और इसी के ढंग पर सौ वर्ष बाद गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जगत्प्रसिद्ध ग्रंथ 'रामचरितमानस' की रचना की है।

जायसी के ग्रंथ

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है। अवधी में इतनी बड़ी उत्कृष्ट और व्यापक प्रबंध-रचना सबसे पहले इन्हीं की मिलती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामचरितमानस' की रचना के समय इनकी पदमावत को बहुत सी बातों में आदर्श बनाया होगा। कम से कम 'मानस' का बाह्य रूप और विशेषतः इसकी भाषा तो 'पदमावत' से बहुत मिलती-जुलती है। अंतर केवल इतना ही है कि 'मानस' में हम अवधी का परिमार्जित, सुसंस्कृत और सर्वथा साहित्यिक रूप देखते हैं। पदमावत में अवधी अपने ठेठ रूप में है और प्रायः ग्रामीणता लिए हुए है। जायसी उतने काव्य-कला-कुशल तो थे नहीं, पर यह तो मानना पड़ेगा कि जिस भाषा का प्रयोग उन्होंने किया है उस पर उनका पूरा अधिकार है। तुलसी की भाषा जो इतनी सुसंस्कृत या साहित्यिक कही जाती है उसका कारण है उनका संस्कृत का गंभीर पांडित्य। 'मानस' की चौपाइयों का माधुर्य, उनका ओज, तथा उनकी साहित्यिकता बहुत कुछ उनमें प्रयुक्त संस्कृत की कोमल कांत पदावली पर निर्भर करती है। जायसी में यही कमी है, या यों कहिए कि यही उनकी खूबी है। अवधी का स्वाभाविक माधुर्य जायसी की ही भाषा में प्रस्फुटित हो पाया है। यह कहना कठिन है कि तुलसी ने अपने चुने हुए संस्कृत के तत्सम

जायसी की कविता (भाषा, रस, अलंकार आदि)

शब्दों या वाक्यांशों के आभूषण-भार से अपनी कविता की शोभा को सचमुच और प्रदीप्त करके दिखाया है या उसकी नैसर्गिक शोभा को ढँक दिया है। यों तो जायसी ने अपने काव्य में प्रायः सभी रसों का समावेश किया है, पर उनकी स्वाभाविक प्रकृति विप्रलंभ-शृंगार की ओर ही जान पड़ती है। संभोग-शृंगार, वीर और करुण में भी इन्हें अच्छी सफलता मिली है। यद्यपि इनका रस-वर्णन भारतीय कवि-परंपरागत प्रणाली के अनुसार ही हुआ है तथापि कुछ बातों में इसका ढंग सबसे निराला है। उर्दू कवियों के वियोग-वर्णन में प्रायः जो एक प्रकार की वीभत्सता पाई जाती है उसकी प्रचुरता पद्मावत में भी है, और शृंगार के संभोग-पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि वह बहुत परिष्कृत अथवा कोमल नहीं है। उसमें मिठास या प्रेम-निर्भरता की मात्रा इतनी अधिक हो गई है कि कुछ लोगों को उसमें ग्रामीणता या अश्लीलता की बू भी मिल सकती है। वीररस का वर्णन इनका सर्वत्र शृंगार की आड़ लिए हुए है और उसी के आधार पर स्थित जान पड़ता है। वीर के साथ ही उचित अवसरों पर रौद्र, भयानक और वीभत्स भी अपनी अपनी छटा दिखाते हैं। 'राजा बादशाह युद्ध खंड' में वीर और 'लक्ष्मी समुद्र खंड' में भयानक रस का बड़ा सुंदर समावेश हुआ है। परंतु एक बार फिर कहना पड़ेगा कि यह सभी ग्रंथ के स्थायी रस 'शृंगार' के आधार पर स्थित है। ग्रंथ के स्थायी रस पर विचार करते समय एक बात और स्मरण रखनी चाहिए। यह सारा ग्रंथ एक प्रकार से अन्योक्ति के रूप में है। कवि ने अंत में स्पष्ट कर दिया है कि इसमें वर्णित नायक-नायिका के प्रेम को साधारण लौकिक प्रेम न समझकर साधक का ईश्वरोन्मुख प्रेम समझना चाहिए। इस दृष्टि से ग्रंथ का स्थायी रस शांत मानना पड़ेगा। इसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी जायसी ने अधिकतर कवि-

कुलागत पद्धति का ही अनुसरण किया है। इनके अलंकारों में सादृश्यमूलक अलंकारों का ही एक प्रकार से साम्राज्य है। यद्यपि अलंकारों के प्रयोग में इन्होंने अधिकतर भारतीय काव्य-पद्धति को ही आदर्श माना है तथापि स्थान स्थान पर फारसी कवित्व की भी झलक स्पष्ट है—विशेषतः करुण रस और विरह-वर्णन के अवसरों पर। अलंकारों का समावेश दो उद्देश्यों से होता है—प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने तथा भाव को प्रदीप्त करने के लिये। और भी उद्देश्य हो सकते हैं; पर मुख्य यही दो होते हैं। साथ ही इसके भावुक कवि अलंकारों के प्रयोग के समय इसका बड़ा ध्यान रखता है कि कहीं उसके द्वारा प्रयुक्त अलंकार से रस के परिपाक में बाधा न पड़े। प्रायः लोग वर्णन को स्पष्ट करने के लिये ऐसी उपमा या उत्प्रेक्षा आदि रख देते हैं जिससे वर्णन तो एक प्रकार से स्पष्ट हो जाता है, पर साथ ही रंग में भंग भी हो जाता है। जायसी भी स्थान स्थान पर इस दोष के भागी हुए हैं। विरह-वर्णन के समय शृंगार को वीभत्स के आधारभूत करना इनके लिये साधारण बात है। नख-शिख-वर्णन के समय इनकी उपमा और उत्प्रेक्षाएँ—विशेषतः हेतूत्प्रेक्षाएँ—भिन्न भिन्न वर्णनीय अंगों की विशेषताओं का तो बहुत स्पष्ट परिचय देती हैं, पर साथ ही उपहासस्पद हो जाती हैं। शृंगार रस के लिये अलंकार भी वैसे ही होने चाहिएँ जिनसे सौंदर्य-भावना में व्याघात न पड़े। पर जायसी की उड़ान तो कहीं कहीं उपहासास्पद सी जान पड़ने लगती है। जो हो, पदमावत एक बृहत् प्रबंध-काव्य है। इसमें कवि को ऐतिहासिक कल्पना के थोड़े से आधार पर एक बहुत बड़ी इमारत खड़ी करनी पड़ी है। किसी भी इमारत का सर्वांगसुंदर बनना असंभव है और फिर जायसी के सामने कोई ऐसे आदर्श भी नहीं थे जिनसे वे कोई विशेष लाभ उठा सकते। 'मधुमालती', 'मुग्धावती', 'मृगावती' तथा 'प्रेमा-

वती' आदि कुछ प्रेम-गाथाओं का उल्लेख पदमावत में मिलता है, और उससे यह स्पष्ट है कि जायसी के पहले कुछ कवि इस प्रकार के प्रेमगाथा-काव्यों की रचना कर चुके थे। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि इन्हीं को आदर्श मानकर जायसी ने अपने ग्रंथ की रचना की होगी, भूल है। पहले तो उक्त गाथाओं में से 'मुग्धावती' और 'प्रेमावती' का अभी तक पता ही नहीं लगा। 'मधुमालती' और 'मृगावती' की खंडित प्रतियाँ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को मिली हैं। इनका जो भाग देखने में आया है उनसे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि जायसी ने अपनी प्रबंध-कल्पना में इनको आदर्श बनाया होगा। सारांश यह कि इतने विस्तृत और व्यापक रूप से एक प्रबंध-काव्य की रचना में जायसी का प्रयास बहुत कुछ मौलिक था। अब यहाँ पर देखना यह है कि इनको इस काम में कहाँ तक सफलता मिली है। किसी भी प्रबंध-काव्य की सफलता की विवेचना के पहले यह देखना चाहिए कि कवि का दृष्टिकोण क्या रहा है। क्या अपनी कथा के परिणाम द्वारा कवि कोई विशेष आदर्श स्थापित करना चाहता है अथवा उसका उद्देश्य पाठकों के सामने कथा के रूप में कोई सुंदर वस्तु उपस्थित करना है। यह तो हम तुरंत कह सकते हैं कि इस रचना में किसी आदर्श-विशेष को सामने रखकर उसे स्थापित करने के उद्देश्य से पात्रों का स्वाभाविक विकास अथवा घटनाओं का नैसर्गिक प्रवाह किसी खास दिशा की ओर नहीं मोड़ा गया है, और फिर जायसी भारतीय काव्य-परंपरा के प्राचीन आदर्श—अंत भले का भला और बुरे का बुरा—के भी कायल नहीं थे। इसके प्रमाण में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि इस कथा का अंत बड़ा करुण और अत्यंत दुःखांत है। सब आपत्तियों के टलने के बाद नायक-नायिका आदि सभी मुख्य पात्र मृत्युमुख में पतित होते हैं और

सारे फसाद की जड़ राघव चेतन या अलाउद्दीन ही का कोई परिणाम दुःखद या सुखद दिखलाना कवि ने आवश्यक नहीं समझा। और फिर कथा के इतने करुण अंत को कवि ने, उपसंहार में, एक विचित्र रूप से शांतरस में परिणत कर दिया है। पर्यवसान के समय कवि इस चातुरी से दृष्टिकोण को दार्शनिक बना देता है जिससे यह स्पष्ट भासित होने लगता है कि उसके मत से मनुष्य-जीवन का वास्तविक अंत दुःखमय नहीं, बल्कि सांसारिक माया-मोह से उदासीन और पूर्ण रूप से शांत होना चाहिए। इस धारणा का कारण यही है कि जहाँ कवि ने कथा के बीच बीच में नागमती और पद्मावती को प्रिय-वियोग में अत्यंत खिन्न और विचारपूर्ण दिखलाया है वहाँ प्रिय के निधन के अवसर पर और भी शोकपूर्ण करुण क्रंदन अपेक्षित था। पर ऐसा नहीं हुआ। हम देखते हैं कि रतनसेन के मरने पर दोनों महिषियाँ घोर विलाप में रत न हो, इहलोक से उदासीन होकर, शांतिमय आनंद के साथ, मृत पति के साथ सती हो जाती हैं। यही हाल वीरगति को प्राप्त अन्य पुरुषों की स्त्रियों का भी दिखलाया गया है। सब कुछ शेष हो जाने पर अलाउद्दीन जब बड़ी बड़ी उम्मीदें बाँधता हुआ गढ़ में घुसा तो उसके सामने एक ऐसा दृश्य आया जिसकी उसे स्वप्न में भी आशा न थी। वह दृश्य इस लोक का नहीं था। उसके हृदय पर भी इस लक्ष्य का गहरा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। सतियों की चिताओं से एक मुट्ठी भस्म उसने उठाई और दुनिया को इसी भस्म की भाँति झूठा समझा—

"छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाइ पिरिथिवी झूँठी।"

---

(२४) कबीर का जीवन-वृत्त

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय एम० ए०, काशी]

उपोद्घात

कबीर एक पंथ के प्रवर्त्तक थे। किसी भी प्रवर्त्तक का जीवन चाहे कितना ही नैसर्गिक एवं निश्चित क्यों न हो, उसके उपासकों की कृपा से वह संदिग्ध एवं स्वर्गीय बन जाता है। जब कभी हम उसके कथित जीवन पर विचार करने लगते हैं तब हमारी बुद्धि चकरा जाती है और हम अपना पिंड छुड़ाने के लिये सहसा कह बैठते हैं कि वह एक काल्पनिक व्यक्ति है, किसी की कल्पना का प्रसव है। यही कारण है कि जिज्ञासा तथा विश्लेषण के इस कठोर युग में भी हम राम, कृष्ण, ईसा और न जाने कितने महापुरुषों को काल्पनिक मान बैठे हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि विल्सन[1] तथा हसन साहब[2] को कबीर के वास्तविक व्यक्ति होने में संदेह है तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। स्वयं कबीर-पंथियों का कथन है कि कबीर ज्योतिर्घन थे, देहधारी संसारी जीव नहीं। विचारणीय प्रश्न यहाँ पर केवल यही है कि उक्त महापुरुषों को, भक्तों और समीक्षकों के साथ अलौकिक और असंभव समझ लें अथवा उनके जीवन के उन तत्त्वों का अनुसंधान करें जिनके आधार पर उनकी उपासना आरंभ हुई। इतिहास का व्यक्ति भी तो तभी तक वास्तविक और शुद्ध है जब तक उसको किसी के हृदय में स्थान नहीं मिला है, अथवा जब तक उस पर किसी की लेखनी की कृपा नहीं हुई है। जब प्रकृति के उन पदार्थों के संयोग-वियोग में अंतर पड़ जाता है जिनको हम जड़

---

(१) Religious sects of the Hindus, 1862, P. 69

(२) उर्दू, सन् १९३० ई०; पृष्ठ २५, २८।

कहते हैं, तब चेतन प्राणियों की तो बात ही निराली है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम कबीर को एक वास्तविक व्यक्ति समझते हैं; उनके जीवन से परिचित होना चाहते हैं। न तो हम उनको इतना स्वर्गीय अथवा ज्योतिर्घन समझते हैं कि उनको देखने से हम और भी अंधविश्वासी बनें, और न इतना काल्पनिक ही कि उनसे हमारा अथवा हमारे देश का कुछ संबंध ही न रहे। हम अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार भक्तों की भावना तथा पंडितों की कल्पना के बीच एक ऐसा सेतु बनाना अथवा उसका पता लगाना चाहते हैं जिसके आधार पर हम कबीर के वास्तविक जीवन को पार कर सकें। हम कबीर के जीवन के उन वृत्तों पर प्रकाश डालना अपना धर्म समझते हैं, जिनके कारण कबीर, कबीर बने।

कबीर के जीवन पर विचार करने के लिये जो सामग्री उपलब्ध है वह इतनी अपर्याप्त और संदिग्ध है कि उस पर बिना मीन-मेष के विश्वास नहीं किया जा सकता। हम 'नवरत्नकारों' के इस मत से—"हमको यह समझ पड़ता है कि उन लोगों के विचारों में कोई सार नहीं, जो समझते हैं कि लिपिबद्ध न होने के कारण कबीरदास की वास्तविक शिक्षाएँ हमको उपलब्ध नहीं हैं। हमको समझ पड़ता है कि जब तक इन महात्मा का एक भी ग्रंथ विद्यमान है, तब तक इनकी वास्तविक शिक्षाएँ संसार से हट नहीं सकतीं[1]"—सहमत नहीं हो सकते। हमारी दृष्टि में कबीर तथा कबीर-पंथ विरोधी शब्द हैं। कबीर ने जिन बातों का विरोध किया वे ही बातें कबीर-पंथ के स्तंभ हैं। कबीर की गोष्ठियों और बीजक के प्रतिपाद्य-विषय, भक्त-रचित होने पर भी, एक नहीं हैं। राम, नाम, सत्य-नाम, सत्यकबीर आदि शब्दों की एकता तभी स्वीकृत हो सकती है

प्रामाणिक ग्रंथ

---

(१) हिंदी-नवरत्न, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ९१९।

जब संसार से भिन्नता का नाम ही मिट जाय। यदि राम और नाम में कुछ भी अंतर न होता तो राम[1] का बहिष्कार और नाम का स्वागत न किया जाता। हमारी समझ में तो कबीर 'दास' और कबीर 'साहब' में भी असाध्य अंतर है। एक देशी है तो दूसरा विदेशी, एक अपना है तो दूसरा पराया, एक में प्रपत्ति का भाव निहित है तो दूसरे में शासन की संरक्षा। संक्षेप में, कहने का आशय यह है कि कबीर के अध्ययन तथा उनके जीवन के परिचय के लिये यह परम आवश्यक है कि उनके वचनों का समुचित चयन, सावधानी के साथ, किया जाय। यह असाध्य अथवा असंभव होने पर भी करणीय है। जिस ढंग से, कबीर की ओट में, मनमानी बातों का प्रतिपादन हिंदी-साहित्य में हो रहा है, उसका प्रधान कारण हमारी उक्त उपेक्षा है। जो लोग प्रतिवर्ष 'कबीर' सुनते हैं, बात बात में कबीर के नाम पर 'कविता' करते हैं, 'कहैं कबीर' के आगे कुछ भी जोड़ लेते हैं, वे इस बात को न जाने किस न्याय से संगत समझ सकते हैं कि कबीर के अध्ययन के लिये सब कुछ प्रमाण है। स्वयं कबीरदास तथा अन्य संतों ने इस प्रकार के कवियों को कितना कोसा है इसका निदर्शन हमने "कह कबीर कब लौं जियै जूठा पत्तल चाट" नामक लेख[2] में किया है। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि "शेर बनावै कबीर-

---

(१) राधास्वामी संघ की ओर से जो 'बानियाँ', विशेषतः कबीर की, प्रकाशित हैं उनमें 'राम' का बहिष्कार किया गया है। राम एवं नाम के संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि राम नामी हो जाते हैं और नाम बिना नामी के व्यर्थ शब्द मात्र रह जाता है। नाम की उपासना का रहस्य सगुण का परिचायक है, निर्गुण का कदापि नहीं। राम एवं नाम के विभेद का महत्त्व न समझने के कारण पूरा भ्रम चल पड़ा है। कबीर के राम के विवेचन में इस पर विचार किया जायगा। इस लेख से इसका अधिक संबंध नहीं।

(२) सरस्वती पत्रिका, सन् १९३२ जून, पृष्ठ ६८०।

दास ढेर बनावै कविता (कवि)" अक्षरशः सत्य है। जो लोग आँख-कान खोलकर संसार में चलते हैं उनको इस विषय में कभी संदेह नहीं हो सकता। इस समय न तो इसका अवसर है और न अवकाश ही कि कबीर के मूल वचनों का प्रक्षिप्त रचनाओं से उद्धार किया जाय। यहाँ पर तो हम इतना ही कहकर संतोष करते हैं कि प्रामाणिकता की दृष्टि से 'कबीर-ग्रंथावली' को ही श्रेष्ठ समझना संगत जान पड़ता है। ग्रंथ साहब के कबीर-संबंधी पद्यों तथा दादूपंथियों में प्रचलित कबीर के पद्यों का मेल उक्त ग्रंथावली के पद्यों से भली भाँति हो जाता है। भाषा में कुछ भेद अवश्य पड़ता है; किंतु वह सधुक्कड़ी भाषा में और भी गौण है। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस समय हम अन्य ग्रंथों की उपेक्षा करेंगे। जहाँ तक हो सकेगा कबीर के जीवन के संबंध में प्रचलित प्रवादों का परितः परिशीलन करेंगे; किंतु प्रमाण अधिकतर उक्त ग्रंथावली का ही मान्य होगा।

जन्म-तिथि

कबीरदास के जन्म-काल[1] के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इस मतभेद का मुख्य कारण यह है कि लोग कबीर पर विचार करते समय इस बात को निश्चित मान लेते हैं कि वे रामानंद के शिष्य और उनके अन्य चेलों के समकालीन थे। 'की' महोदय ने जो कबीर का जन्मकाल माना

(१) कबीरदास के समय के विषय में नाना विद्वानों के मतों का समालोचन आवश्यक नहीं प्रतीत होता। फर्कुहर, ग्रियर्सन, कारपेंटर की तथा अन्य पश्चिमीय पंडितों एवं भांडारकर प्रभृति भारतीय विद्वानों की सम्मतियों के समीक्षण में समय नष्ट करना संगत नहीं कहा जा सकता। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कोरे अनुमान के आधार पर वाद-विवाद करने से अधिक हितकर कबीर के जीवन का सामान्य परिचय प्राप्त करना है। अन्य मतों का खंडन उतना ही किया गया है जितना प्रसंग-वश आ गया है। विशेष ध्यान उनके जीवन-वृत्त पर ही दिया गया है।

है उसी को पश्चिम के अधिकतर पंडित मान्य समझते हैं। परंतु पंडित रामप्रसाद त्रिपाठीजी[1] ने कबीर के समय के विषय में जो विवेचन किया है वह उक्त विद्वानों के प्रतिकूल पड़ता है। की[2] महोदय का एक मात्र प्रमाण यही है कि उक्त काल मान लेने से कबीर के विषय में जो प्रवाद प्रचलित हैं उनकी संगति बैठ जाती है। त्रिपाठीजी का कथन है कि कबीर का आविर्भाव कुछ और भी पहले संभव है। हिंदी के अधिकांश विद्वानों को कबीर का जन्मकाल वही मान्य है जो कबीर-पंथियों में धर्मदास-प्रतिपादित कहा जाता है। कबीर-पंथियों में कबीर के जन्म के विषय में यह पद्य प्रचलित है—"चौदह सौ पचपन साल गए, चंद्रवार एक ठाठ ठए। जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥ घन गरजे दामिनि दमके बूँदें बरसें झर लाग गए। लहर तालाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए॥" इस पद्य के आधार पर पंडित अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध',[3] मिश्रबंधु[4] तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी[5] जी कबीर का जन्म-समय सं० १४५५ समझते हैं। किंतु कबीर-ग्रंथावली[6] में यह सिद्ध कर दिया गया है कि इस मत में कुछ दोष है। जिस समय कबीरदास का आविर्भाव हुआ उस समय सं० १४५५ था नहीं, प्रत्युत बीत चुका था। अस्तु, कबीर की जन्मतिथि "१४५६ में ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा चंद्रवार को ही पड़ती है।" हमको भी यही तिथि मान्य है। आगे चलकर इसकी पुष्टि होगी।

---

(१) हिंदुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका, सन् १९३२ ई०।
(२) Kabir and his followers, F. E. Keay, P. 27
(३) कबीर-वचनावली, पृष्ठ ५।
(४) नवरत्न, पृष्ठ ५०४।
(५) कविता-कौमुदी, पृष्ठ १३३।
(६) कबीर-ग्रंथावली, पृष्ठ १८, १९।

जन्मकाल की अपेक्षा कबीर का जन्मस्थान एक प्रकार से निश्चित समझा जाता था। पर विद्वानों को इसमें भी कुछ संदेह उत्पन्न हो गया है। कुछ लोगों की धारणा है कि कबीर का जन्मस्थान काशी नहीं, संभवतः मगहर था। उनके पक्ष में ग्रंथ साहब का यह पद्य है—"पहिले दर्सन मगहर पायो, फुनि कासी बसे आई।" उनके विचार में "फुनि कासी बसे आई" से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कबीर कहीं अन्यत्र से आकर काशी में बसे; वहाँ के वास्तविक निवासी नहीं थे। उनका यह भी कथन है कि यद्यपि प्रस्तुत पद्य में यह स्पष्ट नहीं कहा गया है कि उनका जन्मस्थान मगहर था, तथापि मगहर में जुलाहों की अधिकता और इस पद्य के 'दर्सन पायो' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कबीर का जन्मस्थान मगहर था। इस विषय की मीमांसा करते समय उक्त विद्वानों ने कुछ अधिक सावधानी से काम नहीं लिया, नहीं तो वे सहसा इस प्रकार न मान बैठते। कबीर कहते हैं—"तोरे भरोसे मगहर बसियो। मेरे तन की तपनि बुझाई॥ पहिले दर्सन मगहर पायो। फुनि कासी बसे आई॥ जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानी॥"[1] प्रस्तुत अवतरण से यह अवगत हो जाता है कि कबीर इस समय मगहर में विराजमान हैं; और वहीं पर उक्त पद रच रहे हैं। यदि यह ठीक है तो 'फुनि कासी बसे आई' के स्थान पर 'फुनि कासी बसे जाई' का प्रयोग ही स्वाभाविक है। मेकालिफ साहब ने प्रकृत पद्य का अनुवाद इस प्रकार किया है—"I first saw you at kāsi and then came to reside at Magahar" अर्थात् "मैंने प्रथम आपको काशी में देखा और फिर मगहर में निवास के लिये आया"। हमारी समझ में मेकालिफ साहब ने जिस पाठ को

(मार्जिन शीर्षक: जन्मस्थान)

---

(१) कबीर-ग्रंथावली, पृ० २९६

प्रामाणिक समझा है वह यह है—"पहले दर्सन कासी पायो पुनि मगहर बसे आई।" अब इस पाठ में न तो 'आई' का झगड़ा है, न प्रचलित प्रवाद की उपेक्षा। इसका ठीक अर्थ यह है कि कबीर-दास को साक्षात्कार काशी में हुआ था; और वे फिर मगहर में जाकर बस गए थे। कबीरदास को काशी छोड़ने का क्षोभ था, किंतु वे काशी और मगहर को मुक्ति की दृष्टि से समान समझते थे। एक बात और है। इस मत के लोग कबीर को जन्म से मुसलमान जुलाहा मानते हैं। जहाँ तक हमें इतिहास का पता है उस समय मगहर में मुसलमानों का निवास न था। इसके अतिरिक्त की[1] साहब ने बनारस गजेटियर के आधार पर आजमगढ़ के बेलहरा को भी कबीर का जन्मस्थान कहा है, जिसको आप भी संगत नहीं समझते। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में उक्त मत मान्य नहीं हो सकते। निदान, काशी ही कबीर का जन्मस्थान है। न जाने कितनी बार कबीर ने अपने को काशी का जुलाहा कहा है। यही मत परं-परागत भी है।

कबीर के प्रकट होने के विषय में कबीर-पंथियों का जो कथन है उसका कुछ आभास हमको मिल चुका है—"लहर तलाब में कमल खिले तहँ कबीर भानु प्रगट भए।"

अनेक मत

इसका प्रतिपादन घट रामायण[2] के इन पद्यों से—"खुद कबीर अविगति से आया। पुरइन पात वो भया अकाया॥" तथा "कलजुग नाम कबीर कहाए। पुरइन सेत पान पर आए॥ कासी नगर कीन्ह का काया। नूरा नीमा के घर आया॥ बालक जानि चीन्ह नहिं पाए। कई दिवस अस बीति सिराए॥"—हो जाता है। कबीर-पंथियों के कथनानुसार कबीरदास का आवि-

(१) Kabir and his followers, P. 28.

(२) तुलसी साहब, घट रामायण, पृष्ठ १३३।

भाँव लहरतारा के तालाब में कमल के पत्ते पर हुआ। यह एक ऐसी बात है जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। स्वयं कबीर की धारणा इस प्रकार के अवतारों के विरोध में थी। कबीर कहा करते थे "जे तूँ बाँभन बभनीं जाया, तौ आन बाट ह्वै काहे न आया।" इसका तात्पर्य यह नहीं था कि जो लोग बड़े कहे जाते हैं उनके आने का बाट भिन्न है। कबीर की दृष्टि में सबके आने का मार्ग एक ही था; और इसी आधार पर वे कहा करते थे कि वस्तुत: सब लोग एक ही हैं। पर कबीर के उपासकों को यह बात प्रिय न लगी। उन्होंने सोचा, आदिपुरुष को जीवन-मरण के कष्टों से मुक्त करने के लिये उनके जन्म को अलौकिक बना दो। उनको कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति याद थी। उसी का संकेत पाकर उन्होंने कबीरदास को जन्म के सामान्य कष्ट से मुक्त कर दिया। कुछ लोगों ने विचार किया कि कबीर वस्तुत: लहर-तालाब में ही पाए गए थे। इसको तो स्वयं कबीर-पंथी भी स्वीकार करते हैं। किंतु इसका जो कारण वे लोग बतलाते हैं वह अंध-विश्वास का फल है। कबीर के लहर-तालाब में मिलने का एक-मात्र कारण यही हो सकता है कि वह बालक जारज था। कबीर के संस्कार पुनीत थे, अत: उनका जन्म किसी विधवा ब्राह्मणी से अवश्य था। जिन लोगों में श्रद्धा थी, उन लोगों ने इसको आशीर्वाद का परिणाम समझा और जो लोग हेतुवादी थे उन्होंने इसे अन्यथा समझकर जिज्ञासा का परितोष कर दिया। नाभादास जैसे भक्तों की दृष्टि में गुरु-प्रसाद से सब कुछ संभव था; अत: कबीर का जन्म 'कर' अथवा अँगूठे से हो गया और वे कर-वीर अथवा कबीर के नाम से प्रख्यात हुए। जो लोग किसी बात को सामान्य रूप से मान लेते हैं उनकी दृष्टि में कबीर नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे। ईश्वर ने उनको नीच के घर इसलिये भेजा कि उनकी छत्र-छाया में

नीच भी ऊँच बन जायँ। इस प्रकार कबीर के माता-पिता के विषय में अनेक मत हैं। इन मतों में किसी को सत्य सिद्ध करना आसान नहीं, भारी काम है। कुछ लोग तो इसको असंभव ही समझते हैं।

माता

कबीर के वचनों में 'माई' शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है। यह कहना अत्यंत कठिन है कि इस शब्द का अर्थ किस स्थल पर वस्तुतः क्या है। फिर भी कुछ स्थल ऐसे हैं जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि उनका तात्पर्य माया से नहीं, माता से है। इन्हीं स्थलों के आधार पर कबीर की माता के विषय में कुछ पता लगाने की चेष्टा इस समय बलवती हो रही है; अतः हम इन्हीं पर विचार करना उचित समझते हैं। कबीर का कथन है "जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह ॥ ठाढ़ी रोवै कबीर की माइ, ए लरिका क्यूँ जीवैं खुदाइ। कहै कबीर सुनहु री माई, पूरणहारा त्रिभुवन-राई ॥" एक दूसरे पद्य में कबीर अपनी माता से कहते हैं "को बीनैं प्रेम लागो री, माई को बीनैं। राम रसाँइण माते री, माई को बीनैं ॥ टेक ॥ पाई पाई तू प्रतिहाई, पाई की तुरियाँ बेचि खाई री, माई को बीनैं ॥" कबीर की माता एक स्थल पर झंखती हैं "हमरे कुल कौने राम कह्यौ ? जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयो।...घर के देव पितर को छोड़ी गुरु को सबद लियो।" कबीर का एक अत्यंत प्रचलित 'शब्द', जो उनके जीवन के संबंध में प्रायः उद्धृत किया गया है, यह है—"मुसि मुसि रोवै कबीर की माई। ए बारिक कैसे जीवहिं रघुराई ॥ तनना बुनना सब तज्यो है कबीर। हरि का नाम लिखि लियो सरीर ॥ जब लग तागा बाहउ बेहो। तब लग बिसरै राम सनेही ॥ ओछी मति मेरी जाति जुलाहा। हरि का नाम लह्यौ मैं लाहा ॥ कहत कबीर सुनहु मेरी

माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई॥" इनके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी 'माई' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ माता हो सकता है; पर उससे नवीन तथ्यों का पता नहीं चलता। इसलिये उसको छोड़ देते हैं।

उपर्युक्त अवतरणों में कतिपय शब्द बड़े ही महत्त्व के हैं। 'ए लरिका' पर विचार हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ पर हमको केवल उन अंशों पर ध्यान देना है जिनका कबीर की माता से संबंध है।

यवनी-माता

कबीर की माता को कबीर की चिंता है। इसी चिंता का विश्लेषण हमारा मुख्य ध्येय है। कबीर की माता को केवल पेट की चिंता नहीं है। उसको तो इस बात की भी सनक सवार है कि कबीर राम-नाम न ले। यह काम उसके कुल की मर्यादा के प्रतिकूल है— "हमरे कुल कौने राम कह्यो ?" इतना ही नहीं, वह झुँझलाकर गाली तक दे बैठती है—"जब की माला लई निपूते तब ते सुख न भयो।" जिस पुत्र की उसे चिंता है उसी को वह इस प्रकार अनिष्ट कह रही है। इसका कारण क्या है ? जब से कबीर ने राम की माला ली तभी से उसको सुख नहीं मिला। कबीर भी उसके इस काम से संतुष्ट नहीं हैं। वे कहते हैं "पाई[1] पाई तूँ पुतिहाई", तुझको पुत्र उत्पन्न करने का फल मिल गया। एक तो यह कि तू संसार में इतना निरत रहती है, सुख की इतनी लिप्सा तुझमें है कि तू अब भी दुःख उठा रही है, ममता अब भी तुझको सता रही है। दूसरे यह कि तूने भक्त उत्पन्न किया है, अतः तू धन्य है; तुझको इसका फल मिल गया। माता का पुत्रवती होना तभी सफल है जब उसका पुत्र भगवद्भक्त हो। विचारणीय प्रश्न

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ९२

केवल यही है कि कबीर का राम-नाम कहना क्यों उनके अथवा उनकी माता के कुल की मर्यादा के प्रतिकूल है ? उनके कुल में किसी ने राम-नाम क्यों नहीं कहा ? इस प्रश्न का सहज समाधान यही हो सकता है कि कबीर अथवा उनकी माता यवन-जुलाहा-कुल की थी, जिसके कुल में इसलाम के खुदा या पैगंबर साहब का नाम मंगलप्रद था, काफिर राम का नहीं। तो क्या कबीर नीमा के औरस पुत्र थे ? प्रमाण तो इसी पक्ष में अधिक हैं।

पिता

यदि कबीर नीमा के औरस पुत्र थे तो नीरू या नूरअली को उनका जनक मान लेने में कुछ विशेष आपत्ति नहीं है। कतिपय विद्वानों ने मुसलमानों के इस मत को उचित समझा है कि कबीर नीरू तथा नीमा के औरस पुत्र थे। मुसलमान कबीर-पंथी इसी मत का प्रचार करते हैं। अनुसंधान के आधार पर लिखनेवाले मुसलमानों का मत औरों से भिन्न नहीं है। जिनको अन्वेषण करना है वे सहसा किसी बात को सिद्ध नहीं मान सकते; उनको पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है, कोरे अनुमान की नहीं। हम स्पष्ट कह देना अनुचित नहीं समझते कि इस विषय का दृढ़ प्रमाण एक भी उपलब्ध नहीं है जो यह सिद्ध कर दे कि कबीर नीरू और नीमा के औरस पुत्र थे। हमारी यह धारणा है कि कबीर के अध्ययन से यही मत साधु सिद्ध होता है। 'ग्रंथावली' में कतिपय स्थल इस ढंग के भी हैं कि उनके आधार पर कबीर किसी गोस्वामी के पुत्र कहे जा सकते हैं और अहमदशाह[1] तथा की महोदय उसका प्रतिपादन भी कर सकते हैं। कबीर स्वयं कहते हैं[2] —"पिता हमारो बड़ु गोसाईं। तिसु पिता पहि हौं क्यों करि जाई ? सतिगुरु मिला ता मारग दिखाया।

(१) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० २८।
(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३०१।

जगत पिता मेरे मन भाया ॥ हौं पूत तेरा, तू बाप मेरा । एकै ठाहरि दुहा बसेरा ॥" इस बड़ गोसाईं को उक्त महानुभाव गोस्वामी अष्टानंद का वाचक समझकर कबीर को उनकी संतान कह सकते हैं। नीमा गोस्वामीजी की चेली तथा कबीरदास की जननी सिद्ध हो सकती है और कबीर नूरअली के 'तरायन' पुत्र कहे जा सकते हैं। पर जब तक अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होते तब तक कबीर को उक्त दंपती का औरस पुत्र मानना ही न्यायानुमोदित है।

कबीर ने अपने को बार बार जुलाहा कहा है। विचारदास जैसे विचक्षण भक्त इसका अन्यथा अर्थ करते रहें; कबीरदास ने स्पष्ट

जुलाहा

रूप से अपनी जाति को जुलाहा तथा कोरी कहा है। इसमें संदेह की जगह नहीं। कबीर ने 'पूरब जनम' का जो राग अलापा है वह अवश्य ही चिंतनीय है। (आपका कथन[1] है—"पूरब जनम हम बाँम्हन होते, वोछे करम तप हीना। रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना।" इसका तात्पर्य यह नहीं कहा जा सकता कि कबीरदास अपने प्रथम जीवन के संबंध में प्रकृत वाक्य कह रहे हैं। उनके कहने का आशय यह है कि ब्राह्मणों को अपने वंश का ध्यान और भी इस दृष्टि से रखना चाहिए कि उनको रामदेव की सेवा मात्र करनी है, यदि इस बार तनिक भी चूके तो फिर नीचे गिर पड़ेंगे।) कबीरदास इस पद में भी अपने को काशी का जुलाहा ही कहते हैं "तूँ बाँम्हन मैं कासी का जुलाहा।" अवश्य ही कबीर मुसलमान 'जुलाहा' थे। कबीर वस्तुतः नाम था, उपनाम नहीं जैसा कि विल्सन[2] साहब समझना चाहते हैं। उस समय मुसलमान हिंदी

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १७२।
(२) रिलिजस सेक्स आफ दी हिंदूज पृ० ६१ (नोट)।

में हिंदू उपनाम रखते थे। हिंदू फारसी या अरबी उपनाम हिंदी-कविता में कभी नहीं रख सकते थे। आज-कल भी इसका अभाव है। अस्तु, आपका कबीर को हिंदू सिद्ध करना निराधार है। इस विषय में माल्कम साहब का मत ही मान्य है। कबीर ने अपनी जाति को केवल जुलाहा ही नहीं कहा है, उसको कमीना भी कहा है[1] "जाति जुलाहा नाम कबीरा, अजहूँ पतीजै नाहीं।......आइ हमारै कहा करौगी, हम तो जाति कमीनाँ॥" इस पद में कबीर ने अपनी जाति तथा नाम को इतना स्पष्ट कर दिया है कि उसके विषय में विवाद करना स्वयं कबीर का अविश्वास करना है। जो[2] लोग 'जुलाहा' को सर्वत्र प्रतीक सिद्ध करना चाहते हैं अथवा 'कबीर' को उपनाम मानते हैं, या कबीर, कबीरा, दासकबीर, संत-कबीर आदि का प्रयोजन भिन्न समझते हैं, उनको एक बार इस विषय पर फिर विचार कर लेना चाहिए; और कबीर के समकालीन रैदास के इस वचन[3] का रहस्योद्घाटन करना चाहिए "जाके ईद बकरीद कुल गऊ के बध करहिं, मानियहिं शेख शहीद पीरा। जाके बाप ऐसी करी पूत ऐसी धरी तिहु रे लोक परसिध कबीरा।" रैदास ने स्पष्ट कह दिया है कि कबीर के कुल में शेख, शहीद, पीर की प्रतिष्ठा थी, ईद-बकरीद मनाई जाती थी, गो-भक्षण भी होता था। उनके पिता भी ऐसा करते थे। हम पहले देख चुके हैं कि कबीर के कुल में किसी ने राम नाम नहीं कहा था। निदान हमको यह मानना पड़ता है कि कबीर मुसलमान-संतान थे।

कबीर ने अपने विषय में जो कुछ कहा है उसका संक्षिप्त परिचय मिल गया। अब हमको यह देखना है कि उनके अनुयायी

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २७०।
(२) विचारदास, बीजक, भूमिका पृ० ४०-४१।
(३) ग्रंथ साहब पृ० ६६८।

संतों का, इस विषय में क्या मत है। 'अमर-सुख-निधान' नामक ग्रंथ में कबीर को धर्मदास ने प्रायः 'जिंद' नाम से संबोधित किया है। कबीर की बातों से चकित होकर आप विचार करते हैं[1]—"राम नाम निज प्रान अधारा। सो यह जिंद मेटि सब डारा ॥ कीजै कहा जिंद को भाई? जाति म्लेच्छ कथै चतुराई।" संपादक महोदय ने जिंद का अर्थ 'बंधोगढ़ निवासी बनिये' माना है; जो सर्वथा अमान्य है। कबीर इस पद में जिंद और म्लेच्छ कहे गए हैं। एक दूसरे पद्य में धर्मदास[2] ने कबीर से कहा है "तुम ले जावो जिंद जी, हम करिबै फरहार। लंघन न करिहौं पीर जी, मानौं बचन तुम्हार ॥" इस पद्य में कबीर जिंद तथा पीर माने गए हैं; अन्य स्थल पर कबीरदास[3] धर्मदास से कहते हैं "तुम तो भक्त हम जिंद फकीरा। सुधि करि देखो सत मत धीरा।" इसमें कबीर ने अपने को 'जिंद फकीर' कहा है। इस प्रकार कबीर म्लेच्छ, फकीर, जिंद और पीर सिद्ध होते हैं। फकीर और पीर शब्द का प्रयोग साधु और गुरु के अर्थ में हिंदुओं के लिये भी मिलता है; अतः इनके आधार पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कबीर मुसलमान थे और सूफी मत का प्रचार करते थे। किंतु, इन स्थलों पर इन शब्दों का प्रयोग इस ढंग से किया गया है जिससे यही ध्वनित होता है कि कबीर इसलाम के अंतर्गत समझे जाते थे। हमारे इस कथन का प्रतिपादन म्लेच्छ तथा जिंद शब्द भली भाँति कर देते हैं। म्लेच्छ का प्रयोग मुसलमानों के लिये आज भी प्रसिद्ध है। रहा जिंद शब्द, उसके विषय में हमारी धारणा है कि यह 'जिंदीक' का रूपां-

(१) धर्मदासजी की शब्दावली जीवन-चरित्र पृ० ४।
(२) ,, ,, ,, पृ० ५।
(३) ,, ,, ,, पृ० ६।

तर है, जिसका अर्थ होता है स्वतंत्र विचारवाला। मुसलमानों में जो 'किताब' के पाबंद न थे, आजाद तबीयत के थे, वे जिंदीक कहे जाते थे। यदि कबीर मुसलमान न होते तो उनको काफिर की उपाधि मिलती, जिंद की नहीं। उक्त संवाद का परिणाम यह हुआ[1]—"मेरे मन बसि गए साहब कबीर ॥ हिंदू के तुम गुरू कहाओ मुसलमान के पीर।" स्पष्ट है कि कबीर धर्मदास की दृष्टि में पहले म्लेच्छ थे, फिर धीरे धीरे समर्थ साहब एवं सत्पुरुष बन गए:—"कलिजुग प्रगट कबीर, काल को देखा जोरा। किए कासी प्रस्थान, आप भए बंदी छोरा।"

कबीर को मुसलमान समझने की परंपरा किस प्रकार चलती आ रही है, इसका भी कुछ निदर्शन वांछनीय है। हमने यह देख लिया कि अमर सुख निधान, जिसको लोग कबीर का ग्रंथ समझते हैं, तथा धर्मदास, जो उनके समकालीन शिष्य थे, कबीर के विषय में किस सत्य का प्रतिपादन करते हैं। अब हमको यह विचार करना है कि अन्य संतों ने इस विषय में क्या कहा है। यह स्मरण रखने की बात है कि जब से भगवान् की भावना पतित-पावन के रूप में प्रचलित हुई तब से भक्तों ने पापों की सनद बटोरना आरंभ कर दिया। ऐसी परिस्थिति में यदि कबीर किसी विधवा की संतान होते तो इस प्रकार के भक्त उनको नजीर के रूप में पेश अवश्य करते। स्वयं कबीर को कभी इस बात की चिंता नहीं हुई कि वे पिता किसको कहें। उनकी समझ में तो यह बात नहीं आती थी कि "वेश्या का पूत पिता काको कहै।" कहने का तात्पर्य यह कि कबीर को संत-संप्रदाय भी मुसलमान या संत-गुरु के रूप में याद करता आ रहा है,

संतों का मत

---

(१) धर्मदासजी की शब्दावली जीवनचरित्र पृ० ७५।

हिंदू या जारज के रूप में नहीं। चरनदास[1] का कथन है "दास कबीरा जाति जुलाहा, भए संत उपकारी।" तुलसी[2] साहब का कहना है "कासी नगर कीन्ह कर काया। नूरा नीमा के घर आया।" तुकाराम[3] तो कबीर को शुद्ध मुसलमान मानते हैं। यह तो रही पुराने संतों की बात। आजकल भी ऐसे संतों की कमी नहीं है जो कबीर को मुसलमान मानते हैं। शिवव्रत लाल[4] का कहना है "कबीर साहब नूरा नामी मुसलमान जुलाहे के घर में प्रगट हुए थे। नूरा की स्त्री का नाम नीमा था।...अव्वल तो वे मुसलमान थे; और मुसलमानों में भी निहायत रजील कौम में से थे।" प्रस्तुत अवतरणों के आधार पर कबीर को मुसलमान मान लेने में किसी भी अभिज्ञ को आपत्ति न होगी। वस्तुतः कबीर तन से मुसलमान, मन से मुक्त और विचार से परमहंस थे[5]।

गुरु

कबीर के गुरु अथवा पीर कौन थे? उन्होंने उनसे किस समय दीक्षा ली? गुरु-शिष्य का परस्पर क्या संबंध रहा? आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान सहसा नहीं किया जा सकता। मुसलमान कबीर-पंथियों का कथन है कि कबीर शेख तकी के मुरीद थे। हिंदू कबीर-पंथी कहते हैं कि कबीर को गुरु करने की आवश्यकता नाममात्र को पड़ी। कबीर साहब तो स्वयं सर्वज्ञ थे, गुरु की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिये आपने किसी प्रकार रामानंद को गुरु बना लिया। अधिकतर विद्वानों की दृष्टि में स्वामी रामानंद जी ही कबीर के गुरु थे।

---

(१) चरनदासजी की बानी पृ० ८०।
(२) घट रामायण पृ० १८६।
(३) मरहठा मिस्टिसिज्म पृ० ३२६।
(४) सुरति शब्दयोग पृ० ३३, ३४ दिबाचा।
(५) ग्रंथ साहब पृ० ६६८।

स्वामीजी ने कबीर को मंत्र-दीक्षा दी थी या कबीर ने उनके 'राम नाम कह' को ही मंत्र-दीक्षा समझ लिया था ? इसका विवेचन करना अब तक आवश्यक नहीं समझा गया। इस बात पर भी अभी तक उचित ध्यान नहीं दिया गया है कि कबीर के राम यदि आरंभ में रामानंद के राम थे तो किस प्रकार अंत में एक विलक्षण राम बन गए। सारांश यह कि कबीर के गुरु का प्रश्न अनुसंधान की दृष्टि से अभी अछूता है। कुछ लोग कह सकते हैं कबीर रामानंद के शिष्य थे; कबीर ने स्वयं इसको स्पष्ट कर दिया है[1] "कासी में हम प्रगट भए हैं रामानंद चेताए। समरथ का परवाना लाए हंस उबारन आए"। उक्त महानुभावों से हमारा यही नम्र निवेदन है कि हम इसको कबीर की रचना मानने में असमर्थ हैं। हमारी दृष्टि में, इस पद्य में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि इस पद्य का प्रसंग क्या है और इससे किस तथ्य का प्रतिपादन होता है। इसमें संदेह नहीं कि इस पद्य में इसलाम और हिंदू मत की खिचड़ी पकी है पर उससे यह कबीर-रचित नहीं हो सकता। यह तो किसी भक्त शिष्य की करतूत है जो गोरख को घटाने के लिये की गई है। कबीर इस स्थल पर अपना परिचय तो दे रहे हैं, परंतु परिचय देने का जो ढंग है वह कबीर का नहीं है। ग्रंथावली में यह पद्य नहीं है। यह पद्य उस समय का है जब कबीर व्यक्ति-विशेष न रहकर कुछ और ही बन गए थे। 'प्रगट होने' का प्रयोग संत-समाज में उत्पन्न होने के अर्थ में होता है। यह सर्वव्यापी अंतर्यामी परमात्मा तथा उसी के अंश का प्रभाव है, इसलाम के खुदा का नहीं। 'समरथ का परवाना लाना' इसलाम का 'पैगाम' लाना है, अवतार लेना नहीं। यहाँ तो परमात्मा स्वयं अवतार लेते हैं। परवाना तो केवल यमराज भेजते हैं जिसके वाहक यमदूत कहे जाते

---

(१) कबीर-वचनावली पृ० १२, १८७।

हैं, महात्मा नहीं। संतों ने भी कबीर के 'जुग जुग' आने की बानगी ली है, उनके परवाने की नहीं। कबीर-पंथियों में जो परवाना चलता है वह कबीर की भक्ति का परवाना है, 'समरथ' का नहीं।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह नहीं कि रामानंद कबीर के गुरु नहीं थे। उसका आशय यह है कि यह विषय विवाद-ग्रस्त है। इतिहास के आधार पर विचार करने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि उक्त महानुभावों में दोनों का समय अनिश्चित है। फिर भी इतिहास की दृष्टि से यह अनुचित नहीं सिद्ध हो सकता। इतिहास को अभी तटस्थ ही समझना चाहिए। स्वयं कबीर के वचनों से प्रमाण-संचय करना यथार्थ होगा। कबीर-ग्रंथावली के पाठक यह भली भाँति जानते हैं कि उसमें स्वामी रामानंद का नाम नहीं आया है। शुक, प्रह्लाद, ध्रुव नारद आदि प्राचीन भक्तों को जाने दीजिए, जयदेव तथा नामदेव का नाम लिया गया है। कबीर का कथन है[1]:—

रामानंद की उपेक्षा

"जागे सुक उधव अकूर, हणवंत जागे लै लँगूर ।। संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामां जैदेव ।।" जहाँ तक हमें स्मरण है कबीर-ग्रंथावली में एक भी पद्य ऐसा नहीं आया है जिसमें किसी भी वैष्णव आचार्य का नाम आया हो। कबीर काशी में रहते थे। प्रत्येक आचार्य के शिष्य काशी में आते, शास्त्रचिंतन तथा शास्त्रार्थ करते थे। फिर भी कबीर उनके विषय में मौन क्यों हैं। शंकर का नाम आप लेते हैं, पर भक्तिमार्ग के जीवनदायक रामानुज का ध्यान नहीं रखते। इस दशा में यदि स्वामी रामानंद का नाम ग्रंथावली में नहीं मिलता है तो आश्चर्य की बात नहीं है। ग्रंथावली में वैष्णव शब्द का प्रयोग प्रायः मिलता है, साकत (शाक्त) की भी कमी नहीं है, यदि अभाव है तो शैव का। संभवतः इसी की पूर्ति

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३४

शंकर कर रहे हैं। कबीर स्वीकार करते हैं[1] "मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णव एक राम। को है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥" इस अवतरण से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कबीर का वैष्णव मत से संबंध था; उसको अपना साथी समझते थे। यह साथ सामान्य न था। आपकी दृष्टि में[2] "कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया वैष्णव पूत। राम सुमिरि निरभै हुवा, सब जग गया मऊत॥" तो क्या आप वैष्णव थे? क्यों नहीं? "मेरी जिह्वा विष्णु, नयन नारायण, हिरदै बसहि गोविंदा॥"[3] इससे पुष्ट प्रमाण और क्या दिया जा सकता है?

अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उसके आधार पर हम यह निष्कर्ष निस्संकोच निकाल सकते हैं कि कबीर अपने मत को वैष्णव-मत से अधिक भिन्न नहीं समझते थे।

गुरु रामानंद

हमारी दृष्टि में कबीर ने जो उक्त आचार्यों की उपेक्षा की है उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि एक ओर तो उन सभी मतों का समावेश वैष्णव शब्द में हो जाता है और दूसरी ओर उनकी प्रतिष्ठा भी बनी रहती है। कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव कितना गहरा पड़ गया था! इसका पता कुछ लगा लेना संगत जान पड़ता है। कबीर[4] एक स्थल पर कहते हैं "हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ। सतगुर की कृपा भई, डारचा सिर थैं बोझ॥" हम कह ही चुके हैं कि कबीर जन्म से मुसलमान थे। उनके कुल में किसी ने राम का नाम नहीं जपा था। फिर वे पाहन क्यों पूजते और बन के रोझ क्यों होते? यदि उनका

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ४६।
(२) ,, ,, पृ० ५२।
(३) ,, ,, पृ० १७३, ३३०।
(४) ,, ,, पृ० ४४।

जन्म किसी विधवा के अपमान का परिणाम था तो भी वे मुसलमान के घर में पले थे। न तो उनको पत्थर पूजना पड़ता न पुनर्जन्म के फेर में पड़कर बन का रोझ होना पड़ता। फिर उनके कहने का तात्पर्य क्या है? हमारी धारणा है कि कबीर पर वैष्णव-मत का प्रभाव इतना पर्याप्त पड़ चुका था कि उनका विश्वास अवतार में हो गया था। यह प्रभाव रामानंद का कहा जा सकता है, उनके राम इसी ढंग के थे। कबीर भली भाँति उनके प्रभाव में न आ सके। कारण यह समझ पड़ता है कि उनका स्वर्गवास कबीर के बचपन में ही हो गया था। इतिहास भी इसके प्रतिकूल नहीं है। जब कबीर सयाने हुए और मूर्तिपूजा के रहस्य को समझ गए तब उसके महत्त्व को उन्होंने कुछ स्वीकार किया। उक्त कथन उस समय का प्रतीत होता है जब आप उसके प्रतिकूल प्रचार कर कुछ थक चले थे और इस-लाम की ओर से मुँह मोड़कर सुरति-शब्द, नाद-बिंदु का प्रचार कर रहे थे। इस दशा में आपका यह कहना, कि यदि 'सतगुर' की कृपा न होती तो आप भी पत्थर पूजते और उसके परिणाम-स्वरूप निम्न कोटि की योनि में जन्म ग्रहण करते, स्वाभाविक ही है। इस पद्य के आधार पर हम इस प्रचलित प्रवाद को, कि कबीर रामानंद के शिष्य थे, असत्य नहीं कह सकते। परंपरा से लोग कबीर को स्वामीजी का शिष्य मानते आए हैं। अस्तु, कबीर-ग्रंथावली के आधार पर भी उसको निराधार नहीं कह सकते। हाँ, पुष्ट कर सकते हैं। यदि ग्रंथावली से वह कल्पित अथवा असत्य सिद्ध हो जाय तो हम सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हैं।

कुछ लोगों, विशेषकर कबीर-पंथी मुसलमानों, की धारणा है कि कबीर मानिकपुर के शेख तकी के मुरीद थे। इस मत के पक्ष में बहुत कम विद्वान् हैं। श्री 'हरिऔध'[1] जी ने इस मत का खंडन

(१) कबीर-वचनावली पृ० १२-१९।

तथा श्री रामप्रसाद[1] त्रिपाठीजी ने इसका विवेचन जिस ढंग से किया है उससे इस मत की साधुता में सर्वथा संदेह हो जाता है। जो लोग शेख तकी को इनका पीर मानते हैं उनके पक्ष में यह प्रमाण कहा जाता है[2]—

शेख तकी

"मानिकपुरहि कबीर बसेरी मदहति सुनि शेख तकि केरी।
ऊजी सुनी जौनपुर थाना झूँसी सुनि पीरन के नामा॥"

इनके अतिरिक्त कबीर का संबंध शेख अकरदीं और सकरदीं से भी कहा गया है। इसका वर्णन आता है कि शेख अकरदीं और सकरदीं कबीर को लेकर स्वामी रामानंद की शरण में गए थे। प्रवाद है कि कबीर से झूँसी के शेख तकी की कुछ लाग-डाँट भी हो गई थी। कबीर के साथ जहाँगश्त[3] फकीर का संबंध भी कहा जाता है। कबीर-ग्रंथावली[4] में केवल यह पद्य मिलता है "हज्ज हमारी गोमती तीर। जहाँ बसहिं पीतंबर पीर॥ वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥" यह ध्यान देने की बात है कि यह पद्य ग्रंथावली के परिशिष्ट अर्थात् ग्रंथ साहब का है। ग्रंथ साहब के 'पहले दर्सन मगहर पायों' वाले पद्य पर हम कुछ विचार कर चुके हैं। इस पद्य में एक विशेष बात यह भी है कि पीतांबरजी एक अच्छे गायक हो गए हैं, तारक नहीं। यदि पीर शब्द के आधार पर उनको सूफी कहें तो पीतांबर-संज्ञा के अनुरोध से भक्त। पूरे पद पर विचार करने से पीतांबरजी भक्त ठहरते हैं, सूफी नहीं। उनका 'हरि-नाम' कबीर को प्रिय लगता है। पीतांबर पीर से हम अभी तक अनभिज्ञ हैं। हो सकता है कि

---

(१) हिंदुस्तानी तिमाही पत्रिका १९३२ पृ० २०७-०८।
(२) हिंदी-साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल) पृ० ७३।
(३) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० १८।
(४) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३३०।

उनका स्थान जौनपुर रहा हो। इस समय हम इतना ही कह कर संतोष करते हैं कि आप राम के भक्त, प्रसिद्ध गायक और पीर के रूप में ख्यात थे। यदि कबीर आपके शिष्य नहीं थे तो आप पर उनकी श्रद्धा अवश्य थी। वे आप का सत्संग करते थे और इसको तीर्थ समझते थे। इस पद्य की भाषा भी कुछ चिंतनीय है—"वाहु वाहु क्या खूब गावता है। हरि का नाम मेरे मन भावता है॥"

कबीर-ग्रंथावली के परितः परिशीलन से पता चलता है कि कबीर किसी के मुरीद नहीं थे। जिस अर्थ में लोग शेख तकी को

दीक्षा

उनका पीर कहते हैं उस अर्थ में तो स्वामी रामानंद भी उनके गुरु नहीं कहे जा सकते। स्वामीजी का दीक्षा-मंत्र "रां रामाय नमः" था। उन्होंने कबीर को केवल 'राम राम कह' का मंत्र दिया था। कहा जाता है कि 'बिनु गुरु ज्ञान को लहै' इसी बात को स्वयं कबीरदास भी इस प्रकार कहते हैं "गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै"; इसका फल यदि यह 'राम राम कह' हो तो क्या आश्चर्य है। कुछ भी हो, कबीर किसी सूफी के मुरीद नहीं हो सकते। उनके शेख से वही तात्पर्य है जो सूफियों का होता है। सूफी लोग शेख, मीर और काजी का मजाक उड़ाते हैं, उनकी चुटकी लेते हैं, उनको प्रेम-पीर की दीक्षा देना चाहते हैं। शेख तकी एक प्रसिद्ध व्यक्ति जान पड़ते हैं। घट रामायण[१] में भी आप का प्रसंग आया है। कबीर स्वयं कहते हैं[२] "मीरां, मुझसूँ मिहर करि, अब मिलौं न काहू साथि" इससे क्या ध्वनित होता है? यही न कि अब आप किसी के साथ नहीं मिल सकते; आपके लिये हिंदू तथा मुसलमान एक हैं! स्पष्ट है कि जब कबीर रामानंद के

---

(१) घट रामायण पृ० ८८।
(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १४।

निधन के अनंतर ज्ञान की जिज्ञासा से सूफियों के सत्संग की ओर मुड़े तब मुसलमानों की ओर से उनको अपनाने का प्रयत्न किया गया। संभवतः उनको कुछ सफलता भी मिली; पर अंत में कबीर उनका साथ छोड़कर उनके विरोधी बन गए। कबीर ने कहा भी है[1]—"तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा। गाफिल गरब करैं अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ए गाई॥" हमको तो यही प्रतीत होता है कि कबीर को इसी खोज में उक्त महानुभाव मिले होंगे। इस विषय में श्री शुक्लजी[2] का कथन है "कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है; जैसे "घट घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस वचन में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे। पर सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने के लिये तैयार न थे, सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे"। निदान हम यह साहस के साथ कह सकते हैं कि कबीर किसी शेख या सूफी के मुरीद न थे, उनके सत्संग से लाभ उठानेवाले जीव थे।

एक प्रकार से कबीर के गुरु की मीमांसा हो चुकी। पर यह तब तक अधूरी समझी जायगी जब तक उनके 'सतगुर' की कुछ समीक्षा न हो ले। सूफियों में जो 'आजाद' अथवा बेसरा कहे जाते हैं उनके गुरु का पता लगाना कुछ कठिन होता है। उनमें प्रायः तो ऐसे होते हैं जिनको

सतगुर

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २३०।
(२) हिंदी-साहित्य का इतिहास पृ० ७३।

अलख (अलगैब) से शिक्षा मिलती है। हमारी समझ में कबीर के 'सतगुर' अलख या, अधिक संगत होगा, राम थे। कबीर ने अनेक स्थलों पर इसका निदर्शन भी कर दिया है[1] "कबीरा तालिब तेरा, तहाँ गोपत हरी गुर मोरा।...तुम्ह सतगुर मैं नौतम चेला, कहै कबीर राम रमूं अकेला।...कबीर पंगुड़ा अलह राम का, हरि गुर पीर हमारा।..." यहाँ पर यह निवेदन कर देना परम आवश्यक प्रतीत होता है कि कबीर-ग्रंथावली में ऐसे पद्यों की कमी नहीं है जिनसे यह ध्वनित होता है कि कबीर से यदि कोई उनके गुरु अथवा पीर के संबंध में कुछ पूछता था तो वे कुछ चिढ़ जाते थे। आपका प्रश्न है[2] "मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँ थैं आया?" यह तो मुसलमानों की बात हुई। पंडितों से भी आप यही कहते हैं[3] "जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पंडिता, तेरा कौन गुरू कौन चेला।" कबीर की इस मनोवृत्ति के कुछ भी कारण रहे हों उनसे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं है। हमको तो केवल इतना ही कहना है कि कबीर या तो इसके यथार्थ उत्तर में कुछ आपत्ति समझते थे, या उनका कोई वास्तविक गुरु न था। आपने जिस मत का प्रचार किया उसकी प्रेरणा किसने की? किसके आदेश से आपने ऐसा किया? इसके विषय में आपका कहना है[4] "मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहू कूँ समझाइ। कहै कबीर मैं कहि कहि हारयौ, अब मोहि दोष न लाइ॥" यह साखी भी कुछ इसी पक्ष में है[5] "हरि जी यहै बिचारिया, साषी कहौ कबीर। भौसागर मैं जीव

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ६८, १२६, १७६।
(२) " " पृ० १७४।
(३) " " पृ० १४०।
(४) " " पृ० १६६।
(५) " " पृ० ५६।

हैं, जे कोइ पकड़ै तीर।" सारांश यह कि कबीर को[1] "राम मोहि सतगुर मिले अनेक कलानिधि, परम तत सुखदाई"—राम 'सतगुर' मिले थे, जो जीवमात्र के परम गुरु हैं। ये राम दाशरथि राम से भिन्न, कलानिधि एवं परमतत्त्व के आश्रय हैं, अवतारधारी नहीं।

कबीर के विवाह के विषय में चाहे कितना ही मतभेद क्यों न हो, इस तथ्य से प्रायः सभी जानकार सहमत हैं कि लोई का कबीर से संसर्ग रहा है। कबीर-पंथियों की

विवाह

दृष्टि में कबीर साहब विदेह थे; उनको किसी स्त्री से कुछ काम न था। वे तो हंसों को कनक-कामिनी के कोप से उबारने आए थे, उसमें झोंकने नहीं। लोई के विषय में[2] "कबीर-पंथ के विद्वान् कहते हैं कि लोई नाम की स्त्री उनके साथ आजन्म रही, परंतु उससे उन्होंने विवाह नहीं किया।" लोई को कुछ लोग स्त्री-वाचक न मानकर लोक शब्द का रूपांतर समझते हैं। उनका मत है कि कबीर की पत्नी का नाम पहले धनिया था; किंतु संतों ने उसका नाम रामजनिया रख दिया। इस प्रकार कबीर की स्त्री के तीन नाम—लोई, धनिया और रामजनिया—प्रसिद्ध हो रहे हैं। इनमें से अधिक प्रचलित लोई शब्द ही है। यदि लोई का अर्थ लोक होता है तो धनिया का धन्या (स्त्री) और रामजनिया का किसी देवदासी या वेश्या की संतान। धनिया और रामजनिया शब्द कबीर के इस पद्य में मिलते हैं[3] "मेरी बहुरिया को धनिया नाउ। ले राख्यो रामजनिया नाउ॥ इन मुंडियन मेरा घर धुधरावा। बिटवहि राम रमौआ लावा॥ कहत कबीर सुनहु मेरी माई। इन मुंडियन मेरी जाति गँवाई॥" यह पद्य उस समय का प्रतीत होता है

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १९२।
(२) कबीर-वचनावली पृ० २०।
(३) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१७।

जब कबीर के यहाँ मुंडितों की भीड़ लगा करती थी और कबीर उन्हीं के सत्संग में निमग्न रहने लगे थे। उनकी माता चिढ़कर कहती है कि इन घुट्टे पाखंडियों ने उसकी बहू का नाम 'धनिया' से रामजनिया रख दिया। इस प्रकार उसके घर को कलंकित ही नहीं किया, उसके बेटे को भी राम राम रटने में लगा दिया। हम इस समय इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते कि कबीर की स्त्री का वास्तविक नाम क्या था। हमारा अभीष्ट विषय तो यह सिद्ध करना है कि कबीर विवाहित व्यक्ति थे। प्रसंग-वश यहाँ पर इतना और कह देना अनुचित नहीं कहा जा सकता कि कबीर के कतिपय पद्यों से यह भी प्रतिपादित किया जा सकता है कि आपका विवाह दो बार हुआ था। आपका कथन है "पहली[1] नारि सदा कुलवंती सासू सुसरा मानैं। देवर जेठ सबनि की प्यारी, पिय कौ मरम न जानैं॥ अब की घरनि धरी जा दिन सैं, पीय सूं बांन बन्यूं रे। कहै कबीर भाग बपुरी कौ, आइ रु रांम सुन्यूं रे॥" संभव है, और अधिक संभव है, कि कबीर की प्रथम पत्नी का नाम धनिया रहा हो और दूसरी का लोई। धनिया सबकी प्यारी थी; किंतु कबीर से उसकी नहीं पटती थी। मुख्य कारण कदाचित् यह था कि उसका झुकाव भाव-भजन की ओर न था। संभवतः वह कट्टर जुलाहिन थी। दूसरी पत्नी से कबीर की खूब पटती थी। दोनों राम-नाम-महारस पीते थे और 'महासुख' का अनुभव करते थे। हो सकता है कि यह किसी बनखंडी वैरागी की पोषिता कन्या रही हो और आजन्म कबीर के भाव-भजन में सहायक बनी रही हो, जैसा कि कबीरपंथी भी स्वीकार करते हैं।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १६१।

कबीर के विवाहित होने में मुसलमानों को संदेह नहीं है। इस-लाम में विवाह आधा स्वर्ग समझा जाता है। उसकी दृष्टि में संन्यास का कुछ भी महत्त्व नहीं है। एक

गृहस्थ

प्रकार से उसमें इस प्रवृत्ति की भर्त्सना मिलती है। कबीर जन्म से मुसलमान थे। उनका पालन-पोषण मुसल-मान के घर हुआ था। अतः अविवाहित रहने के लिये उनको किसी प्रकार का प्रोत्साहन न था। सूफी भी विवाह के पक्ष में रहते थे। अस्तु, कबीर का विवाहित होना ही स्वाभाविक था। कबीर ने इसका संकेत भी अपने वचनों में प्रायः किया है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर नारी में सदा लिप्त रहे। संन्यास के पक्ष में न होने पर भी कबीर विरक्त हो गए थे। आपका विचार था कि कनक-कामिनी का वास्तविक बहिष्कार ज्ञान से ही संभव है। आपने अपने विषय में कहा भी है "कबीर[1] त्यागा ग्यान करि कनक कामिनी दोइ।" कबीर का एक और पद्य इसी प्रकार का प्रसिद्ध है "नारी[2] तो हम भी करी, जाना नहीं विचार। जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥" पर दोनों पद्यों के सिद्धांतों में बड़ा अंतर है। हमारा मत है कि द्वितीय पद्य इस मत का प्रति-पादक है कि स्त्री-सेवन अज्ञान का फल है, किंतु प्रथम में यह बात नहीं है। उसका आशय यह अवश्य है कि ज्ञान के प्रकाश में कनक-कामिनी का मोह नहीं ठहर सकता। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर ने विवाह किया था। कबीर ने एक स्थल पर कहा है[3] "भली सरी मुई मेरी पहली बरी। जुग जुग जीवौ मेरी अब की धरी॥" यहाँ पर यह कहना कठिन है कि कबीर का

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ६४।

(२) कबीर-वचनावली पृ० २०।

(३) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८१।

वास्तविक अर्थ क्या है। क्योंकि इसी पद्य में आप फिर कहते हैं "कहु कबीर जब लहुरी आई बड़ी का सुहाग टरयो। लहुरी संग भई अब मेरै जेठो और धरयो।" यदि प्रस्तुत पद्य में कुछ भी कबीर ने अपने विषय में संकेत किया है तो हमारा उक्त अनुमान ठीक समझ पड़ता है। कबीर ने अपने विषय में एक स्थान पर इस प्रकार कहा है[1] "जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी।" परंतु इसका आशय यह नहीं कहा जा सकता कि वे उदासी थे। उन्होंने स्पष्ट निरूपण किया है[2] "माया महि जिसु रखै उदास। कहि कबीर हौं ताका दास॥"

संतान

कबीर केवल विवाहित ही न थे। उनके एक पुत्र और एक पुत्री भी थी। कबीर-पंथी भक्तों का कथन है कि कमाल और कमाली कबीर की औरस संतान न थे। कबीर ने उनको जिलाकर पाला-पोसा था। उनके इस विचार का प्रधान कारण यही है कि उनकी समझ में कबीर अविवाहित थे। उन्होंने कभी अपनी निष्ठा भंग न की। अधिकतर विद्वानों की सम्मति में कमाल और कमाली कबीर की औरस संतान थे। कमाल के विषय में यह प्रवाद प्रचलित है[3] "बूड़ा वंश कबीर का उपजे पूत कमाल।" इस प्रवाद का पुष्टीकरण कबीर-ग्रंथावली से भी हो जाता है। कबीर का रंग-ढंग देखकर उनकी माता उनके सामने यही कहती है कि इन लड़कों की क्या गति होगी। कबीर कहते हैं[4] "जब लग भरौं नली का बेह, तब लग टूटै राम सनेह।" अंत में वह परमात्मा का नाम लेकर झंखती

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८१।
(२) " " पृ० २७१।
(३) " " पृ० २६३।
(४) " " पृ० ९५।

है "ए लरिका क्यूं जीवैं खुदाइ !" कबीर आश्वासन देकर निवेदन करते हैं[1] "कहत कबीर सुनहु मेरी माई। हमरा इनका दाता एक रघुराई ॥" इसमें तो किसी भी अभिज्ञ व्यक्ति को संदेह नहीं हो सकता कि कबीर की माता को उक्त बच्चों की ही चिंता है। यदि ये बच्चे कबीर के औरस न होते तो वह कबीर की खूब खबर लेती; उनको भला-बुरा कहती। इस ढंग से इस चिंता में न पड़ती कि उनका पालन-पोषण किस प्रकार होगा। कमाल और कमाली नाम भी मुसलमानी हैं, जो कबीर को मुसलमान सिद्ध करते हैं। उनकी माता भी 'खुदा' का नाम लेती है। वस्तुतः कमाल और कमाली के कबीर पिता थे पोषक नहीं।

कबीर के परिवार से परिचित होने के उपरांत उनके पारिवारिक जीवन पर कुछ विचार करना आवश्यक है। कबीर की जीविका के विषय में विद्वानों में मतभेद नहीं हो सकता। ऊपर जो पद्य उद्धृत किए गए हैं उनसे इस बात में कुछ भी संदेह नहीं रह जाता कि कबीर कपड़ा बुनकर अपने परिवार का पालन करते थे। कबीर के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आपके पिता का स्वर्गवास पहले हो चुका था। परिवार का सारा भार आप ही के सिर था। जब तक आप अपने काम में दत्तचित्त रहे तब तक किसी प्रकार का कष्ट न रहा। भाव-भजन में लग जाने से आपका चित्त अति उदार हो गया। आपके यहाँ भीड़ लगने लगी। परिणाम यह हुआ कि आपकी आय घटी और व्यय बढ़ा; जीवन-निर्वाह भी एक प्रकार से कठिन हो गया। कबीर के विषय में जो प्रवाद प्रचलित हैं, उनमें यहाँ तक कहा गया है कि एक दिन कबीर की ऐसी दीन परिस्थिति हो गई कि पत्नी के सतीत्व का ध्यान त्याग-

पारिवारिक जीवन

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २१७।

कर अतिथि-सत्कार के लिये किसी तरुण महाजन से द्रव्य लाने की अनुमति उसे देनी पड़ी। इससे अधिक इसके विषय में और क्या कहा जा सकता है ? कबीर कर्मशील व्यक्ति थे। माँगना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। फिर भी इस पारिवारिक झंझट के कारण आपको परमात्मा से अन्न तक माँगना पड़ा "[1]दुइ सेर माँगौ चूना। पाव घीउ संग लूना॥ अधसेर माँगौ दाले। मोको दोनों बखत जिवाले॥" अन्न-चिंता के अतिरिक्त आपको अन्य चिंताएँ भी थीं। हमारी दृष्टि में आपका पारिवारिक जीवन शांत न था। यदि आपको कुछ शांति मिली तो लोई से। आपका कहना है[2] "जदि का माई जनमियां, कहूँ न पाया सुख। डाली डाली मैं फिरौं, पातौं पातौं दुख॥"

कहा[3] जाता है कि कबीर के यहाँ इतना जमघट होने लगा कि कबीर उनसे ऊबकर "घर बार छोड़कर जंगल में जा छिपे।...और रामजी ने बड़े उत्सव के साथ उनका भंडारा समाप्त किया"। इस कथा का उल्लेख अन्य संतों ने भी किया है। कबीर ने स्वतः कहा है[4] "घर तजि बन बाहर कियौं बास, घर बन देखौं दोऊ निरास। जहाँ जाऊँ, तहाँ सोग संताप, जुरा मरण कौ अधिक बियाप॥ कहै कबीर चरन तोहि बंदा, घर मैं घर दे परमानंदा॥" वन वन फिरने का प्रसंग अन्यत्र[5] भी आया है "जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी।" इस प्रकार इतना तो निर्विवाद है कि कबीर कुछ काल

विराग

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१४।
(२) ,, ,, पृ० ६२।
(३) भक्तमाल (शिवदयाल-रचित) पृ० २२९।
(४) कबीर-ग्रंथावली पृ० ११३।
(५) ,, ,, पृ० १८१।

के लिये वैरागी बन गए थे। यदि उक्त प्रवाद ठीक है तो इसका प्रधान कारण घर-बार की झंझट ही थी। पर, कबीर की यह मनोवृत्ति अधिक दिन तक न ठहर सकी। आपने देखा कि दुःख साथ साथ लगा फिरता है; उससे छुटकारा पाने का मार्ग कुछ और ही है। निदान, उन्होंने यह निश्चित किया कि घर या वन से दुःख का संबंध नहीं है। उसका तो तभी अंत हो सकता है जब सम्यक् आत्मबोध हो जाय। उद्बोधन ही हमारा अभीष्ट है—"कहै[1] कबीर जाग्या ही चहिए, क्या गृह क्या वैराग रे।" इस प्रकार कबीर ने उस वैराग्य का पल्ला पकड़ा जो 'माया में उदास' अथवा 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' का पोषक था। उसके लिये[2] "करि वैराग फिरौ तन नगरी मन की किंगुरी बजाई॥"

ज्ञानार्जन

कबीर की प्रतिभा प्रखर थी। उसकी कृपा से कबीर ने जो ज्ञानार्जन किया था वह उनकी जिज्ञासा की तृप्ति न कर सका था। उसने उसको और भी प्रज्वलित कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कबीर घर-बार की सुधि न कर इधर-उधर भटकने लगे। बचपन में उनको शिक्षा नहीं मिली थी। जाति के थे भी जुलाहे। न तो वेद ही पढ़ सकते थे और न कुरान ही। वेद के अधिकारी न थे और कुरान रटने का अवकाश नहीं मिलता था। जो कुछ उन्होंने सीखा-समझा वह अपर्याप्त था। वे सत्संग से संशय का नाश करना चाहते थे; परंतु उनके पास इतना समय कहाँ था और उनकी सुनता कौन था! घर से बाहर निकल इधर-उधर भ्रमण करते रहे[3]। कबीर का कथन

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०६।
(२) ,, ,, पृ० ३१७।
(३) कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इसी धुन में वे बलख-बुखारा तक गए थे।

है[1] "वेद पुरान सिमृति सब खोजे कहूँ न ऊबरना। कहु कबीर यों रामहिं जपौ मेटि जनम मरना॥" इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर ने सचमुच सब कुछ छान डाला था। कुछ लोगों की धारणा है कि कबीर को सब ग्रंथों का ज्ञान स्वतः हो गया था, वे ऋतंभर थे। श्रद्धा एवं विश्वास की बातों को अलग छोड़कर संक्षेप में हम इतना ही कहना अलम् समझते हैं कि कबीर बहुश्रुत थे। भ्रमण का मुख्य उद्देश्य ज्ञान-संचय था। उनके ज्ञान के आधार साधु-संत और 'सतगुर' थे। व्यावहारिक ज्ञान अथवा अपरा विद्या का अर्जन कबीर उत्तम नहीं समझते थे। आपका ध्येय परा से परिचय प्राप्त करना था। वेद, कुरान आदि धार्मिक ग्रंथों को आप व्यावहारिक तथा लोकाचार[2] का प्रचारक समझते थे। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने जिस धर्म के जो क्रिया-कलाप देखे उन्हीं को वेद तथा कुरान का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय समझ लिया। इनको अध्ययन व्यर्थ समझ पड़ता था। अनुभव ही सब कुछ था। आपका आदेश है[3] "कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ। बाँवन आषिर सोधि करि, ररै ममैं चित लाइ॥" क्योंकि[4] "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ। ऐकै आखिर पीव का, पढ़ै सुपंडित होइ॥" कबीर किसी प्रकार पुस्तक घोटने के पक्ष में नहीं कहे जा सकते। न तो आपने पुस्तकों से ज्ञानार्जन किया था और न उनको इसका उचित साधन ही सम-

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१८।
(२) ,, ,, पृ० २०७।
(३) ,, ,, पृ० ३८।
(४) ,, ,, पृ० ३८।

भते थे। आपका तो कहना है "का[1] पढ़िए का गुनिएँ, का वेद पुराना सुनिएँ। पढ़े गुनें मति होई, मैं सहजैं पाया सोई।" आपको मति सहज ही मिली थी। आपको पढ़ने की आवश्यकता न थी। आप स्वयं कहते हैं[2] "विद्या न पढ़ूँ, बाद नहिं जानूँ, हरिगुन कथत सुनत बौरानूँ।" आपके विषय में यह पद्य अत्यंत प्रचलित है[2] "मसि कागद तो छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ। चारहु जुग महातम, कहि के जनायो नाथ।" वस्तुतः कबीर एक अनपढ़ पंडित एवं अनुभवी तत्त्वदर्शी थे। मधुकरी वृत्ति ही आपकी जानकारी थी।

कबीर ने वेद और कुरान को प्रधानता नहीं दी। उनकी रचनाओं में जो नाम दिए गए हैं उनमें गोरखनाथ एक प्रधान योगी थे। कबीर के शिष्यों ने गोरखगोष्ठी की सृष्टि कर गोरख को नीचा दिखाया है और उसका श्रेय स्वयं कबीर को दिया है। यह बात कहाँ तक उचित थी इसका ध्यान भक्तों ने नहीं किया। पर कबीर ने जिन शब्दों में गोरखनाथ को स्मरण किया है उनसे यह स्पष्ट अवगत होता है कि कबीर पर नाथ-पंथ का ऋण अवश्य था। कबीर गोरख को किस दृष्टि से देखते थे, इसका पता कुछ इस पद्य से चल जाता है[3] "ता मन कौं खोजहु रे भाई, तन छूटे मन कहाँ समाई ।। टेक ।। सनक सनंदन जैदेव नांमां, भगति करी मन उनहुँ न जांनां ।। सिव बिरंचि नारद मुनि ग्यानीं, मन की गति उनहूँ नहिं जानीं ।। ध्रू प्रहिलाद बभीषन सेषा, तन भीतर मन उनहुँ न देषा ।। ता मन का

नाथ-पंथ का प्रभाव

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १७७।
(२) ,, ,, पृ० १३५।
(३) ,, ,, पृ० २४।
(४) ,, ,, पृ० ६६।

कोइ जानै भेव, रंचक लीन भया सुषदेव ।। गोरष भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा ।" प्रस्तुत पद्य के परितः परिशीलन से इस विषय में संदेह नहीं रह जाता कि कबीर का संबंध नाथों तथा सिद्धों से अधिक रहा। गोरख के विषय में आपका मत है[1] "साखी गोरखनाथ ज्यूँ, अमर भए कलि माहिं" यह गोरख की प्रशंसा व्यर्थ नहीं है। हठयोग का कबीर पर पूरा प्रभाव पड़ा है। इसका अधिकतर संबंध कबीर के मत अथवा सिद्धांत से है। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि[2] "गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट। तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनि जन जोवैं बाट ॥..., बंकनालि जे सम करि राखै। तौ आवागमन न होई।" आदि पद्यों में जो बात कही गई है उसका संबंध हठयोग से ही है। कबीर की उलटी चाल, सहज, सुरति, शब्द, नाद, बिंदु, इला, पिंगला, सुषुम्ना आदि शब्द इसी बात को पुकारकर कह रहे हैं। कहाँ तक कहें, कबीर के राम भी 'रराँ' 'ममां' हैं[3]। "रांम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जांणीं।" सच बात तो यह है कि गोरख तथा उनके पंथियों से अपरिचित होने के कारण ही हिंदी-संसार कबीर को प्रवर्तक मान बैठा है। वस्तुतः कबीर इस परंपरा के परिपुष्ट प्रसाद हैं, जिनको प्रखर प्रतिभा के कारण लोगों ने सब कुछ मान लिया है। यह विषय इतना गहन है कि इसका समुचित विवेचन अन्यत्र ही संभव है[4]।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८।

(२) " " पृ० १४२।

(३) " " पृ० १४२।

(४) हर्ष का विषय है कि पंडित पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने इधर विशेष ध्यान दिया है। आपने अपने 'हिंदी कविता में योग-प्रवाह' नामक लेख में जिन योगी कवियों का परिचय दिया है उसके आधार पर कहा है "निर्गुण

जिस परंपरा का संकेत हमने अभी अभी किया है वह सदा से पंडितों की पोल खोलती तथा उनको पाखंडी कहती आ रही है।

पंडितों का खंडन

कबीर पर इस परंपरा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। मुसलमानों का आक्रमण धर्मदृष्टि से मंदिरों पर था। ब्रह्म-मंडली कबीर की प्रतिष्ठा करने को तत्पर न थी। कबीर ने जब कुछ बल प्राप्त कर लिया तब 'पांड़े' की कुमति का प्रदर्शन करना, उनकी गत बनाना, उनको सत्पथ पर लाना अपना धर्म समझा। एक तो इस प्रकार के आक्रमण कर्मकांडियों पर सदा से होते आ रहे थे। दूसरे कबीर के पक्ष में, मुसलमान होने के नाते, इसलामी दल था। पंडित-मंडली उनका बहिष्कार कर रही थी। कभी कभी किसी का उनसे विरोध भी हो जाता था; परंतु अधिकतर यह विवाद से आगे नहीं बढ़ पाता था। कबीर कभी समझाते, कभी झुँझलाते, कभी चिढ़ते, कभी चिढ़ाते थे। पंडा पुरोहित विरोध में लगे रहते थे; पर इसलाम के दर्प के कारण अधिकतर उनका वश नहीं चलता था। कबीर भी प्रायः समझाया करते थे कि ब्राह्मण होना कोई बड़ी बात नहीं है। हम भी पहले जन्म में ब्राह्मण थे, राम के विस्मरण के कारण जुलाहा हो गए। "पूरब[1] जनम हम बाम्हन होते, वोछे करम तप हींनां। रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीन्हां।" कबीर जाति, वर्ण, आश्रम, छूतछात, पूजा-पाठ, जप-तप, तीर्थव्रत आदि का खंडन जी खोलकर

शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति-धारा का जल पहले योग के ही फाट पर बहा था।" भक्ति एवं योग के विवाद में न पड़, हमें तो यही कहना है कि यदि उक्त पंडितजी इस विषय की मीमांसा में तल्लीन रहेंगे तो एक नवीन तथ्य का उद्घाटन ही नहीं प्रतिपादन भी हो जायगा। आप बाबा गोरखनाथ की बानियों के संपादन में लगे हैं। (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १६, पृष्ठ ४०३)

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १७३।

करते थे और पंडितों को ललकारते थे कि उनके पदों का अर्थ तो कर दें। उनमें भी शाक्तों से आप खार खाए बैठे थे। उनको कुछ भी कहना आप अनुचित नहीं समझते थे।

कबीर ने जिस मार्ग का अनुसरण किया था, वह बहुत ही कठोर था। उन्होंने जो फटकार ब्राह्मणों को दी थी, जिस प्रकार उनके आचार-विचार पर प्रहार किया था वह किसी प्रकार क्षम्य था। हिंदू-धर्म में वे बातें नवीन न थीं। वेदों की, बहुत पहले ही, इससे भी कड़ी भर्त्सना की गई थी। जाति के प्रतिकूल भी आंदोलन किए गए थे। योग-वाशिष्ठ ने जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत की धज्जियाँ उड़ा दी थीं। पर इसलाम में यह बात नहीं थी। उसके आदेश में जिसने आपत्ति की उसकी दुर्गति हुई। कबीर के लिये प्रत्येक दृष्टि से अनिवार्य हो गया कि वे इसलामी कर्मकांड का भी खंडन करें। इसमें संदेह नहीं कि कर्मकांड ही एक जाति को दूसरी जाति, एक मत को दूसरे मत, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से भिन्न रखते हैं और उन्हें परस्पर लड़ाया करते हैं। पर यह एक ऐसी बात है जिसका निराकरण आज तक नहीं हो सका। जब किसी ने इसका निषेध किया, उसका निषेध ही उसके भक्तों की विधि बन गया। कबीर ने इस विषय में सावधानी से काम लिया तो सही; पर अंत में उनको आत्म-प्रेरणा के कारण अधिक स्पष्ट और खरा बनना पड़ा। उन्होंने राम को यहाँ तक कह दिया "हम बहनोई राम मोर साला"; किंतु मुहम्मद साहब के विषय में आप संयत ही नहीं सदा मौन रहे। जब तक आप वेद-कितेब कहते रहे, बचे रहे। जब कुरान, हज, नमाज का खंडन करना आरंभ किया तब आपको उसका फल भोगना पड़ा।

इसलाम का खंडन

कबीर पर हिंदू-मत अथवा वैष्णवों का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि उनका इसलाम के अंतर्गत काम करना कठिन हो गया। पहले

मुसलमानों से विरोध

कभी कभी प्रसंग-वश वे इसलाम के कर्मठों तथा कर्मकांडों को अनुचित कहा करते थे। इस प्रकार उनको लोग आजाद सूफी समझकर छोड़ देते थे। इस उदारता का प्रधान कारण यह था कि कबीर जो कुछ कर रहे थे उसमें इसलाम का विशेष हित था। कबीर स्वतंत्र वृत्ति के जिज्ञासु थे। जब उनको पता चला कि हिंदू-आचार-विचार इसलाम से अधिक संयत एवं श्रेय है तब उन्होंने उस पर विशेष ध्यान देना आरंभ किया। उनकी यह दशा देखकर मुसलमानों को चिंतित होना पड़ा। काजी, मुल्ला, शेख आदि सभी दीनदार उनको अपनाने में लगे। जिसके सामने जो अवसर आता वह उसी से लाभ उठाता। पर कबीर टस से मस न होते। ग्रंथावली में न जाने कितने पद्य ऐसे हैं जिनमें उक्त बातों का निर्देश मिलता है। "मीरां[1] मुझ से मिहर करि, अब मिलौं न काहू साथि।" कबीर केवल मीर साहब से ही इतना कहकर मौन नहीं रह जाते; काजी साहब से तो वे यहाँ तक कहते हैं[2] "काजी कौन कतेब बषानैं। पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एकै नहीं जानैं॥ टेक॥ सकति से नेह, पकरि करि सुनति, यहु न बदूं रे भाई। जौर षुदाइ तुरक मोहि करता, तौ आपै कटि किन जाई? हौं तौ तुरुक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिए। अरध सरीरी नारि न छूटै, आधा हिंदू रहिए॥ छाड़ि कतेब राम कहि काजी, खून करत हौ भारी। पकरी टेक कबीर भगति की, काजी रहे झष मारी।" मीर तथा काजी साहब ही तक यह बात नहीं रह जाती। आप मुल्ला साहब से निवेदन

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १४।
(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १०७, २३१।

करते हैं[1] "मुलां करि ल्यौ न्याव खुदाई, इहि बिधि जीव का भरम न जाई ॥ टेक ॥ सरजी आनैं देह बिनासै, माटी बिसमल कीता, जोतिसरूपी हाथि न आया, कहौ हलाल क्या कीता ॥ बेद कतेब कहौ क्यूं झूठा झूठा जो नि विचारै।" मौलाना का यह कहना कि वेद झूठा है और उसके उपासक अहलेकिताब नहीं हैं, कबीर को मान्य नहीं है। आपका कथन है कि झूठा तो स्वयं मौलाना साहब का कथन अथवा मौलाना साहब स्वतः हैं जो विचार नहीं करते। 'तुरकी[2] धरम' के विषय में आपका मत है "तुरकी धरम बहुत हम खोजा, बहु बजगार करै ए बोधा।...बेअकली अकलि न जानहीं भूले फिरैं ए लोइ। दिल दरिया दीदार बिन, भिस्त कहाँ थैं होइ[3] ॥" कबीर के, इसी ढंग के, न जाने कितने कथन हैं। उनका कथन यहीं तक नहीं रहा। उन्होंने प्रच्छन्न रूप से राम का गीत गाना छोड़कर जनता में उसका प्रचार किया "कबीर प्रगट राम कहि छानैं राम न गाउ।" इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों ने उनके प्रतिकूल आंदोलन आरंभ किया।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १०७।

(२) जनाब हाफिज महमूद खाँ साहब का कथन है—"यह इतराज महज हिंदू नुक्तयेनजर से है। और हर वह शख्स जिसने मुसलमानों में परवरिश पाई है इसको लगो समझेगा। कबीर एक साहबे तुर्क व तजरीद शख्स है।" प्रतीत होता है कि जनाब ने महज कयास से काम लिया है, वर्ना आप कायल हो जाते कि कबीर ने मजहब की पाबंदी को तलाक दे दिया था। कबीर के अवतरित पद्यों से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि आप 'तुरकी धरम' के कितने खिलाफ थे। इसलाम में बहुत से जिंदीक हुए हैं जो उसकी बाहरी बातों के खिलाफ थे। सूफी बातिन के बंदे हैं, जाहिर के कायल नहीं। कबीर आजाद थे, मालिक नहीं। उनको भी इसलाम का दंड भोगना पड़ा। (पंजाब में उर्दू पृ० १४४)

(३) कबीर-ग्रंथावली पृ० २२४।

विद्वानों का मत तथा प्रचलित प्रवाद यह है कि इस आंदोलन में हिंदू-मुसलमान मिलकर काम कर रहे थे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि दोनों जातियों का एक समुदाय सिकंदर लोदी के पास इसलिये गया था कि कबीर को ठीक कर दिया जाय। पर हमें यह मत साधु नहीं प्रतीत होता। हमारी समझ में कबीर का अंतिम आंदोलन एक प्रकार से वैष्णव आंदोलन था। यदि यह ठीक न भी हो तो भी कोई आपत्ति नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि कबीर उस समय किस प्रकार इसलाम पर आक्रमण कर रहे थे। शेख, मीर, काजी आदि धर्म के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से कबीर का कितना विरोध था, कभी कभी आप कितनी खरी बातें कह बैठते थे, उनके दीन की बातों की कितनी भद्द उड़ाते थे आदि ऐसी बातें हैं जिनके विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस दंड में केवल मुसलमानों का हाथ था। सिकंदर के शासन-काल में काफिरों की सुनता कौन था? कबीर के वचनों में इस संबंध में जो कुछ कहा गया है उससे भी इसी मत का प्रतिपादन होता है। कबीर का कथन[1] है "मन न डिगै तातैं तन न डराई। केवल राम रहे ल्यौ लाई॥ टेक॥ अति अथाह जल गहर गंभीर। बाँधि जंजीर जलि बोरे हैं कबीर॥ जल की तरंग उठि कटिहैं जंजीर। हरि सुमिरन तट बैठे हैं कबीर॥ कहै कबीर मेरे संग न साथ, जल थल में राखै जगनाथ॥" इस पद्य में न तो इसी बात का संकेत है कि यह घटना कहाँ घटी और न इसी का कि इसका प्रधान कारण क्या था। इसी विषय का एक दूसरा[2] पद्य इस प्रकार है "गंग गुसाइन गहिर गंभीर। जंजीर बाँधि करि खरे कबीर॥ मन न

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०३।
(२) ,, ,, पृ० २८०।

डिगै तन काहे को डेराइ। चरन कमल चित रह्यो समाइ ॥ गंगा की लहरि मेरी टुटो जंजीर। मृगछाला पर बैठे कबीर ॥ कहि कबीर कोऊ संग न साथ। जल थल राखन है रघुनाथ ॥" स्पष्ट है कि यह घटना गंगा, संभवतः काशी, में घटी। कबीर ने अन्यत्र भी अपनी परीक्षाओं का उल्लेख किया है[1] "भुजा बाँधि भिला करि डारचो। हस्ती कोपि मूंड महि मारचो। हस्ती भागि कै चीसा मारै। या मूरति कै हौ बलिहारै। आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोर। काजी बकिबो हस्ती तोर ॥ रे महावत तुझ डारौ काटि। इसहि तुरावहु घालहु साटि ॥ हस्त न तोरै धरै ध्यान। वाकै रिदै बसै भगवान ॥ क्या अपराध संत है कीना। बाँधि पोट कुंजर को दीना ॥ कुंजर पोटलै लै नमस्कारै। बूझी नहिं काजी अँधियारै ॥ तीन बार पतिया भरि लीना। मन कठोर अजहू न पतीना ॥ कहि कबीर हमारा गोबिंद। चौथे पद महि जन की जिंद ॥" यह पद पदावली में इस प्रकार है[2] "अहो मेरे गोब्यंद तुम्हारा जोर। काजी बकिबा हस्तो तोर ॥ टेक ॥ बाँधि भुजा भलैं करि डारयौ। हस्ती कोपि मूंड मैं मारयौ ॥ भाग्यौ हस्ती चीसां मारी। वा मूरति की मैं बलिहारी ॥ महावत तोकूं मारौं साटी। इसहि मरावौं घालौं काटी ॥ हस्ती न तोरै धरै धियान। वाके हृदय बसै भगवान ॥ कहा अपराध संत हौ कीन्हा। बाँधि पोट कुंजर कूं दीन्हा। तीनि बेर पतियारा लीन्हां। मन कठोर अजहूँ न पतीनां ॥ कहै कबीर हमारै गोब्यंद। चौथे पद मैं जन का ज्यंद ॥" प्रस्तुत अवतरणों में यह तो स्पष्ट ही है कि कबीर की इन यातनाओं के विधाता काजी महोदय हैं। काजी साहब ने निरपराध कबीर के लिये जो जो दंड-विधान किए थे, उनसे पार होने पर भी काजी साहब की आँखें बंद ही रहीं, उनको

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१४।
(२) " " पृ० २१०।

कबीर का विश्वास न हो सका। संभवतः इसी का परिणाम था कि कबीर को काशी त्यागने की आज्ञा मिली। यह आज्ञा सिकंदर लोदी की ओर से मिली थी या नहीं—इसका ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। अधिकतर विद्वान् इसको ठीक समझते हैं; और विल्सन साहब की दृष्टि में फिरिश्ता ने इसका संकेत भी शायद कर दिया है।

कबीर के काशी छोड़कर मगहर में जाने का विशेष कारण यह कहा जाता है कि कबीर यह सिद्ध करना चाहते थे कि काशी और मगहर में कुछ भेद नहीं है। इस विषय में एक प्रवाद यह पेश किया जाता है कि 'मगहर मरै सो गदहा होय'।

मगहर तथा मगह

गरीबदास का वचन[1] है "कासी मरै सो जाय मुक्ति को, मगहर गदहा होई। पुरुष कबीर चले मगहर को ऐसा निहचा होई ॥ कासी के तो पंडित कूकै', मगहर मरो न भाई। वा तो पृथ्वी सूची नाहीं, त्रिसंकु पड़ा बिल्लाई ॥" यह कथन इतना सत्य और प्रामाणिक समझ लिया गया है कि आज तक किसी मनीषी ने इधर ध्यान भी नहीं दिया कि इसका मूल रहस्य क्या है। बचपन से हम सुनते आए हैं "मगह मरै सो गदहा होय।" पुराणों की बात जाने दीजिए। जिन लोगों ने रामचरितमानस का अध्ययन किया है, वे इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि "मगह गयादिक तीरथ जैसे' का मगह वही मगध है, जिसमें कर्मनाशा नदी (जो त्रिशंकु की लार से निकली है) बहती तथा सुरसरि में मिलती है— "कर्मनास जल सुरसरि परई"। इसमें तो संदेह नहीं कि मगध अथवा मगह अब भी 'भदेस' माना जाता है। जहाँ तक हमको इतिहास का पता है यह देश सनातन 'भदेस' है। वैदिक काल के आर्य इसको अमंगल समझते थे। ब्राह्मणकाल में भी इसकी यही दशा रही। बुद्ध भगवान् की कृपा से तथा अशोक आदि महा-

---

(१) गरीबदास की बानी पृ० ८६।

नुभावों के प्रयत्न से इसकी प्रतिष्ठा बढ़ी; पर साथ ही साथ ब्राह्मणों की घृणा भी बढ़ती रही। परिणाम यह रहा कि तुलसीदास को भी इसको उसी रूप में रखना पड़ा। मगह ही क्यों, 'बिहारी' शब्द भी आदरणीय नहीं समझा जाता। अस्तु, 'मग्गह मरै सो गदहा होय' उपयुक्त ही है। अब रही मगहर की बात। उसके विषय में हमारा नम्र निवेदन है कि वह कभी 'मदेस' नहीं रहा। हमारी धारणा है कि मगहर का नाम मग्गह के साम्य के कारण भ्रम से दे दिया गया है। गरीबदास ने तो त्रिशंकु का उल्लेख भी कर दिया है। जो कुछ हम कह रहे हैं उसका मंतव्य यह नहीं है कि कबीर के मगहर जाने का कारण अंधविश्वास नहीं हो सकता। उसका सारांश यह है कि भक्तों ने भक्ति तथा भ्रम के कारण भयंकर भूलें की हैं। कबीर के काशीवास का कारण उनका जन्मस्थान था, धर्मभाव नहीं। उन पर यह आक्रमण कदापि नहीं हो सकता था कि वे काशीवास क्यों कर रहे थे। फिर, यदि हम इसको मान भी लें कि कबीर इस अंधविश्वास को हटाना चाहते थे तो इसका प्रमाण क्या है कि कबीर मगहर में मरकर क्या हुए। सच बात तो यह है कि जब कबीर मरे तब उनके मरण को इतना अतिरंजित कर दिया गया कि उसमें वास्तविकता का लेश भी न रहा। लोगों ने 'थोर बनावैं कबीरदास ढेर बनावै कविता' को चरितार्थ कर दिया। परिणाम यह निकला कि मगहर और मग्गह एक हो गए।

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि कबीर के मस्तिष्क में काशी और मगहर के साम्य की समीक्षा नहीं थी। हमारा

मगहर तथा काशी

सीधा-सादा कथन तो यह है कि कबीर ने इस विषय में जो कुछ कहा है उसका समन्वय मग्गह की उपेक्षा करने पर भी हो जाता है। इसमें तो संदेह नहीं कि काशी मोक्षदा पुरी कही जाती है। मगहर को यह प्रतिष्ठा कभी

नहीं मिली थी। अतः मगहर में जाकर मरना और जीवन भर काशी का सेवन करना किसी भी अंधविश्वासी अथवा उक्त प्रवाद के भक्त को खटक सकता था।

कबीर लोगों को समझाते हैं[1] "कहतु कबीर सुनहु रे लोई भरम न भूलइ कोई। क्या कासी क्या ऊसरु मगहर राम रिदय जब होई॥"

मगहर-गमन

जहाँ तक हम समझ सकते हैं वहाँ तक इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं कि कबीर इस स्थल पर काशी के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में बंधन और मोक्ष का कारण काशी या अन्य स्थल नहीं; जिसके हृदय में राम हैं वही मुक्त है। कबीर के संबंध में यदि यही कहा गया होता कि कबीर काशी-माहात्म्य का खंडन करने के लिये ही इस ढंग की बातें कहते थे तो कदाचित् हम भी इसको स्वीकार कर लेते; पर लोगों का कथन तो यह है कि कबीर को विवश होकर मगहर जाना पड़ा था। कबीर के अध्ययन से ज्ञात यह होता है कि जब उनको बनारस में रहकर भाव-भजन करना तथा 'हंस उबारना' असंभव हो गया तब उन्होंने यह उचित समझा कि वे अपने जन्म-स्थान को छोड़कर किसी ऐसे स्थान पर जा बसें जहाँ काजी की दाल न गल सके और उनका भाव-भजन मजे में होता रहे। अंत में उनको मगहर ही उचित जान पड़ा। जब कबीर ने मगहर जाने का निश्चय किया तब कुछ लोगों ने उनसे निवेदन किया कि आप आजीवन काशी रहे और अंतकाल में अन्यत्र जा रहे हैं, यह ठीक नहीं है। कबीर ने कहा कि आप लोगों का कथन ठीक नहीं है। मोक्ष, स्थानविशेष का परिणाम नहीं होती। उसका संबंध तो हृदय से है। यदि हमारा हृदय साफ है तो हमको परमात्मा का दर्शन मगहर में भी हो सकता है। नहीं, यदि इस बात को मान भी लें कि

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २६१।

काशी में मरने से संसार के बंधन से मुक्त हो जायँगे, तो इसका महत्त्व काशी को प्राप्त होगा, राम को नहीं। फिर हमारा राम का संबंध ही क्या रहा? हम तो राम के कृतज्ञ हैं[1]। "हरि के लोग मैं तो मति का भोरा। जौ तन कासी तजहि कबीरा रामहि कौन निहोरा॥" और लोग जो काशी का पिंड पकड़े पड़े हैं, उनका प्रमाण हमको मान्य नहीं, उनका तो प्रयोजन कुछ और ही है[2] "वै क्यूं कासी तजैं मुरारी। तेरी सेवा चोर भए बनवारी॥ टेक॥ जोगी जती तपी संन्यासी। मठ देवल बसि परसैं कासी॥ तीन बेर जे नित प्रति न्हावैं। काया भीतरि खबरि न पावैं॥ देवल देवल फेरी देहीं। नांव निरंजन कबहुँ न लेहीं॥" यदि आप लोग हमारे विषय में कुछ सुनना चाहते हैं तो हमारा तो यह दृढ़ निश्चय है[3] "चरन-बिरद कासी कौं न दैहूँ, कहै कबीर भल नरकहि जैहूँ॥"

कबीर के हृदय में यह बात[4] —"हिरदै कठोर मरै बानारसि, नरक न बंच्या जाई। हरि कौ दास मरै जे मगहरि, सेन्यां सकल तिराई"—इतनी बैठ गई कि वे मगहर में जाकर बस गए। कबीर के विषय में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है उससे पता लगता है कि कबीर मगहर में मौज करते होंगे। अब न तो उन्हें काजी साहब के कोप का भाजन होना पड़ता होगा, और न किसी प्रकार के व्यर्थ वाद-विवाद का पात्र ही। काशी के प्रति भी उनकी किसी प्रकार की ममता न होगी। बस, वे अपनी मौज में मग्न होंगे और परमानंद का अनुभव करते होंगे। पर हमारी यह धारणा कितनी निराधार है, हम कबीर की मनोवृत्तियों से

मगहर-वास

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २६१।
(२) ,, ,, पृ० १८६।
(३) ,, ,, पृ० १८६।
(४) ,, ,, पृ० २४४।

कितने अनभिज्ञ हैं, इसका पता शायद इस पद से चल जाय[1]—"ज्यों जल छोड़ि बाहर भयो मीना। पूरब जनम हौं तप का हीना॥ अब कहु राम कवन गति मोरी। तजिले बनारस मति भइ थोरी॥ सकल जनम सिवपुरी गवाया। मरती बार मगहर उठि आया॥ बहुत वर्ष तप कीया कासी। मरन भया मगहर की बासी॥ कासी मगहर सम बीचारी। ओछी भगति कैसे उतरसि पारी॥ कहु गुरु गजि सिव सबको जानै। मुआ कबीर रमत श्री रामै॥" कबीर कितने कातर और आर्द्र हो गए हैं, उनका मानव-हृदय कितना पिघल गया है, इसका न तो हम निदर्शन ही कर सकते और न कबीर को अलौकिक माननेवाले महानुभाव उसका आदर-सत्कार ही। उनके कबीर तो दुनिया से परे थे। उनको हृदय से क्या काम! फिर भी जो लोग कबीर को सहृदय समझते हैं, वे उनके उक्त पद का मर्म जानकर इस पद का महत्त्व मानते हैं। "तू[2] मेरो मेरु परबत सुवामी ओट गही मैं तेरी। ना तुम डोलहु ना हम गिरते रखि लीनी हरि मेरी॥ अब तब जब कब तूही तूही। हम तुअ परसाद सुखी सदही॥ तोरे भरोसे मगहर बसियो। मेरे तन की तपनि बुझाई॥ पहिले दर्शन मगहर पायो फुनि कासी बसे आई॥ जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानी। हम निर्धन ज्यों इह धन पाया मरते फूटि गुमानी॥ करे गुमान चुभहि तिसु सूला कोउ काढ़न कौ नाहीं। अजै सुचोभ कौ विलल विलाते नरके घोर पचाही॥ कौन नरक क्या स्वर्ग विचारा संतन दोऊ रादे। हम काहू की काणि न कढ़ते अपने गुरु परसादे॥ अब तौ जाइ चढ़ै सिंघासन मिलिहै सारँगपानी। राम कबीरा एक भए हैं कोउ न सकै पछानी॥" कबीर प्रपन्न होकर किस प्रकार परमात्मा में

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २६५।
(२) „ „ पृ० २६७।

मिल गए और उन्होंने काशी और मगहर की महत्ता को एक सिद्ध कर, स्वर्ग और नरक को भी एक किस प्रकार समझा, यही तो इस पद्य का विषय और उनका लक्ष्य है।

कबीर के निधन के संबंध में जो प्रवाद प्रचलित है वह शास्त्रीय नहीं कल्पित है। श्री शिवव्रतलाल[1] का कथन है—"मगहर में गंगा पार चले आए और पृथ्वी पर लेटकर शरीर का त्याग करना चाहा। शरीर ठंडा हो गया। एक चेले ने कहा—"अब यह मर गए।" कबीरजी सर उठाकर बोले—"मैं नहिं मरूँ मरे संसारा। मोको मिला जियावनहारा॥" और फिर लेटकर प्राण त्यागे। हिंदू मृतक शरीर को जलाना और मुसलमान पृथ्वी में गाड़ना चाहते थे। लड़ाई-झगड़ा होने लगा। एक साधू ने प्रगट होकर कहा—"हिंदू जलाएँ और मुसलमान अपने कर्मकांड के अनुसार पृथ्वी में गाड़ें।" जब कपड़ा हटाया गया मृतक शरीर फूलों के आकार में बना हुआ दिखलाई दिया। आधा फूल हिंदुओं ने लिया और काशी में ले जाकर जलाया। आधा मुसलमानों ने लिया और मगहर में रौजा बनाया"। शिवव्रतजी के इस मत को सामान्य से कुछ अधिक समझना चाहिए। आप कहते हैं[2]—"कबीरबीजक की टीका लिखते समय कई बार गूढ़ और कठिन शब्दों का अर्थ स्वयं कबीरजी ने मुझे समझाया था।" पता नहीं, कबीर ने उनको यह 'चरित्र' भी समझाया था या नहीं। प्रतीत तो यह होता है कि शिवव्रतजी ने समझाने की चेष्टा में एक नासमझी की है। आपने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि मगहर कहाँ है और गंगा कहाँ। आपने मग्गह और मगहर (प्रांत तथा ग्राम) को एक कर दिया है। इस

निधन

---

(१) भक्तमाल (शिव०), पृ० २३२-३३।
(२) " " पृ० २३३ (नोट)।

भ्रम का निराकरण हम पहले ही कर चुके हैं। यहाँ पर हमको केवल इतना ही विचारना है कि कबीर के शव के संबंध में जो कुछ कहा जाता है वह कहाँ तक मान्य है।

श्री हरिऔधजी ने 'फूल' का रहस्योद्घाटन इस प्रकार किया है– "कबीर कसौटी"[1] (पृ० ५४) में लिखित मरने के समय के इस

वाक्य से कि "कमल के फूल और दो चद्दर

शव

सँगवाकर लेट गए" इस फूल का रहस्य समझ में आता है। कबीर साहब ने जब शव के लिये तलवार चल जाने की संभावना देखी, तो उन्हीं ने अपने बुद्धिमान् शिष्यों द्वारा दूर-दर्शिता से ऐसी सुव्यवस्था की कि शरीरांत होने पर शव किसी को न मिला। उसके स्थान पर लोगों ने फूलों का ढेर पाया, जिससे सब झगड़ा अपने आप मिट गया। उपाध्यायजी ने इस व्यवस्था का न तो कुछ परिचय ही दिया और न इसी बात का ध्यान रखा कि लड़नेवाले शिष्य ही थे, अन्य नहीं। 'ग्रंथावली' की प्रस्तावना में कहा गया है[2] "यह कहानी भी विश्वास करने के योग्य नहीं है परंतु इसका मूलभाव अमूल्य है।" हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि कबीर की इस आत्मा ने इस प्रकार की आकाशवाणी कर, लड़ो मत, कफन उठाकर देखो' कौन सा अमूल्य भाव भर दिया। कुछ भी हो, हमको इस कहानी की कल्पना को खरी कसौटी पर कसना चाहिए। कबीर के संबंध में यह कहा जा चुका है कि वे मुसलमान थे; इसलिये उनको दफनाना ठीक ही था। कबीरपंथी हिंदू उनको गृहस्थ नहीं मानते, अतः उनका अग्नि-संस्कार अनिवार्य नहीं था, वे समाधि के भागी थे। आज भी हिंदू कबीर-पंथी साधु समाधिस्थ होते हैं, उनकी समाधि दी जाती है, उनका

(१) कबीर-वचनावली पृ० ३०।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० २२।

अग्नि-संस्कार नहीं किया जाता। फिर यह झगड़ा क्यों उठा? उनके फूल जलाए क्यों गए? क्या कबीर की आत्मा समाधि की व्यवस्था दे एकता नहीं स्थापित कर सकती थी? उनके जीवन का तो लक्ष्य ही यही था। कबीर जीते जी सदा यही कहते रहे[1] "कबीर सूता क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख। जाका बासा गोर मैं, सो क्यूँ सोवै सुक्ख ॥" अथवा "कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि अवास। कालिह परयूं भ्वैं लेटणाँ, ऊपरि जामैं घास।" फिर भी न जाने क्यों, लोग कबीर को जलाने पर तुले हैं और उनकी आत्मा से इसका संकेत भी करा देते हैं।

धर्मदास कबीर के प्रमुख शिष्य थे। उनके तथा कबीर के संबंध के विषय में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। कबीर के शव के संबंध में तथा इस अंतिम संग्राम के विषय में आपका कथन[2] है—"मगहर गाँव गोरख-पुर, जग में आइया। हिंदू तुरुक प्रमोधि के, पंथ चलाइया॥ बिजुली खाँव पठान सो कबुर खोदाइया। बिजुलीसिंह बघेल साजि दल आइया॥ रानी पतिया पठाय, जीव जनि मारिया। मुरदा न होय कबीर बहुरि पछिताइया॥ खोदि के देखी कबुर, गुरु देह न पाइया। पान फूल लै हाथ, सेन फिर आइया॥" एवं[3] "मगहर में एक लीला कीन्हीं, हिंदू तुरुक व्रतधारी। कबर खोदाइ के परचा दीन्ही, मिटि गयो झगरा भारी॥" प्रस्तुत अवतरण में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि बिजुलीसिंह ने कब्र खुदवाकर देखा और उसमें उसको कबीर का शव न मिलकर केवल पान-फूल मिले। हमारी धारणा है कि इस कथानक में इतिहास कुछ रचित है। प्रतीत यह होता

समाधि

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ५।
(२) धर्मदास की शब्दावली पृ० ४।
(३) " " " पृ० ४।

है कि जब कबीर का अंत-काल निकट आ गया, अथवा जब उनका स्वर्गवास हो गया उसी समय बिजुलीखाँ पठान ने यह उचित समझा कि कबीर को कब्र दी जाय। इतिहास से पता चलता है कि उस समय मगहर में मुसलमान या तो थे ही नहीं या अशक्त थे। ऐसी परिस्थिति में यह परम आवश्यक था कि कोई चाल चली जाय। हो सकता है कि उक्त प्रेरणा से प्रेरित होकर बिजुलीखाँ ने कबीर की समाधि दो स्थलों पर दी हो; और बिजुलीसिंह या वीरसिंह नामक किसी हिंदू राजा के आग्रह पर दूसरी कब्र खुदवाकर उसको भ्रम में डाल दिया हो। बस्ती-गजेटियर[1] के लेखक ने लिखा है कि यद्यपि मुसलमान कबीर को दफनाने में सफल हुए तथापि कबीर उस समय मथुरा में सशरीर थे और उन्होंने वहीं से कहला भेजा कि कब्र खोद-कर देखो उसमें क्या रखा है जिसके लिये लड़ रहे हो। इससे भी इसी तथ्य का पता चलता है कि कबीर दफनाए गए थे, जलाए नहीं। हम कह ही चुके हैं कि कबीर स्वयं भी यही चाहते थे। जब हम रानी के अनुरोध 'मुरदा न होय कबार' पर ध्यान देते हैं तब हमारी उक्त धारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि राजा साहब को धोखा हुआ और बिजुलीखाँ अपने प्रयत्न में सफल रहा। मगहर में अब भी कबीर का रौजा मौजूद है। हिंदुओं ने अलग एक मंदिर भी बनवा लिया है, जिसका संबंध काशी के कबीरचौरा[2] से है।

---

(१) डिस्ट्रिक्ट गजेटियर बस्ती (१९०७), पृ० २२६-२७।

(२) गरीबदास का कथन है—"मगहर में तो कबर बनाई बिजलीखान पठाना। कासी चौरा उड़ि गया भौंरा दूनों दीन दिवाना॥" हम पहले देख चुके हैं कि कुछ लोग मगहर के मंदिर को तथा अन्य कबीरचौरा को कबीर का समाधि-स्थान मानते हैं। गरीबदास जैसे संतों का कथन है कि भौंरे से संदेश पाकर धर्मदास ने कबीर-चौरा बनवाया। इतिहास की दृष्टि से ठीक यह समझ पड़ता है कि कबीर का रौजा ही प्राचीन है। उसी में कबीर

'की'[1] महोदय का कथन है कि मगहर के मुसलमान इस बात को नहीं मानते कि कबीर के शव के स्थान पर फूल मिले। उनका दावा है कि कबीर मुसलमानी नियमानुकूल दफ़नाए गए। जब राजा वीरसिंह शिकार से लौटे तब उनकी इच्छा हुई कि कबीर का अग्नि-संस्कार किया जाय। पर मुसलमान उनको रोकने में सफल हुए। इससे धर्मदास का कथन पुष्ट एवं स्पष्ट होता है; और इसमें संदेह नहीं रह जाता कि कबीरदास दफ़नाए गए थे।

कबीर की निधन-तिथि के विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। कबीरपंथियों[2] का कथन है "संवत् पंद्रह सौ औ पाँच सौ, मगहर कियो गमन। अगहन सुदी एकादशी, मिले पवन में पवन।।" इसका दूसरा पाठ यह

निधन-तिथि

है 'संवत् पंद्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गवन। माघ सुदी एकादशो, रलो पवन में पवन।।" प्रस्तुत संवतों में संवत् १५७५ अधिक लोगों को मान्य है। ग्रंथावली की प्रस्तावना[3] में इसके पक्ष में चार प्रमाण दिए गए हैं—प्रथम सिकंदर लोदी, द्वितीय नानक साहब, तृतीय हस्तलिखित पुस्तक और चतुर्थ युगलानंदजी का दिया हुआ कबीर का चित्र। इसमें संदेह नहीं कि इन प्रमाणों के आधार पर संवत् १५०५ साधु नहीं ठहरता। पर इसी के बल पर संवत् १५७५ को अटल मान लेना ठीक नहीं कहा जा सकता। हरिऔध-

---

दफ़नाए गए थे। कबीरचौरा को उनका जन्मस्थान कहा जा सकता है। इस मठ से धर्मदास का संबंध नहीं है। अस्तु, हम मुसलमान कबीर-पंथियों के इस कथन को कि कबीर दफ़नाए गए थे साधु समझते हैं; किंतु यह नहीं मानते कि वीरसिंह की असफलता का कारण उनकी शक्तिहीनता थी। हमारी समझ में कबीर के शव के संबंध में उन्हें धोखा दिया गया।

(१) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० ९६।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १९।

(३) " " पृ० २०-२१।

जी[1] ने 'भक्ति-सुधा-विंदु-स्वाद' नामक ग्रंथ के आधार पर संवत् १५५२ को कबीर का निधन-काल माना है और नवरत्नकार भी इसी मत से सहमत हैं। समझ में नहीं आता कि ग्रंथावली में इस मत की उपेक्षा कैसे हो गई। ग्रंथावली में जितने प्रमाण सं० १५७५ को साधु सिद्ध करने में दिए गए हैं, उतने क्या वे ही संवत् १५५२ के पक्ष में भी रखे जा सकते हैं ?

सिकंदर

सिकंदर लोदी का शासन-काल उक्त ग्रंथावली में ठीक नहीं दिया गया है। ग्रंथावली का 'काल' इब्राहीम लोदी का समय है जो सन् १५१७ से १५२६ तक शासन करता रहा। सिकंदर लोदी का शासन-काल वस्तुतः सन् १४८९ से सन् १५१७ तक रहा। "यदि[2] यह बात प्रसिद्ध है कि कबीरदास सिकंदर लोदी के समय में हुए थे और उसके कोप के कारण ही उन्हें काशी छोड़कर मगहर जाना पड़ा था" तो यह घटना सन् १५१७ या संवत् १५७४ के पहले ही घट सकती है; क्योंकि सिकंदर का निधन उक्त संवत् में हो गया था। यदि यह ठीक है तो कबीर का स्वर्गवास संवत् १५७५ साधु नहीं ठहर सकता। 'की'[3] महोदय का कथन है कि सिकंदर सन् १४९५ (सं० १५५२) में जौनपुर आया था। हो सकता है कि इसी सिलसिले में उसने कबीर से बातचीत भी की हो। जायसी ने अखरावट में एक जुलाहे का बहुत ही विशद वर्णन किया है। हमारी समझ में उस जुलाहे से जायसी का तात्पर्य कबीर से है। जायसी[4] ने लिखा है "रावर आगे का कहै, जो सँवरै मन लाइ।

(१) कबीर-वचनावली पृ० २९।
(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०।
(३) कबीर एंड हिज फालोवर्स पृ० २८।
(४) जायसी-ग्रंथावली पृ० ३०९

तेहि राजा नित सँवरै, पूछै धरम बुलाय ॥ तेहि मुख लावा लूक, समुझाए समुझै नहीं। परै खरी तेहि चूक, मुहमद जेइ जाना नहीं ॥" संभव है, और अधिक संभव है, कि जायसी ने इस स्थल पर इसी ओर संकेत किया हो। यह भी स्मरण रहे कि कबीर मगहर में अधिक दिन नहीं रहे। प्रवाद तो यहाँ तक प्रचलित है कि कबीर मरने के लिये ही वहाँ गए थे, और जाने के साथ ही मर भी गए। यदि यह ठीक है तो कबीर की निधन-तिथि सं० १५५२ में ही ठीक हो सकती है, १५०५ या १५७५ में नहीं।

नानक

गुरु नानकदेव का जन्म संवत् १५२६ में होना निश्चित है। कहा गया है[1] कि "जब नानक २७ वर्ष के थे तब कबीरदासजी से उनकी भेंट हुई थी।" यदि इस प्रवाद को ठीक मान लें तो यह भेंट संवत् १५५६ में न होकर संवत् १५५३ (१५२६ + २७) में संभव है। एक प्रकार से यह संवत् १५५२ भी ठीक हो सकता है; क्योंकि इसी संवत् में वस्तुतः नानक की अवस्था २७ वर्ष की रही होगी। नानकदेव पर कबीर का इतना प्रभाव पड़ा है कि यह घटना सत्य प्रतीत होती है। नानकदेव कबीर को 'सतगुर' समझते थे। यदि कबीर संवत् १५७५ तक जीवित रहते तो नानक और न जाने कितनी बार उनसे मिलते। नानक जैसे जिज्ञासु व्यक्ति का कबीर से एक ही बार मिलना यही सिद्ध करता है कि उनको फिर ऐसा अवसर मिल न सका। संभवतः नानक की कबीर से यही पहली और अंतिम भेंट थी, जो उनकी यातना के समय हुई थी। यदि यह अनुमान कुछ भी ठीक है तो कबीर की निधन-तिथि, इस दृष्टि से भी संवत् १५५२ ठीक ठहरती है, १५७५ नहीं।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली, पृ० २०

तीसरा प्रमाण हस्त-लिखित प्रति का है। यह प्रति संवत् १५६१ की लिखी है। इसके विषय में कहा गया है[1] "जिस ढंग से कबीरदासजी की वाणी का संग्रह इस प्रति में किया गया है, उसे देखकर यह मानना पड़ेगा कि यह पहला संकलन नहीं था; वरन् अन्य संकलनों के आधार पर पीछे से किया गया था, अथवा कोई आश्चर्य नहीं कि धर्मदास के संग्रह के ही आधार पर इसका संकलन किया गया हो।"

हस्तलिखित प्रति

कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि यह प्रथम संकलन नहीं है। प्रतिलिपिकार[2] स्वयं स्वीकार करता है कि उसने जैसा पुस्तक[3] में देखा वैसा ही लिख दिया। यदि उसमें कुछ अशुद्ध है तो इसके लिये उसको दोष नहीं देना चाहिए। स्मरण रहे कि उक्त पुस्तक को मलूकदास ने बनारस में खेमचंद्र के लिये लिखा है। यदि कबीरदास उस समय जीवित होते तो उनसे उस पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध करा ली गई होती। जान पड़ता है कि कबीर के निधन के उपरांत खेमचंद्र को उनकी वाणियों की चिंता हुई और उन्होंने किसी अन्य प्रति से अपने लिये एक प्रतिलिपि करा ली। यह प्रति किस समय की गई थी यह नहीं कहा जा सकता। इसकी आवश्यकता भी इस समय नहीं है। निदान, इस दृष्टि से भी कबीर का स्वर्गवास संवत् १५५२ में ही संगत जान पड़ता है, १५०५ या १५७५ में नहीं।

ग्रंथावली का चौथा प्रमाण कबीर के चित्रों का है। इसमें संदेह नहीं कि कबीर के चित्रों का बड़ा महत्त्व है। उनके विषय

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २०-२१।

(२) " " अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि।

(३) याद्रसि पुस्तकं द्रष्ट्वा ताद्रसं लिखतं मया यदि शुद्धंतो वा ममदोशो न दियतां (संवत् १५६१ की लिखी प्रति के अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि)।

में कहा गया है[1] "मिलान करने से दोनों चित्र एक ही व्यक्ति के नहीं मालूम पड़ते, दोनों की आवृत्तियों में बड़ा अंतर है। परंतु श्रीयुत युगलानंदजी वृद्धावस्थावाले चित्र के लिये अत्यंत प्रामाणिकता का दावा करते हैं,

चित्र

जो ४९ वर्ष से अधिक अवस्थावाले व्यक्ति का ही हो सकता है।" प्रसंगवश इस चित्र के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि यह अवश्य ही अन्य चित्रों से अधिक प्रामाणिक है। कबीर के दो चित्र जो उक्त ग्रंथावली और 'की' महोदय की पुस्तक 'कबीर एंड हिज फालोवर्स' में दिए गए हैं, परस्पर बहुत कुछ मिलते हैं। ग्रंथावली के चित्र का समय अज्ञात है, किंतु 'की' के चित्र का समय १८ वीं शताब्दी है। इसमें संदेह नहीं कि ये चित्र काल्पनिक हैं। कबीर के गले और हाथ में कंठी एवं माला के अतिरिक्त कबीर की 'झीनी झीनी' चदरिया भी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चित्र का आधार प्रचलित प्रभाव है, इतिहास या सत्य नहीं। स्वामी युगलानंदजी का दिया हुआ चित्र शानदार सज्जादानशीन सूफी का है, हिंदू भक्त का नहीं। पर इसी कारण-वश हम उसको काल्पनिक नहीं कह सकते। स्वामीजी उस चित्र को कबीर के नाते रखते आए हैं। किसी हिंदू भक्त की भावना उस ढंग के चित्र की उद्भावना नहीं कर सकती। कबीरपंथी महंत अब भी विशेष अवसर पर उस ढंग की टोपी का प्रयोग करते हैं। यह चित्र इस बात का प्रमाण है कि कबीर वस्तुतः सूफी थे, संभवतः वैष्णव होने पर भी विशेष अवसर पर कबीर इसी पोशाक में रहते थे। यह पोशाक उनकी रक्षा में कवच का काम करती थी, नहीं तो कट्टर काजी उनको जीवित नहीं छोड़ते और सिकंदर के कोप ने उनको कभी का चर्महीन कर दिया

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० २१।

होता। हाँ, तो यह चित्र अवश्य ही इस बात का प्रमाण है कि कबीरदास ४९ वर्ष से अधिक जीवित रहे। पर इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे ११९ वर्ष तक जीते रहे। इस चित्र के आधार पर हम संवत् १५५२ को अधिक संगत समझते हैं; क्योंकि उस समय उनकी आयु लगभग ९६ वर्ष की रही होगी, जो प्रकृत चित्र के अधिक उपयुक्त है।

कबीर-ग्रंथावली में कहीं इस बात का निर्देश नहीं है कि किस अवस्था में कबीर मगहर गए अथवा वहाँ सत्यलोकवासी हुए।

अवस्था

फिर भी उसमें कुछ स्थल ऐसे हैं जिनसे इस विषय पर कुछ प्रकारांतर से प्रकाश पड़ता है। कबीर का कथन[1] है—"दिन दिन तन छीजै जरा जनावै। केस गहैं काल विरदंग बजावै॥ कहै कबीर करुणामय आगैं। तुम्हारी क्रिपा बिना यह विपति न भागै॥" कबीर की जरा का आगमन साठ वर्ष के उपरांत था[2] "बारह बरस बालापन खोयौ, बीस बरस कछू तप न कीयौ। तीस बरस कै राम न सुमिरयौ, फिरि पछितानौं विरध भयौ॥" अन्यत्र[3] कहते हैं—"थाके नैंन बैन भी थाके, थाकी सुंदर काया। जामण मरण ए द्वै थाके, एक न थाकी माया॥ चेति चेति मेरे मन चंचल, जब लग घट में सासा। भगति जाव परभाव न जइयौ, हरि के चरन निवासा।" कबीर ने एक स्थल पर और कहा है[4] "रैनि गई मति दिन भी जाइ। भवर गए नग बैठे आइ॥" आदि अनेक स्थलों पर इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर की अवस्था लगभग १०० वर्ष की थी,

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १६४।
(२) " " पृ० १७०।
(३) " " पृ० १६८।
(४) " " पृ० २९७।

इससे अधिक नहीं। कबीर में संयम था, अतः वे दीर्घजीवी हो सकते थे; परंतु ऊपर के पद्यों में बुढ़ापे का वह चित्रण नहीं मिलता जो जायसी की पदमावत में मिलता है। अस्तु, कबीर की निधन-तिथि इस दृष्टि से भी संवत् १५५२ ही साधु है, जो न अत्यंत अधिक है न अत्यंत कम। एक बात और है। जायसी[1] ने कबीर के विषय में लिखा है—"ना नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सो मैं हारा। प्रेम-तंतु नित ताना तनई। जप तप साधि सैकरा भरई॥" यदि इस 'सैकरा भरई' में इधर भी कुछ संकेत हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। उस समय कबीर यातना में पड़े थे और लगभग १०० वर्ष के थे।

त्रिपाठीजी का मत

कबीर के समय के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया है उसके विषय में त्रिपाठीजी का कथन[2] है—"इस भावनात्मक अनुमान के लिये कोई पुष्ट प्रमाण भी नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी मानना कुछ सरल नहीं कि प्रबल धार्मिक दमन के समय कबीरजी ने अपना क्रांतिकारी प्रचार किया हो और फिर भी इतने वर्ष तक जीते-जागते रहे हों।...मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि प्रबल प्रचारक और प्रबल प्रचार के लिये चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही सबसे उपयुक्त समय था।...सारांश यह कि कबीरजी का पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में और सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में होना हमारे मत से ग्राह्य नहीं हो सकता।...कबीरजी का जन्म चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल में हुआ होगा।" इसमें संदेह नहीं कि त्रिपाठीजी का उक्त कथन उनकी उत्कट जिज्ञासा का परिणाम है। कबीर का जो स्वरूप प्रचलित है उसका निर्वाह वस्तुतः उस समय नहीं हो सकता था जिस समय प्रबल धार्मिक दमन का साम्राज्य था। यदि हमारी धारणा त्रिपाठीजी से कबीर के जीवन

(१) जायसी-ग्रंथावली पृ० ३६५।
(२) हिंदुस्तानी १९३२, पृ० २०४-१२।

के विषय में कुछ भिन्न न होती तो हम भी उन्हीं का साथ देते। पर जब हम जानते हैं कि कबीर एक मुसलमान जुलाहा थे, सूफी मत का प्रचार करते थे, सूफियों के सत्संग में रहते थे, तीर्थ व्रत और मूर्ति का खंडन करते थे, मुहम्मद साहब के विषय में मौन रहते थे, तब हमारी समझ में यह बात भली भाँति आ जाती है कि वे इतने वर्ष तक कैसे जीवित रहे। यदि कबीर काफिर होते तो समय उनके लिये कठिन था; किंतु वे तो अधिक से अधिक जिंद थे। स्वयं कबीर ने एक स्थल पर कहा भी है[1] "कहि कबीर हमारा गोविंद। चौथे पद महि जन की जिंद।" यह जिंद उस समय भी प्रयुक्त होता है जब कबीर का 'तीन बार पतियारा' हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जब कबीर अपने मत का प्रबल प्रचार स्वतंत्र रूप से करने लगे, काजी, मुल्ला, शेख आदि दीन के उन्नायकों की उपेक्षा कर वैष्णव-मत के प्रचार में सहायक होने लगे, यहाँ तक कि इसलाम पर भी कुछ खरी दृष्टि रखने लगे, तब उनको 'धार्मिक दमन' का सामना करना पड़ा। यदि कबीर[2] "हिंदू तुरक का साहिब एक, कह करै मुल्ला कह करै शेख" न कहते,[3] "अर्द्ध सरीरी नारि न छोड़े ताते हिंदू ही रहिए" का आदेश न देते और वेद-पुराण-पूजा-पाठ, जप-तप, आचार-विचार, एवं ब्राह्मणों की धज्जियाँ उड़ाते रहते तो कबीर के मार्ग में किसी प्रकार की अड़चन न थी। पर उस दीन के सच्चे सपूत से यह बात नहीं निभ सकी, उसने वीरता के साथ सत्य का उद्घाटन किया। फलतः उसको धार्मिक दमन का सामना करना पड़ा। अस्तु, हमारी दृष्टि में कबीर का समय सं० १४५६ से १५५२ तक ही साधु है।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३१४।
(२) " " पृ० ३१४।
(३) " " पृ० ३३१।

कबीर को इस बात का दृढ़ विश्वास था कि परमात्मा जीव-मात्र के हृदय में निवास करते हैं। उनका कथन है "जो दर्शन देखा चहिए, तो दर्पण मांजत रहिए।" यह

साक्षात्कार

कथन कबीर की कल्पना नहीं, अनुभूति है। कबीर को परमात्मा का साक्षात्कार हो गया था[1] "प्रगटी जोति कपाट खोलि दिए, दगधे जंम दुख द्वारा। प्रगटे विश्वनाथ जगजीवन, मैं पायो करत विचारा॥" यह साक्षात्कार उनको इस प्रकार हुआ था[2]। "उनमन मनुवा सुन्नि समाना, दुविधा दुर्मति भागी। कहु कबीर अनुभै इकु देख्या, दुविधा दुर्मति भागी॥" उसके विषय में[3]—"कथ्यौ न जाइ नियरै अरु दूरी। सकल अतीत रह्या घट पूरी॥ जहाँ देखौं तहाँ राम समांनां। तुम्ह बिन ठौरे और नहिं आना॥"—कबीर कुछ कह नहीं सकते। उनका विश्वास था[4] "हम सब माहिं सकल हम माहीं। हम थैं और दूसरा नाहीं॥ तीनि लोक मैं हमारा पसारा। आवागमन सब खेल हमारा॥ खट दरसन कहियत हम भेखा। हमहीं अतीत रूप नहिं रेखा॥ हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपनां आप लखावा।" परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर परमात्मा के प्रतिनिधि अथवा अवतार थे। समाधि की पराकाष्ठा में ज्ञानी प्रायः इस प्रकार का उद्घोष किया करते हैं। फिर भी कबीर अपने को एक सिद्ध विशेष समझते थे। आपका कथन है[5] "एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा। एक न भूला दास कबीरा, जाकै राम अधारा।" कबीर के न भूलने का

---

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० १७६।
(२) ,, ,, पृ० २६१।
(३) ,, ,, पृ० २३५।
(४) ,, ,, पृ० २००।
(५), , ,, पृ० १५५।

कारण उनका पुरुषार्थ नहीं भगवद्भक्ति है, राम की कृपा है[1] "मालिन भूली जग भुलाना, हम भुलाने नाहिं। कहु कबीर हम राम राखे कृपा करि हरि राई॥" इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर के वचनों में जहाँ कहीं गर्वोक्तियाँ हैं वहीं पर राम की महिमा भी अवश्य है। कबीर अपने को एक सिद्ध पुरुष समझते थे अवश्य, किंतु उनकी इस सिद्धता की एक मर्यादा थी। कबीर-पंथियों ने इस मर्यादा का ध्यान नहीं रखा। कबीर का तो कहना था "कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर। तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर॥"; पर भक्तों की दृष्टि में तो मन और शरीर का प्रश्न ही नहीं रह गया। इनके लिये तो कबीर का 'परवाना' और 'पीर-परस्ती' ही मोक्षप्रद हैं। फिर कबीर को यदि मनमाने काम के लिये बार बार बुलाएँ, उनसे राम, हरि को जाल और न जाने क्या क्या कहलाएँ तो इसके लिये कबीर को क्या कहा जाय! कबीर अपने को सिद्ध अवश्य मानते थे, किंतु न तो वे 'जुग जुग' आने का दावा करते थे और न सत्यलोक की सनद ही देते थे। 'परवाना' से उनका कुछ भी संबंध न था।

कबीर एक उपदेशक थे। उनको यह आदेश मिला था[2]- "हरि जी यहै विचारिया साषी कहौ कबीर। भौसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर॥...मोहि आग्या दई दयाल दया करि, काहूँ कूं समझाइ। कहै कबीर मैं कहि कहि हारयौ, अब मोहि दोस न लाय॥" कबीर जब किसी को समझाते थे तब वे समझते थे कि वे परमात्मा की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। अंत में जब उन्होंने देखा कि लोग उनकी बातों पर

उपदेश

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ३०५।
(२) क० ग्रं० पृ० ५६, १८६।

ध्यान नहीं देते हैं तब उन्होंने उसी 'दयाल' से प्रार्थना की कि इसमें उनका दोष न गिना जाय, क्योंकि वे तो आज्ञा पालन में लगे हैं। इस उपदेश को कबीर किसी पर लादना नहीं चाहते थे। आपका कथन है[१] "नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर वारि। जो त्रिषावंत होइगा, सो पीवेगा झख मारि।" पर इसी उपेक्षा की दृष्टि से वे उदासीन रहकर भी उपदेश देने में मग्न होते थे और निर्लिप्त रह सकते थे। उनके उपदेश देने, आने-जाने का कुछ प्रभाव पड़ता था[२] "दाध बली ता सब दुखी, सुखी न देखौं काइ। जहाँ कबीरा पग धरै, तहाँ टुक धीरज होइ॥" इसी 'टुक धीरज' में कबीर अपनी उपादेयता समझते थे, यही उनके उपदेश का आधार था। कबीर प्रेम-रस का पौसरा चला रहे थे। पीनेवालों की कमी थी। इसी चिंता में वे घुले जाते थे। उनकी समझ में नहीं आता था कि वे किस प्रकार जनता को उसका आस्वादन कराएँ। आपका रोना है[३] "दास कबीर प्रेमरस पाया, पीवणहार न पाऊँ। विधनां बचन पिछांणत नाहीं, कहु क्या काढ़ि दिखाऊँ॥" कबीर का उपदेश वह नहीं था, जो आजकल के संत-पंथी कहते हैं। कबीर उपदेश देते हैं[४] "भौ बूड़त कछू उपाइ करीजै, ज्यूँ तिरि लंघै तीरा। राम नाम लिखि भेरा बाँधौ, कहै उपदेस कबीरा।" कबीर अवश्य ही उन लोगों को भाग्यवान् समझते थे जो उनके उपदेश को ग्रहण करते थे। जो 'अनमोल हीरा' कबीर को मिला था उसके विषय में वे स्वयं कहते हैं[५] "गुरु

(१) कबीर-ग्रंथावली पृ० ६१।
(२) " " पृ० ८०।
(३) " " पृ० १४४।
(४) " " पृ० १७३।
(५) " " पृ० ३२५।

दीनी बस्तु कबीर कौ लेवहु बस्तु सम्हारि। कबीर दई संसार कौ लीनी जिसु मस्तक भाग।" अंत में कबीर अपना जीवन निर्वाह किस प्रकार कर रहे थे, राम-रस उनको कितना मीठा लग रहा था, उसमें वे कितने निमग्न थे आदि प्रश्नों का यही समाधान है[1] "दास कबीर कहै समझावै, हरि की कथा जीवै रे। राम को नांव अधिक रस मीठौ बारंबार पीवै रे।" ये राम कौन थे[2] ? रज गुन ब्रह्मा, तम गुन संकर, सत गुन हरि है सोई। कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई।" यही कबीर के उपास्य राम का स्वरूप है।

कबीर के जीवन के संबंध में अब तक जो कुछ निवेदन किया गया है वह कहाँ तक साधु है, यह हम नहीं कह सकते। हमको तो केवल इतना ही कहने का अधिकार है कि इस छान-बीन में हमने बुद्धि को प्रधानता दी है, कल्पना या भावना को नहीं। हम यह भली भाँति जानते हैं कि जो कुछ हमने लिखा है उससे बहुतों के मर्म को आघात और दिल को चोट लगेगी। पर इस उत्कट जिज्ञासा और घोर विश्लेषण के युग में उस बुद्धि एवं विवेक से काम न लेना, जिसको स्वयं कबीरदास भी अपना गुरु समझते थे, हम उचित नहीं मान सकते। जो लोग कबीर के भक्त हैं, उनके 'परवाने' को पासपोर्ट समझते हैं उनके लिये कबीर परम पुरुष हो सकते हैं। संभवतः उनकी निष्ठा फलवती भी हो सकती है; क्योंकि सब लोग भाव ही को प्रधान मानते हैं। पर जो लोग उक्त मत के कायल नहीं हैं उनके लिये कबीर की जीवनी अनिवार्य है। उनको यह भली भाँति हृदयंगम करना है कि कबीर किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुए, किस प्रकार

दो शब्द

---

(१) कबीर ग्रंथावली पृ० १६३।
(२) " " पृ० १०६।

पले, उन्होंने क्या क्या काम किए और अंत में वे संसार को क्या दे गए। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने, अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार, कबीर के जीवन-वृत्त पर कुछ प्रकाश डालने की अनधिकार-चेष्टा की है। इस चेष्टा का परिणाम क्या होगा, इसका न तो हमें लोभ ही है और न ऐसा करने की कर्मवीरों की आज्ञा ही। हमें तो अपना काम करना है। इस चेष्टा में कमी इस बात की अवश्य है कि इसको इतिहास तथा अन्य साधनों से परितः पुष्ट नहीं किया गया है। आशा है, भविष्य में अधिक सामग्री उपलब्ध होने और पर्याप्त अवकाश मिलने पर इस विषय की समुचित समीक्षा हो सकेगी। इस समय यहाँ पर केवल इतना और कहना है कि यदि हम कबीर के जीवन-वृत्त को इसी स्थल पर समाप्त कर देते हैं तो उसमें इस बात की कमी अवश्य रह जायगी कि कबीर का आध्यात्मिक जीवन किस प्रकार पल्लवित होता रहा। अस्तु, कुछ इसका भी आभास मिल जाना चाहिए।

कबीर के विषय में ऊपर जो कुछ विवेचन किया गया है उससे यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कबीर स्वतंत्र दल के सूफी थे। सूफी शब्द के अर्थ को कुछ अधिक संकुचित कर हम आसानी से कह सकते हैं कि कबीर प्रथम शिष्य, फिर सूफी, फिर अभ्यासी, फिर भक्त हुए। कबीर के शिष्य रूप से हमारा कुछ प्रयोजन नहीं। उसके विषय में हमें इतना ही निवेदन करना है कि रामानंद की शिष्यता में उन्हें तृप्ति नहीं मिली। स्वामी रामानंद के निधन के उपरांत कबीर इधर-उधर भटकते रहकर ज्ञानार्जन करते रहे। सूफियों के सत्संग से पर्याप्त लाभ उठाने पर भी उनकी बात उनकी दृष्टि में खरी नहीं उतरी। जिस कुरान और इसलाम के नाम पर रहीम और रब के बंदों का खून किया जाता था, जिस खुदा की

अध्यात्म

ओट में मंदिरों को भ्रष्ट कर मस्जिदों का निर्माण होता था, उसका किसी रूप में सत्कार करना कबीर को खलता था। भारत में रहते हुए कबीर उस समय यह नहीं समझ सकते थे कि उनकी भाषा अरबी, फारसी या तुर्की है। सूफियों की केवल एक बात उनके दिल में घर कर सकी। वे प्रेम की पीर से पागल हो गए। उन पर इस पागलपन में 'मजनूँ' बनने का जुनून सवार न हो सका। मुसलमानों के आचार-विचार से वे सहमत न थे। उनको ज्ञान की पिपासा थी। पंडितों से उनको किसी प्रकार की सहायता नहीं मिल सकती थी। उन्होंने उनके शास्त्रार्थ से लाभ अवश्य उठाया। खंडन करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ी। उस समय तंत्र और योग के प्रचार की कमी नहीं थी। गोरखनाथ अपना योग जगा चुके थे। उन्होंने हिंदू और मुसलमानों की एकता पर भी ध्यान दिया था। गोरखनाथ के अनुयायियों से कबीर मिले और उनसे बहुत कुछ सीखा। सूफियों की शराब से उनका महारस कम चोखा नहीं था। कबीर उसका आस्वादन करने लगे। उनका कथन है[1] "प्रेम-पियालौ पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।" स्पष्ट ही है कि यह 'प्रेम-पियाला' सूफियों का प्रसाद है और 'नागिनी' योगियों की कृपा का परिणाम। इस 'प्रेम-पियाला' का आस्वादन कर कबीर राम को भुला न सके। उनको राम मिल गया[2] "कहै कबीर स्वाद जब पाया, बंक नालि रस खाया। अमृत झरै ब्रह्म परकासै, तब ही मिलै राम राया॥" अब कबीर शून्य मंडल में ध्यान धरने लगे और जीवन्मुक्त होने का दम भरने लगे[3] "कहै कबीर गुर परम गियांन।

---

(१) कबीर-ग्रंथावली, पृ० १११।
(२) " " पृ० १२६।
(३) " " पृ० १६८।

सुंनि मंडल मैं धरौं धियान ॥ घंड परै जीव जैहै जहां । जीवत ही ले राखौ तहां[१] ॥"

कबीर इस परिस्थिति में अधिक दिन तक नहीं रह सके। उनको उनके राम का वह स्वरूप स्पष्ट गोचर होने लगा जो अंतर्यामी और घटघटव्यापी ही नहीं, सहायक और तारक भी है, जो गज की पुकार सुनता, पतितों को पूत बनाता और प्रह्लाद की रक्षा के लिये पत्थर फोड़कर निकल सकता है। अब तो "[२]भगति नारदीं मगन सरीरा। इहि विधि भव तरि कहै कबीरा ॥" अब तो कबीर की दृष्टि में[३] "कथणीं बदणीं सब जंजाल। भाव भगति अरु राम निराल ॥" निदान, कबीर निखरकर 'केवल वैष्णव' बन गए; और समाधि की अवस्था में "हमहीं आप कबीर कहावा। हमहीं अपनां आप लखावा' ॥' का उद्घोष करने लगे। यही कबीर के अध्यात्म का चरम विकास है। और, इसी को कबीर-पंथी अक्षरशः सत्य मानकर कबीर की भक्ति कर रहे हैं। उनके विषय में फिर कभी निवेदन किया जायगा। यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

(१) राधा-स्वामी मत के अनुयायियों को कबीर का यही रूप ग्राह्य है। उनमें जो कुछ नवीनता है उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता।

(२) कबीर-ग्रंथावली पृ० १८३।

(३) " " पृ० १५६।

आधे मूल्य में

द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ

इधर कई महीनों से सभा में बहुत से लोगों के ऐसे पत्र आ रहे थे जिनमें द्विवेदी अभिनंदन-ग्रंथ का मूल्य कम करने के लिये आग्रह किया जाता था। सभा ने यह ग्रंथ प्रायः ६०००) व्यय करके केवल आचार्य द्विवेदीजी का सम्मान करने के लिये प्रकाशित किया था; अतः सभा ने अनेक मान्य हिंदी-प्रेमियों के सुभीते का ध्यान रखते हुए और इस ग्रंथ का यथेष्ट प्रचार करने के उद्देश्य से केवल दो मास के लिये (१ मार्च १९३४ से लेकर ३० अप्रैल १९३४ तक) इस ग्रंथ का मूल्य घटाकर आधा अर्थात् ७।।) कर दिया है। पर यह रिआयत केवल उन्हीं लोगों के साथ की जायगी जो सभा में ग्रंथ का मूल्य ७।।) और पेकिंग तथा रजिस्टरी व्यय ।।), कुल ८) मनीआर्डर से पेशगी भेज देंगे। ऐसे सज्जनों के पास यह ग्रंथ बैरंग रेलवे पार्सल से भेज दिया जायगा और रेल-भाड़ा उन्हें देना पड़ेगा। जो सज्जन डाक से यह ग्रंथ मँगवाना चाहते हों उन्हें ७।।) मूल्य के अतिरिक्त १।।।=) डाक व्यय के लिये और भेजना चाहिए।

आशा है, हिंदी-प्रेमी इस सुअवसर से लाभ उठावेंगे और यथा-साध्य शीघ्र इस ग्रंथ-रत्न की एक एक प्रति मँगाकर अपने साहित्य-प्रेम का परिचय देंगे।

पुस्तक-विक्रेताओं को कम से कम पाँच प्रतियाँ एक साथ लेने पर १) प्रति कमीशन दिया जायगा।

प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी